ग्रंथांक : 96

भारत में अपराध, दंड एवं सुधार

लेखक

डा० एस० पी० श्रीवास्तव

समाजकार्य विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय



उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी

लखनऊ

प्रकाशक :
ब्रह्मदत्त दीक्षित
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी,
लखनऊ

शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय,
भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय
ग्रंथ-योजना के अंतर्गत प्रकाशित।

पुनरीक्षक
डा० सुरेन्द्र सिंह
समाज कार्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रथम संस्करण : 1977
1100 प्रतियाँ

मूल्य : 13.00

●

मुद्रक :
श्री माहेश्वरी प्रेस
गोलघर, वाराणसी-221001

प्रस्तावना



शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा-संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को संसद् के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय-स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत-प्रति-शत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय-स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रंथ-निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय-स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिंदी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पांडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रंथ योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अंतर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसके लेखक डा० एस० पी० श्रीवास्तव एवं पुनरीक्षक डा० सुरेन्द्र सिंह हैं, जिन्होंने इस विषय को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने में अत्यधिक श्रम किया है। एतदर्थ इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है, यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी में मानक ग्रंथों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है, इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी में परिवर्तित हो सकेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष,
शासी मंडल,
उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी,
लखनऊ

प्राक्कथन



अपराधशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा एक नवीन अध्ययन का विषय होने के उपरान्त भी विश्व के अनेक देशों में विश्वविद्यालय स्तर पर अध्ययन, अध्यापन एवं शोध कार्य का एक प्रमुख विषय स्वीकार किया जा रहा है। भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में अपराधशास्त्र के क्षेत्र में सन्निहित प्रमुख अध्ययन विषयों को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा समाजकार्य विभागों के स्नातक तथा पूर्व-स्नातक स्तर के पाठ्यक्रमों में विशिष्ट रूप से सम्मिलित किया गया है। कुछ विश्वविद्यालयों में अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र के विशेषीकृत पाठ्यक्रम पूर्व-स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के हेतु उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त अपराध, दण्ड एवं सुधार सम्बन्धी समस्त विषयों को देश के अनेक विधि विभागों तथा संकायों में पोस्ट ग्रैज्युएट डिप्लोमा इन क्रिमिनालोजी के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम का एक विशिष्ट एवं आवश्यक अंग माना गया है।

अपराधशास्त्र की इस लोकप्रियता के बावजूद इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र की कोई प्रामाणिक मौलिक पुस्तक अभी हिन्दी भाषी क्षेत्रों के स्नातक तथा पूर्व-स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए उपलब्ध नहीं है जिसका लाभ उठाकर वे अपने विशेषीकृत अध्ययन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। इस स्थिति के फलस्वरूप वे समस्त विद्यार्थी जो अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र को अपने अध्ययन का एक प्रमुख विषय चुनते हैं, इस बात के लिए बाध्य हो जाते हैं कि वे आंग्ल भाषा की पुस्तकों को ही पढ़कर परीक्षा दें। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकांश विद्यार्थी, जो आंग्ल भाषा में निपुण नहीं हैं, पाश्चात्य पुस्तकों पर ही निर्भर रहने के कारण अपनी परीक्षा में कम अंक पाते हैं। मैंने अपने 13 वर्ष के अध्यापन काल में विद्यार्थियों की इस असुविधा को बड़ी संजीदगी के साथ महसूस किया है।

हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विद्यार्थियों की इस समस्या के निवारण हेतु अपराधशास्त्र का एक शिक्षक होने की हैसियत से प्रस्तुत पुस्तक उन विद्यार्थियों के ज्ञानोपार्जन के लिए लिखी गई है जो अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्र के विषयों को बी० ए० तथा एम० ए० की कक्षाओं में पढ़ते हैं। आशा यह है कि प्रस्तुत पुस्तक केवल उत्तर प्रदेश के छात्रों के लिए ही लाभप्रद नहीं होगी वरन् राजस्थान, मध्यप्रदेश बिहार तथा हरियाणा आदि हिन्दी भाषी प्रान्तों के विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थी भी इससे लाभान्वित हो सकेंगे।

इस पुस्तक के लिखने की प्रेरणा प्रदान करनेवाले व्यक्तियों में, जिनका नाम मैं आभारपूर्वक लेना चाहता हूँ, सबसे पहला नाम डा० मिर्जा रफीउद्दीन अहमद, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजकार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय का है। डा० अहमद ने मुझे इस पुस्तक के लेखन में सदैव प्रोत्साहन प्रदान करने के साथ-साथ विद्वतापूर्ण सुझाव दिये। मैं डा० अहमद का अपार रूप से ऋणी हूँ और यह ऋण ऐसा है जिसे मात्र शब्दों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मेरे प्रिय सहयोगी डा० सुरेन्द्र सिंह तथा श्री कृपाल सिंह ने इस पुस्तक के लेखनकार्य में जिस मित्रता का परिचय दिया है उसके लिए मैं हृदय से उनका आभारी हूँ। इन दोनों मित्रों ने पांडुलिपि को बड़ी सावधानी से पढ़कर त्रुटियों की ओर न केवल संकेत ही किया वरन् उनको दूर करने के लिए मुझे हर सम्भव सहायता प्रदान की। इस सहायता के लिए मैं इन दोनों प्रिय मित्रों का कृतज्ञ हूँ।

मेरे अभिन्न मित्र एवं हितैषी डा० हीरा सिंह, जो भारत सरकार के समाज-कल्याण मन्त्रालय द्वारा स्थापित नैशनल इन्स्टिट्यूट आफ सोशल डिफेन्स, नई दिल्ली के डायरेक्टर हैं, ने इस क्षेत्र के एक प्रमुख ख्याति-प्राप्त विशेषज्ञ की हैसियत से इस पुस्तक के समस्त अध्यायों पर अनेक अमूल्य सुझाव दिये। मैं डा० सिंह का भी उतना ही ऋणी हूँ जितना डा० अहमद का। मेरी पत्नी श्रीमती मिथलेश ने इस पुस्तक के लेखन काल में एक प्रमुख प्रोत्साहक की भूमिका अदा की। मैं उनका आभारी हूँ।

समाजकार्य विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय

एस० पी० श्रीवास्तव

विषय-सूची



अध्याय 1

अपराधशास्त्र

प्रस्तावना

सामाजिक जीवन की किसी भी ऐसी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें उन व्यक्तियों के व्यवहार-नियन्त्रण की विधियों का अभाव हो जो सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, मर्यादाओं तथा वैधानिक नियमों का उल्लंघन करते हों और जिनके असामाजिक तथा अवैधानिक व्यवहार से सामाजिक हितों (जिसमें व्यक्तिगत हित सम्मिलित है) को क्षति पहुँच रही है। यह बात दूसरी है कि हम इस बात का ऐतिहासिक साक्ष्य आज भी नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं (और न शायद कभी कर पायें) कि मानव में असामाजिकता कब और क्यों पनपी, परन्तु यह मानना ही पड़ता है कि प्रत्येक समाज अपने सामूहिक तथा व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए हर युग में एक ऐसी व्यवस्था अवश्य रखता होगा जिसमें उन व्यक्तियों के लिए दण्ड का प्राविधान होगा जो समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार सिद्धान्तों का उल्लंघन करते होंगे। यदि यह मान्यता स्वीकार करने योग्य है तब यह कथन सत्य होगा कि इस प्रकार के व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन अवश्य ही कुछ सामाजिक विचारकों ने किया होगा। अपराधोन्मुख व्यक्तियों की जीवन-शैली, व्यवहार-प्रक्रिया तथा अन्तर्निहित मनोवृत्ति को जानने पहचानने की आदिकालीन परम्परा में ही अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्रीय साहित्य उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में उपलब्ध हुआ है। यह साहित्य इस बात पर प्रकाश नहीं डालता है कि अपराधशास्त्र का जन्म कब हुआ और इसका जनक कौन था। वर्तमान अपराधशास्त्री तथा दण्डशास्त्री इस प्रश्न को जानने में अपनी उत्सुकता नहीं दिखा रहे हैं। इसका कारण यह भी तो हो सकता है कि वह इस प्रश्न को बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न न मानते हों। कारणों की व्याख्या इस सन्दर्भ में तर्कसंगत नहीं होगी अतः इस स्थान पर इतना ही कहकर संतुष्ट हुआ

जा सकता है कि अपराध शास्त्र किसी न किसी दशा में प्रत्येक समाज में प्रत्येक युग में रहा ही होगा।

थार्सटेन सेलिन ने अपराधशास्त्रीय अध्ययनों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हमें अपराधी के सम्बन्ध में एक ऐसे मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता है जिसमें अपराधी व्यवहार को उत्पन्न करने वाली प्रक्रियाओं की व्याख्या हो सके तथा उन सामाजिक प्रतिक्रियाओं के स्वभाव को जाना जा सके जो कानून के निर्माण तथा उनके पालन कराने की व्यवस्था के पीछे छिपी हुई है। इसके साथ ही साथ हमको उन विधियों के बारे में भी जानकारी होनी चाहिए जिनका प्रयोग हम एक वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार अपराधियों के सुधार तथा अपराध की रोक-थाम में करते हैं।[1] इस प्रकार के अपराधशास्त्रीय ज्ञान के अर्जन की आवश्यकता एवं इसका महत्व उन नवीन अन्तर्दृष्टियों को खोजने में निहित है जो अपराध-शास्त्रियों के सम्पूर्ण व्यावसायिक अनुभव तथा उनकी भूमिका को सक्षम आधार प्रदान करते हैं।

अपराधशास्त्र की परिभाषा

अपराधशास्त्र की प्राचीन एवं नवीन पुस्तकों में (जो विशेषज्ञों द्वारा रचित या सम्पादित हैं) अपराधशास्त्र की कोई ऐसी परिभाषा प्राप्त नहीं है जिस पर विद्वानों की सहमतता हो। तथ्य यह है कि अपराधशास्त्र की अधिकांश बहुचर्चित पुस्तकें परिभाषा के प्रश्न पर या तो मौन हैं या बड़े संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार प्रस्तुत करती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ परिभाषाएँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं जो उपर्युक्त वर्णित तथ्य को स्पष्ट करती हैं :—

सदरलैंड एवं क्रेसी

> "अपराधशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो अपराध को एक सामाजिक घटना के रूप में अध्ययन करती है।"[2]

रिचर्ड नाइस

> "अपराधशास्त्र वह विज्ञान है जो अपराध, उसके निवारण तथा दण्ड की विधियों के अध्ययन से सम्बन्धित है।"[3]

---

1. थार्सटेन सेलिन, कल्चर, कानफ्लिक्ट एन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1938), पृ० 3.
2. इडविन एच० सदरलैंड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमनालोजी (फिलाडेलफिया : 1934), पृ० 3.
3. रिचर्ड नाइस (सम्पादित) डिक्शनरी आफ क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1965), पृ० 54.

डोनाल्ड आर० टैफ्ट

"अपराधशास्त्र का शब्द सामान्य एवं विशिष्ट रूप से प्रयोग में लाया जाता है। इसके अन्तर्गत वह सभी विषय वस्तु सम्मिलित है जो अपराध एवं उसके उपचार से सम्बद्ध हैं। जब इस शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाता है तब अपराधशास्त्र के अन्तर्गत चार प्रमुख अन्तर-सम्बन्धित भाग सम्मिलित होते हैं : अपराध की व्याख्या; अपराधी का तादात्म्यीकरण एवं अपराध का पता लगाना; दंड और अपराधियों का सुधार; तथा अपराध का निवारण।"[1]

मेबेल ए० इलिएट

"अपराधशास्त्र को अपराध तथा उसके उपचार की वैज्ञानिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

माईकेल एवं अडलर

"अपराध शास्त्र अपराधियों के कृत्यों, स्वभावों उनके पर्यावरण तथा उनके सुधार की विधियों के बारे में सूचना उपलब्ध कराने वाला एक आधुनिक विषय है।"[3]

थार्सटेन सेलिन

"अपराध के दमन तथा निरोध से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञान को अपराध-शास्त्रीय माना जाता है। अपराधशास्त्र शब्द का प्रयोग इसी वैज्ञानिक ज्ञान की उपलब्धि के हेतु किए गये प्रयत्नों को वर्णित करने के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए"।[4]

डोनाल्ड जे० न्यूमैन

"साधारण शब्दों में अपराधशास्त्र सामाजिक विज्ञान की वह शाखा है

---

1. डोनाल्ड आर० टैफ्ट, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1942), पृ० 9.
2. मेबेल ए० इलिएट, क्राइम इन माडर्न सोसाइटी, (न्यूयार्क : 1952), पृ० 24.
3. जरोमे माइकेल ऐण्ड मार्टीमर अडलर, क्राइम ला एण्ड सोशल साइन्स (न्यूयार्क : 1933), पृ० 46.
4. थार्सटेन सेलिन, कल्चर, कानफ्लिक्ट एण्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1938), पृ० 1–3.

जो प्रमुख रूप से अपराधिक व्यवहार के ज्ञान मापन के विश्लेषण, वर्गीकरण तथा भविष्य के नियंत्रण से सम्बन्धित है" ।[1]

अपराधशास्त्र का क्षेत्र एवं प्रमुख अध्ययन के विषय

सदरलैंड एवं क्रेसी के अनुसार अपराधशास्त्र का क्षेत्र उन प्रतिक्रियाओं को धारण करता है जो कानून पारित करने, कानून तोड़ने तथा कानून तोड़ने की प्रतिक्रियाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करती हैं । उनके विचार में अपराध के प्रति व्यक्त की गयी सामाजिक प्रतिक्रियाओं की त्रिस्तरीय शृंखला (दण्ड, उपचार एवं निरोध) अपराधशास्त्र के अध्ययन विषय को निर्मित करती हैं । इस प्रकार उनके अनुसार अपराधशास्त्र के तीन प्रमुख अध्ययन-क्षेत्र हैं—(अ) विधिक समाजशास्त्र : जिसका उद्देश्य उन सामाजिक दशाओं का वैज्ञानिक अध्ययन एवं विश्लेषण हैं जिनके आधार पर अपराधिक कानून बनते हैं, (ब) अपराधिक हेतुकी : जो अपराध के कारणों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करती है, तथा (स) दण्डशास्त्र : जिसमें अपराध-नियन्त्रण तथा अपराधी-सुधार की विधियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है ।[2]

जेफरी के अनुसार अपराधशास्त्र निम्नलिखित तीन विभिन्न प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करता है ।[3]

(1) कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों की खोज—यह कार्य जासूसों, पुलिस के अधिकारियों, चिकित्सकों या उन व्यक्तियों का है जो अपराधी को ढूंढ़ निकालने में विशिष्ट प्रकार की अध्ययन-विधियों का प्रयोग करते हैं ।

(2) अपराधियों की देखरेख तथा उनका सुधार—यह कार्य दण्डशास्त्रियों, समाज-कार्यकर्त्ताओं, मनोचिकित्सकों, समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, बाल न्यायालय के न्यायाधीशों, कारागार प्रशासकों, परिवीक्षा अधिकारियों, तथा उन सभी सरकारी तथा गैर सरकारी व्यक्तियों का है जो अपराध-निरोध तथा अपराध-सुधार के क्षेत्र में कार्य करते हैं ।

---

1. डोनाल्ड जे० न्यूमैन, "लीगल नार्म्स ऐन्ड क्रिमिनालोजिकल डेफिनीशन्स", इन सोश्यालोजी आफ क्राइम (सम्पादित) जोसेफ एस० रूसेक (लंदन : 1962), पृ० 55.
2. इडविन एच० सदरलैंड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 3.
3. सी० आर० जेफरी, "हिस्टारिकल डेवलपमेंट आफ क्रिमिनालोजी" इन पायनियर्स इन क्रिमिनालोजी (लंदन ; 1960), पृ० 365.

(3) अपराधी व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या तथा वैधानिक दोषारोपण—यह कार्य उन व्यक्तियों का है जो अपराधी व्यवहार की घटना को समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सकीय तथा विधि-विरोधी आधारों पर स्पष्ट करते हैं।

इस तथ्य की स्वीकृति कि अपराधशास्त्र अपराधियों के व्यवहार, उनके नियन्त्रण, निरोध तथा उपचार के वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित है, अपराध विशेषज्ञों के लिए एक ऐसी दशा उत्पन्न कर देता है कि जिसमें अपराधशास्त्र के अध्ययन की प्रमुख रुचियों को सरलता से वर्णित किया जा सकता है।

रेकलेस के अनुसार अपराध की प्रमुख केन्द्रीय अध्ययन-रुचियाँ निम्नांकित हैं—[1]

(1) कानून के उल्लघंनों का लेखा, गिरफ्तारियों की संख्या का संकलन तथा अपराधी व्यक्तियों का तादात्म्यीकरण।

(2) विभिन्न देशों में अपराधिक कानूनों का उनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप तुलनात्मक अध्ययन।

(3) बाल तथा वयस्क अपराधियों के वैयक्तिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारकों का विशिष्टीकरण जिनके आधार पर उनके वैज्ञानिक अध्ययन के हेतु समाजशास्त्रीय अध्ययन-सामग्री उपलब्ध हो सके।

(4) उन सिद्धान्तों तथा परिकल्पनाओं का प्रतिपादन, परीक्षण तथा संशोधन जो अपराध तथा बाल अपराध की घटनाओं का सामान्य एवं विशिष्ट रूप से स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती हैं।

(5) मानवीय व्यवहार के उन तत्वों का तादात्म्यीकरण तथा वर्णन प्रस्तुत करना जिन्हें वैधानिक रूप से विश्व के अनेक देशों में अपराध घोषित किया जाता है और जिनके माध्यम से अपराधिक कृत्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाता है।

(6) उन अपराधियों का वैयक्तिक तथा सामाजिक अध्ययन करना जो प्रथम बार अपराध करते हैं पर स्वभाव से अपराधी नहीं हैं या जो अपनी मानसिक मनोविकृतियों के फलस्वरूप अपराध कर बैठते हैं।

(7) व्यवहार-विचलन की उन समस्याओं का अध्ययन तथा उनके नियंत्रण की विधियों की खोज जो असमाजिक कृत्यों, जैसे वेश्यावृत्ति, आत्महत्या,

1. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम (न्यूयार्क : 1967), पृ० 9–10.

मादक द्रव्यों का सेवन, अति मद्यपान, जुआ, भिक्षावृत्ति तथा आवारापन के अपराधिक व्यवहार को जन्म देने में प्रमुख योगदान प्रदान करती हैं।

(8) अपराधिक कानूनों के कार्यान्वयन के हेतु उन वैज्ञानिक विधियों का अध्ययन एवं उनकी खोज जिससे अपराध की गहन समस्या बड़ी सीमा तक हल हो सके।

(9) अपराधियों के सुधार एवं पुनर्वासन की उन प्रमुख विधियों की सार्थकता तथा प्रभावशीलता का अध्ययन एवं मूल्यांकन जिनका प्रयोग वर्तमान युग में बाल अपराधी तथा वयस्क अपराधी सुधार संस्थाओं, संगठनों तथा सेवाओं में किया जा रहा है।

(10) बाल तथा वयस्क अपराध के निरोधक कार्यक्रमों की संचालन-व्यवस्था का मूल्यांकन एवं संशोधन।

अपराधशास्त्र की लोकप्रियता

समाज में अपराध की घटनाओं के बारे में जानने की उत्सुकता केवल अपराधशास्त्रियों तक ही सीमित नहीं रहती है। साधारण व्यक्ति भी उनको जानने में उतनी ही रुचि प्रदर्शित करता है जितना कि वे लोग जो अपराध का अध्ययन एक व्यावसायिक परिप्रेक्ष्य में करते हैं। यह बात अलग है कि इन दो विशिष्ट वर्गों की रुचि के कारण भिन्न भिन्न हो सकते हैं। जन-साधारण द्वारा अपराध के बारे में जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता की व्याख्या करते हुए इलिएट ने कहा कि कुछ लोग इस विषय में उत्सुकता इसलिए रखते हैं कि वह अपराधी को विकृत व्यक्ति समझते हैं और इसके फलस्वरूप वह अपराधशास्त्र को एक चित्त आकर्षक विषय मानते हैं क्योंकि इसमें अपराधियों की डरावनी तथा घिनौनी वृत्तियों का अध्ययन होता है।[1] टैफ्ट ने अपराध से सम्बन्धित लोकप्रिय रुचि को भावुकतापूर्ण रुचि की संज्ञा प्रदान की और कहा कि आम जनता अपराध की घटनाओं तथा अपराधियों के बारे में जानने की जो उत्सुकता प्रदर्शित करती है उसका कारण भय, प्रतिशोध की भावना तथा अपराधी के प्रति घृणा एवं अपराध-पीड़ित व्यक्ति के प्रति दया का भाव हो सकता है।[2] बार्न्स एवं टीटर्स ने कहा कि जनता अपराधिक घटनाओं की जानकारी प्राप्त करने की रुचि इसलिए रखती है कि दैनिक समाचार पत्रों में इस प्रकार की घटनाओं को बड़े महत्व के

1. मेबेल ए० इलियट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 4–5.
2. डोनाल्ड आर० टैफ्ट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 10.

साथ प्रकाशित किया जाता है और लोग अपराधियों के असाधारण व्यवहार को भय एवं प्रशंसा की भावनाओं से देखते, सुनते तथा पढ़ते हैं।[1] गिलिन ने इस जन-रुचि की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की और बताया कि मानव प्रकृति हर अनोखे एवं असंगत व्यवहार को उत्सुकता से परखने की कोशिश करती है और उसको जानने के बाद अधिकांश व्यक्तियों में रोष, रोमांच, भय तथा दया की भावनाएँ जागृत होती हैं।[2]

अपराधशास्त्र की वैज्ञानिकता

अपराधशास्त्र में जनरुचि की परम्परा के प्राचीन होने के बावजूद अपराध का वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षाकृत नवीन है। अन्य सामाजिक विज्ञानों की ही भाँति विचारकों में आज भी इस बात पर एकमतता नहीं है कि अपराधशास्त्र एक विज्ञान है कि नहीं। कुछ विद्वान अपराधशास्त्र को विज्ञान की संज्ञा प्रदान करने में हिचकते हैं। माईकेल तथा अडलर का नाम इस प्रकार के विद्वानों में प्रमुख रूप से लिया जाता है। उनका कहना है कि अपराधशास्त्र एक स्वतंत्र विज्ञान नहीं है क्योंकि यह समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि जैसे उन विज्ञानों पर आधारित है जिन्हें बहुत से विद्वान आज भी विज्ञान की संज्ञा प्रदान करने में असमर्थता प्रकट करते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि जब तक समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान अनुभवात्मक विज्ञान नहीं बन पाते तब तक अपराधशास्त्र को विज्ञान मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है।[3] माईकेल तथा अडलर का मत है कि इन तथाकथित विज्ञानों के माध्यम से सत्य की खोज नहीं हो सकती है तथा इनसे न तो उस प्रकार के निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं और न वे नियम ही बन सकते हैं जो भौतिक विज्ञानों के द्वारा प्रतिपादित किए जाते हैं और जिनकी सत्यता विश्वसनीय है। अडलर ने अपने इस प्रकार के मत के वास्तविक उद्देश्य को व्यक्त करते हुए कहा कि मानव व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाले सभी सामाजिक

---

1. हैरी इलमर बार्न्स एवं नेगली के० टीटर्स न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी, तृतीय भारतीय संस्करण (न्यू दिल्ली : 1966), पृ० 4.
2. जान लीविस गिलिन, क्रिमिनालोजी एण्ड पिनालोजी, (न्यूयार्क : 1935), पृ० 1 तथा 5.
3. जरोमे माईकेल ऐण्ड मार्टीमर जे० अडलर, क्राइम ला ऐण्ड सोशल साइन्स (न्यूयार्क : 1933), पृ० 85.

विज्ञान अभी इस स्थिति में नहीं है कि उन्हें विज्ञान माना जाये क्योंकि मानव व्यवहार का अध्ययन आज तक वैज्ञानिक रूप से नहीं हो पाया है।[1]

थार्सटेन सेलिन ने माईकेल तथा अडलर से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि अपराधशास्त्र एक घटिया प्रकार का दोगला विज्ञान है जिसका जन्म जनता की उस चिन्ता से हुआ है जिसका विषय था अपराध जैसी महामारी की सामाजिक समस्या की विपत्ति को दूर करने के लिए साधन ढूंढ़ना। उन्होंने यह भी कहा कि एक अच्छा अपराधशास्त्री बनने के लिए किसी भी व्यक्ति को एक अच्छे प्रकार का मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सक, मानवशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री तथा न्याय एवं विधि विशेषज्ञ होना आवश्यक है। उनके मत में कोई भी एक व्यक्ति यह आवश्यकता सरलता से नहीं पूरा कर सकता है।[2] मेबेल ए० इलिएट ने इस मत से प्रभावित सभी विचारकों के वक्तव्यों में निहित सारांश को व्यक्त करते हुए लिखा कि ये सभी विचारक अपराधशास्त्र को विज्ञान इसलिए नहीं मानते हैं क्योंकि इसमें गणित के सिद्धान्तों की भाँति ऐसे सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित हो सके हैं जिनसे अपराध की घटनाओं तथा अपराधी व्यवहार की व्याख्या शाश्वत शब्दों में हो सके। इन सभी विद्वानों के विचार में अपराधशास्त्र में उन गुणों का अभाव है जो किसी भी विषय को विज्ञान बनाने में मदद करते हैं।[3]

थार्सटेन सेलिन ने माईकेल तथा अडलर की बातों से अपनी आंशिक सहमति के बावजूद उनकी इस बात को मानने से इनकार कर दिया जिसमें उन्होंने कहा था कि मानव ज्ञान की वे सभी शाखायें अवैज्ञानिक हैं जो दूसरे विषयों के अनुभव सम्बन्धी ज्ञान को अपने में सम्मिलित करके अपना एक विशिष्ट स्वरूप धारण करने का प्रयत्न करती हैं और बाद में वैज्ञानिक तथा स्वतन्त्र अस्तित्व रखने का दावा करने लगती हैं। अपनी असहमति के कारण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह कहा कि यदि माइकेल तथा अडलर की यह बात मान ली जायेगी तो इसका अर्थ यह होगा कि केवल भौतिक विज्ञानों को ही विज्ञान माना जा सकेगा और मानव व्यवहार का अध्ययन करने वाले समस्त सामाजिक विषय विज्ञान नहीं कहे जा सकेंगे। सेलिन यह तो स्वीकार करते हैं

---

1. वही, पृ० 85.
2. थार्सटेन सेलिन, कल्चर कान्फ्लिक्ट ऐन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1938), पृ० 3.
3. मेबेल ए० इलिएट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 24–25.

कि अपराध के कारणों की व्याख्या करने वाले अनेक विश्वव्यापी शोध अध्ययन आज भी अपनी अप्रामाणिक, अनिश्चित तथा अव्यावहारिक अवस्था में हैं। उनके मत में इन सभी शोध अध्ययनों के निष्कर्ष आज भी परिकल्पना के स्तर के हैं और जिनको वैज्ञानिक मानने से पहले उनके कठोर परीक्षण की आवश्यकता है। इतना सब कहने के बाद भी सेलिन ने अपराधशास्त्र को एक ऐसे विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जिसकी वैज्ञानिकता थोड़ा और प्रयत्न करके सरलता से स्थापित की जा सकती है।

डूगाल्ड स्टीवर्ट ने उन सभी विद्वानों के मत को केवल व्यर्थ की शंका पर आधारित बताया जो समस्त मानव व्यवहार विज्ञानों की वैज्ञानिकता पर सन्देह करते हैं।[1] उनके मत में मानव व्यवहार की व्याख्या का एक विज्ञान अवश्य हो सकता है तथा इस प्रकार के विज्ञान द्वारा कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जिनको सही मानकर चलने में कोई विशेष हानि नहीं होगी। परन्तु इस प्रकार के किसी भी विज्ञान द्वारा प्राप्त किए निष्कर्षों को उनकी सम्भाविता के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि हमें उपर्युक्त वर्णित मान्यता स्वीकार है तो हमें समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि जैसे विषयों को विज्ञान मानने में किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए। अन्त में उन्होंने समाजविज्ञानों के निष्कर्ष पर टिप्पणी करते हुए कहा कि आज के युग के सभी मान्य समाजविज्ञानों में सतर्कता से प्रयोग में लायी गयी विधियों के द्वारा ऐसे सामान्यीकृत सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया जा सकता है जो सामाजिक घटनाओं की व्याख्या में प्रयोग की गयी राय के स्तर से अधिक उत्तम और सही होंगे।[2]

सदरलैण्ड तथा केसी ने अपराधशास्त्र की वैज्ञानिकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि यह सही है कि अपराधशास्त्र अपनी वर्तमान स्थिति में विज्ञान नहीं है परन्तु अपराधशास्त्र के ज्ञान में वृद्धि की प्रकृति एवं दिशा को देखते हुए यह आशा अवश्य की जा सकती है कि यह विज्ञान बनने की दिशा की ओर अग्रसर है। उन्होंने अपने से पूर्व के विचारकों के उस मत का खण्डन किया जिसमें यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि विज्ञान का सार विषय-विशेष की सामान्य प्रतिज्ञप्तियों की सार्वभौतिक वैधता में निहित है। उनके अनुसार इस

---

1. डूगाल्ड स्टीवर्ट, एलिमेण्ट्स आफ दि फिलासफी आफ ह्यूमन माइन्ड (न्यूयार्क : 1926), पृ० 109.
2. वही, पृ० 109.

प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ अपराधशास्त्र में तभी प्राप्त की जा सकती हैं जबकि इस विषय की अध्ययन विषयक इकाइयाँ स्थायी तथा समरूप हों। उनके विचार से अपराध एक स्थायी तथा समरूप इकाई नहीं है क्योंकि यह समय तथा स्थान पर भिन्न-भिन्न हो सकती है।[1] विलवर ने सदरलैण्ड तथा क्रेसी की बात को सही मानकर यह कहा कि अपराध की व्याख्या में सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं प्रतिपादित की जा सकती हैं।[2]

वूल्फगैंग ने सदरलैण्ड तथा क्रेसी के विचारों से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि अपराधशास्त्र को एक स्वाधीन ज्ञान का विषय इसलिए मानना चाहिए क्योंकि इसमें सैद्धान्तिक प्रत्ययवाद उसी प्रकार से मौजूद है जैसा कि एक वैज्ञानिक विधि में होना चाहिए। अपराधशास्त्र का सैद्धान्तिक तथा अनुसन्धानात्मक पक्ष अपराध, अपराधी तथा इसके प्रति व्यक्त की गयी सामाजिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन एक ऐसी दिशा-मुक्त नियामक विधि से करता है जिसे वैज्ञानिक कहा जा सकता है।[3] रेकलेस ने वूल्फगैंग के मत को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया और एक मध्यम मार्गी की भाँति इस विवाद को यह कहकर समाप्त किया कि अपराधशास्त्र अपनी वर्तमान स्थिति में अपना एक निश्चित तादात्म्य खोज रहा है।[4]

टैफ्ट ने इसी बात को सरल शब्दों में कहा। उनके अनुसार अपराधशास्त्र अभी विज्ञान इसलिए नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अपराधशास्त्रीय ज्ञान अभी तक अपराध-निरोध तथा अपराधी सुधार के बारे में पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है।[5]

शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक ने अपराध शास्त्र को एक आत्मनिर्भर ज्ञान की शाखा के रूप में स्वीकार किया और कहा कि ज्यों-ज्यों उन विज्ञानों (समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मनोचिकित्सा आदि) का विकास होगा, अपराध-

---

1. इडविन एच० सदरलैण्ड ऐण्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 19.
2. जार्ज एल० विलवर, "दि साइन्टिफिक अडेक्वेसी आफ क्रिमिनालोजिकल कान्सेप्ट्स" सोशल फोर्सज, वाल्यूम 28, दिसम्बर 1949, पृ० 165–174.
3. मारविन ई० वुल्फगैंग, "क्रिमिनालोजी एण्ड क्रिमिनालोजिस्ट," जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी एण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 43, जून 1963, पृ० 155–162.
4. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित पृ० 6.
5. डोनाल्ड आर० टैफ्ट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 13.

शास्त्र भी उसी विकास के फलस्वरूप व्यक्ति के चारित्रिक दोषों से सम्बन्धित समस्याओं का कारण ढूंढ़ने में समर्थ हो सकेगा।[1] बोल्ड ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए कहा कि यह आशा करना ही अवास्तविक है कि अपराधशास्त्र मानव व्यवहार की सम्पूर्ण तथा स्वीकार करने योग्य व्याख्या अकेले ही कर पाने में कभी समर्थ भी होगा। इस प्रकार की आशा तभी वास्तविक मानी जायेगी जबकि मानव व्यवहार सम्बन्धी समस्त विज्ञानों का विकास उस सीमा तक हो जायेगा जिसमें इनकी सैद्धान्तिक व्याख्यायें सही तथा पर्याप्त प्रतीत होने लगेंगी।[2] तपन का मत था कि जब हम यह मानते हैं कि मानव व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाला कोई भी विज्ञान अभी तक हमें उपलब्ध नहीं है तो यह आशा करना ही व्यर्थ है कि अपराधशास्त्र, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञान भौतिक विज्ञानों की भाँति घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध करा पायेंगे।[3]

डेनिस सजावो ने अपराधशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में स्वीकार किया और अपने इस मत को सिद्ध करते हुए कहा कि अपराधशास्त्र का अपना एक विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र है जिसमें एक विशिष्ट प्रकार के आँकड़े हैं तथा एक विशिष्ट प्रकार की वैज्ञानिक विधियों के माध्यम से अपराध जैसी जटिल सामाजिक घटना के कारणों का वर्णन एवं व्याख्या की जाती है। इस विज्ञान की अन्य विज्ञानों पर निर्भरता इसके आत्मनिर्भर तथा एक विशिष्ट प्रकार का स्वरूप धारण करने में कहीं भी व्यवधान नहीं उपस्थित करती है। इन सभी विज्ञानों से अपराधशास्त्र ने कुछ न कुछ लिया है, परन्तु आज अपराधशास्त्रीय ज्ञान उस स्तर पर आ गया है कि जिसके बारे में बार्सटेन सेलिन का यह कहना गलत है कि अपराधशास्त्री एक ऐसे सम्राट की भाँति है जिसका कोई साम्राज्य नहीं है। सजावा ने आगे कहा कि जो लोग अपराधशास्त्र के वैज्ञानिक स्वभाव के बारे में विवाद उत्पन्न करते हैं उनका दृष्टिकोण विज्ञान की अवधारणा तथा इसकी प्रकृति के बारे में बड़ा ही संकीर्ण है। भौतिक विज्ञानों के साथ ही साथ समाज में उस प्रकार के विज्ञान भी विकसित होते हैं जो सामाजिक घटनाओं से

---

1. शेल्डन एण्ड इलीनर ग्लुक, अनरेवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (कैम्ब्रिज : 1950), पृ० 289.
2. आर्च बी० बोल्ड, पूर्वोल्लिखित, पृ० 314.
3. पाल डब्ल्यू० तपन, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1949) पृ० 56.

सम्बन्धित उन तथ्यों का अध्ययन करते हैं जो विशिष्ट प्रकार के होते हुए भी अनोखे तथा व्यक्तिपरक नहीं हैं। आज के सामाजिक विज्ञानों में भी प्रयोगात्मक तथा परीक्षणात्मक विधियों को अपनाया जा रहा है परन्तु इन विज्ञानों के परीक्षण भौतिक विज्ञानों से भिन्न हैं क्योंकि इन विज्ञानों में जिस प्रकार के घटना सम्बन्धी तथ्यों का अध्ययन किया जाता है वे भौतिक विज्ञानों के तथ्यों से सर्वथा भिन्न हैं।[1]

आधुनिक अपराधशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि अपराधशास्त्र अपना गठबन्धन किसी एक विशिष्ट विज्ञान से करके नहीं पनप सकता है। इसकी वैज्ञानिकता तथा विश्वसनीयता तभी बढ़ सकती है जबकि इसमें मानव-व्यवहार-विज्ञानों से सम्बन्धित अनेक दृष्टिकोणों का समागम हो। अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करके ही अपराधशास्त्र अपने भविष्य को एक वैज्ञानिक ज्ञान के रूप में सुरक्षित रख सकता है। न्यूमैन के अनुसार अपराधशास्त्र एक स्वीकृत एवं मान्य शैक्षणिक अध्ययन के एक विशिष्ट क्षेत्र के रूप में उतना ही प्राचीन तथा सम्माननीय है जितना कि अन्य सामाजिक विज्ञान की शाखायें।[2] क्लिनार्ड ने कहा कि अपराधशास्त्र सामाजिक विज्ञान के आधुनिक अध्ययन क्षेत्रों की ही भाँति आनुभविक एवं सैद्धान्तिक है क्योंकि इसके समस्त ज्ञान की उपलब्धि में व्यवहार-मापन तथा सिद्धान्तों के परीक्षण की वे ही विधियाँ अपनायी जाती हैं जो सभी अनुभववादी विज्ञानों के ज्ञानोपार्जन का प्रमुख आधार हैं।[3]

अपराधशास्त्र की वैज्ञानिकता पर प्रस्तुत किए उपर्युक्त वर्णन को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवीं शताब्दी के अधिकांश अपराधशास्त्री

---

1. डेनिस सजाबो, "दि टीचिंग आफ क्रिमिनालोजी इन यूनीवर्सिटीज : काण्ट्रीब्यूशन टु दि सोश्यालोजी आफ इनोवेशन" इण्टरनेशनल रिव्यू आफ क्रिमिनल पालिसी, नवम्बर 22, 1964, पृ० 21-22.
2. डोनाल्ड जे० न्यूमैन, "लीगल नार्म्स एण्ड क्रिमिनालोजिकल डेफिनीशन्स," इन सोश्यालोजी आफ क्राइम (सम्पादित) जोसेफ एस० रूसेक (लन्दन : 1962) पृ० 60.
3. मार्शल बी० क्लिनार्ड "सोश्यालोजिस्ट एण्ड अमेरिकन क्रिमिनालोजिस्ट" जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी एण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 51, जनवरी 1951, पृ० 566-577.

तथा उनके अन्य सहयोगी, जो समाजशास्त्री हैं, इस बात पर एकमत हैं कि आज की परिस्थिति को देखते हुए अपराधशास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान इसलिए माना जाना चाहिए क्योंकि इसमें अनेकों ऐसी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ उपलब्ध हो गयी हैं जिनकी वैज्ञानिकता पर अधिकांश सामाजिक वैज्ञानिक सहमत हैं। अपराधशास्त्र ने आज अपना एक ऐसा विशिष्ट सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक साहित्य अर्जित कर लिया है जिसमें अन्य सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख मानव-व्यवहार-व्याख्या सम्बन्धी अन्तर्दृष्टियाँ बड़ी ही सावधानी से अपना एक विशेष स्थान प्राप्त कर चुकी हैं।

अपराधशास्त्र के विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण

यह खेद का विषय है कि अपराधशास्त्र में आज तक कोई ऐसा प्रलेख उपलब्ध नहीं है जिससे इसके ऐतिहासिक विकास का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त हो सके। रेडजिनोविज[1] के मत में 1873 से लेकर 1900 तक के बीच के वर्षों वाला समय अपराधशास्त्र के वैज्ञानिक विकास का युग रहा है। इन्हीं वर्षों में इटली में अपराधशास्त्र के शास्त्रीय सम्प्रदाय, जिसके प्रवर्तक बेन्थम तथा बेकारिया थे, की समस्त मान्यताओं पर प्रहार किया गया। जिस नई चेतना का विकास इटली में हुआ उसका विस्तार शीघ्र ही अमरीका तथा यूरोप के अन्य देशों में हुआ। इसी अवधि में अपराधिक न्यायविधि की प्रमुख अवधारणाओं, अपराधी संहिता के संरचनात्मक आधारों तथा उस युग की समस्त लोकप्रिय अपराधी-व्यवहार सम्बन्धी व्याख्याओं की गम्भीर आलोचना की गयी। अपराधी-व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या के जो प्रयत्न इटली में प्रारम्भ हुए उनकी महत्ता को इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस तथा अमरीका आदि देशों में बड़े उत्साह के साथ स्वीकार किया गया और इसके फलस्वरूप अपराध के कारणों की परीक्षण सम्बन्धी तथा वैचारिक व्याख्या के अनेक प्रयत्न किए जाने लगे।

अपराधशास्त्र के विकास से सम्बन्धित इतिहास के जो भी साक्ष्य आज हमारे पास उपलब्ध हैं उनसे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि अपराधी-व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या सम्बन्धी परम्परा इटली में जन्मी थी। लाम्ब्रोसो तथा उनके अनुयायियों—गारफैलो तथा फेरी—द्वारा अपराध की घटनाओं तथा

---

1. लियोन रेडजिनोविज, "इन सर्च आफ क्रिमिनालोजी", इन दि रिपोर्ट आफ दि सेकेन्ड यूनाइटेड नेशन्स कांग्रेस आन प्रिवेन्शन आफ क्राइम ऐन्ड ट्रीटमेंट आफ आफेन्डर्स, लन्दन 1960, पृ० 1.

अपराधियों पर किए गये सभी अध्ययन आज के अपराधशास्त्र को वैज्ञानिकता प्रदान करने में सर्वप्रथम तथा अति महत्वपूर्ण रहे हैं। अपराध की वैज्ञानिक व्याख्या की इस परम्परा का सर्वोच्च विकास अमरीका में उस समय हुआ जबकि वहाँ के प्रमुख समाजशास्त्रियों ने अपराध तथा बाल अपराध के व्यवहार की व्याख्या उन विधियों के माध्यम से करने का प्रयत्न किया जो आज के सामाजिक विज्ञानों की वैज्ञानिक अध्ययन प्रणाली का अभिन्न अंग हैं। अपराधशास्त्र इस प्रकार मानवविज्ञान, मनोविज्ञान, मनोचिकित्सा तथा अपराधिक कानून के व्याख्या सम्बन्धी आधारों को छोड़कर समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक प्रमुख विषय अमरीका में बना और यहीं इसकी वैज्ञानिकता को और अधिक पुष्ट किया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही अपराधशास्त्र को वैज्ञानिक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय माना जा रहा है।

इस विषय की वैज्ञानिकता का जो संक्षिप्त इतिहास हमें प्राप्त है वह डिक्यूरोज द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों के अपराधशास्त्रीय ज्ञान की उत्पत्ति एवं विकास के बारे में लिखी गयी एक संक्षिप्त विवरणात्मक रिपोर्ट में उपलब्ध है। 1955 में थार्सटेन सोलिन ने स्वीडन में इसी विषय पर होनेवाली एक विचार-गोष्ठी के आधार पर अपराधशास्त्रीय विचारों से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण सर्वेक्षण प्रकाशित किया। तत्पश्चात् जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स में उन सभी विद्वानों के जीवनचित्रों एवं उनके द्वारा किए गये शोध अध्ययनों को प्रकाशित किया गया जो अपराधशास्त्रीय वैज्ञानिक ज्ञान की उपलब्धि कराने में अग्रणी रहे हैं। इन सभी प्रकाशित लेखों को हरबर्ट मानहाइम ने सम्पादित करके एक पुस्तक के रूप में 1960 में प्रकाशित किया।[1] 1958 में जार्ज वोल्ड ने इन सभी विद्वानों के सिद्धान्तों के वैज्ञानिक पहलू पर आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की।[2]

रेडजिनोविज द्वारा प्रकाशित तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ यूरोप में अपराधशास्त्र के विकास के इतिहास को अपराधिक कानूनों के विकास के साथ जोड़कर प्रस्तुत करते हैं।[3] गार्डन रोज के एक लेख में अपराधशास्त्र के वैज्ञानिक विकास में अमरीका तथा इंगलैंड के समाजशास्त्रियों के विचारों तथा उनके शोध अध्ययनों

---

1. हरबर्ट मानहाइम, पायनियर्स इन क्रिमिनालोजी (शिकागो : 1960).
2. जार्ज बी० वोल्ड, थ्योरिटिकल क्रिमिनालोजी, (न्यूयार्क : 1958).
3. लियोन रेडजिनोविज, हिस्ट्री आफ इंगलिश क्रिमिनल ला (न्यूयार्क : 1953),

का संक्षिप्त वर्णन इस बात को पुष्ट करता है कि यद्यपि अपराधशास्त्र इटली में जन्मा, इंगलैंड में पनपा परन्तु फिर भी इसका सम्पूर्ण वैज्ञानिक विकास अमरीका में ही हुआ और यहीं से अन्य देशों को इसके विश्वविद्यालय-स्तरीय अध्ययन की महत्ता को स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।[1]

भारत में अपराधशास्त्र का अध्ययन एवं अध्यापन

अन्य पाश्चात्य देशों की ही भाँति भारत में भी अपराधशास्त्र को महत्व-पूर्ण अध्ययन का विषय केवल बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही माना जा रहा है। इसको विश्वविद्यालय स्तर के अध्ययन एवं अध्यापन का विषय मानने की चेतना उस अन्तरराष्ट्रीय चेतना का फल है जिसकी महत्ता को सबसे पहले संयुक्त राष्ट्र के शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक घटनाओं सम्बन्धी सामाजिक रक्षा विभाग ने स्वीकार किया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस विभाग द्वारा आयोजित एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया था कि विश्व के सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों में अपराधशास्त्र को एक विशिष्ट अध्ययन के क्षेत्र के रूप में स्वीकार करके अपराधशास्त्र के शिक्षण तथा अनुसंधान विभागों की स्थापना की जानी चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा 1957 में प्रकाशित एक रिपोर्ट[2] का यह प्रमुख प्रस्ताव था कि अपराधशास्त्र का वास्तविक विकास करने के लिए आवश्यकता है कि अपराधशास्त्र को एक विज्ञान मानकर स्वतंत्र विभागों के रूप में अधिकांश विश्वविद्यालयों में अध्ययन एवं अध्यापन का विषय बनाया जाये।

भारत में इस विश्वव्यापी चेतना का फल यह हुआ कि उन सभी विश्वविद्यालयों में (जहाँ अपराध, दंड एवं सुधार के विषयों को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा विधि विभागों में एक विशिष्ट प्रश्नपत्र के रूप में 1930 से ही पढ़ाया जा रहा था) शिक्षकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया जिसका कहना था कि अपराधशास्त्र को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। इस प्रकार का विचार अनेक शैक्षिक सम्मेलनों में रखा गया परन्तु राज्यों की सरकारें तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस प्रकार के प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने में आर्थिक कठिनाइयाँ व्यक्त कीं और यह सिफारिश की

---

1. गार्डन रोज, "ट्रेन्ड्स इन डेवेलपमेंट आफ क्रिमिनालोजी", ब्रिटिश जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 9, नम्बर 1, मार्च 1958, पृ० 53–56.
2. यूनाइटेड नेशन्स (यूनेस्को) रिपोर्ट आन यूनीवर्सिटी टीचिंग इन सोशल साइन्सेज : क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1957)

कि विश्वविद्यालयों के जिन विभागों (प्रमुखतः समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा कानून) में अपराधशास्त्र को एक विशेष महत्व प्रदान करके अध्ययन अध्यापन तथा शोध हो रहा है उनको अपने विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

वर्तमान स्थिति यह है कि देश में केवल तीन ही विश्वविद्यालय हैं जहाँ पर अपराधशास्त्र में एम० ए० की डिग्री प्रदान की जाती है—सागर (डिपार्टमेंट आफ क्रिमिनालोजी एन्ड फोरेन्सिक साइन्स), बम्बई (टाटा इन्स्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेज) तथा मद्रास (डिपार्टमेंट आफ साइकालोजी)। लखनऊ ,जयपुर तथा उस्मानिया विश्वविद्यालयों के विधि विभागों/संकायों में 1964 से पोस्ट-ग्रेजुएट डिप्लोमा इन क्रिमिनालोजी के पाठ्यक्रम चलाये जा रहे हैं। देश के अधिकांश समाज-कार्य विभागों तथा स्कूलों में अपराधशास्त्र, दंडशास्त्र तथा सुधार-प्रशासन के क्षेत्र में एम० ए० स्तर के विद्यार्थियों के लिए विशेषीकृत अध्यापन के पाठ्यक्रम उपलब्ध हैं।

अपराधशास्त्र के इस विश्वविद्यालय स्तर पर होनेवाले अध्ययन, अध्यापन तथा शोध के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा तीन महत्वपूर्ण प्रशिक्षण केन्द्र / संस्थान दिल्ली में स्थापित किये गये हैं—(1) इन्स्टीट्यूट आफ क्रिमिनालोजी एन्ड फोरेन्सिक साइन्स (केन्द्रीय मन्त्रालय द्वारा संचालित); (2) ब्यूरो आफ पुलिस रिसर्च एन्ड डेवलपमेंट (केन्द्रीय गृह मन्त्रालय द्वारा संचालित) तथा (3) नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ सोशल डिफेन्स (केन्द्रीय समाज कल्याण मन्त्रालय द्वारा संचालित)। इन्स्टीटयूट आफ क्रिमिनालोजी एन्ड फोरेन्सिक साइन्स में जिला तथा प्रान्त स्तर के पुलिस अधिकारियों के हेतु अल्पकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। ब्यूरो आफ पुलिस रिचर्स एन्ड डेवलपमेंट का कार्य अपराध-सांख्यिकी का संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण तथा प्रकाशन के साथ साथ पुलिस सम्बन्धी शोध कार्य करना है। नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ सोशल डिफेन्स का कार्य सामाजिक रक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों के नीति-निर्धारण के साथ साथ इस क्षेत्र में कार्यरत सरकारी तथा गैर सरकारी व्यक्तियों तथा संस्थाओं को परामर्श, निदेशन तथा शोध कार्य हेतु सूचनाएँ, साहित्य तथा आँकड़े उपलब्ध कराना है।

इन संस्थानों के अतिरिक्त पूना, लखनऊ तथा हिसार में जेल ट्रेनिंग स्कूलों की स्थापना बहुत पहले से की गयी है जहाँ पर कारागार विभाग के वार्डरों, जेलरों तथा अधीक्षकों को अपने एक-वर्षीय तथा अर्धवर्षीय प्रशिक्षण काल में अपराध, दंड एवं सुधार की सैद्धान्तिक अवधारणाओं तथा कार्यात्मक विधियों से भली भाँति अवगत कराया जाता है।

इधर कुछ वर्षों से देश के अनेक विश्वविद्यालयों में अपराधशास्त्र के अध्यापन के साथ साथ वयस्क अपराध, बाल अपराध जेल प्रशासन तथा बाल सुधार प्रशासन आदि सम्बन्धी अनेक विषयों पर शोध कार्य करने पर विशेष बल दिया जा रहा है। इस सन्दर्भ में यह आशा की जा सकती है कि अपराध-शास्त्र सम्बन्धी आधुनिक शोधकार्य सम्भवतः अपराधशास्त्र की शैक्षणिक महत्ता को स्थापित करने के साथ ही साथ इस विषय की वैज्ञानिकता को एक सबल आधार प्रदान करने में समर्थ हो सकेगा।



अध्याय 2

अपराधशास्त्र के सम्प्रदाय

प्रस्तावना

अपराध के कारणों की व्याख्या का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध ज्ञान अपराध शास्त्र की ही भाँति अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए एक नवीन अध्ययन का विषय है। 19वीं शताब्दी से पूर्व की जो भी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उन्हें अवैज्ञानिक, असंगठित तथा स्वल्पायु ही माना जा सकता है। परन्तु इन व्याख्याओं को प्राचीन समय में सत्य मान कर स्वीकार किया गया था। सम्भवतः उस युग में अपराध की सर्वप्रमुख व्याख्या का आधार था कि अपराध का कारण अपराधी व्यक्ति की स्वाभाविक तथा अन्तर्जात भ्रष्टता एवं चरित्रहीनता है जिसे दैवी अशुभतत्वों की प्रेरणा का फल माना जाता था। इंगलैण्ड में 19वीं शताब्दी तक अपराधियों के बारे में यह अभ्यारोपण प्रचलित था कि अपराधी व्यक्ति शैतान के वशीभूत होकर न केवल कानून को तोड़ता है वरन् ईश्वर की शक्ति एवं धार्मिक आदेशों का उल्लंघन भी करता है। 1863 में अमरीका के उत्तरी केरोलिना राज्य में उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि जो भी व्यक्ति सही तथा गलत जानने की क्षमता रखते हुए भी जीवन में गलत रास्ता अपनाता है, वह किसी अशुभ दैवी शक्ति के वशीभूत होता है। उसकी चारित्रिक भ्रष्टता उस दैवी शक्ति के प्रकोप का फल होती है। उस युग में इस प्रकार की व्याख्याओं के प्रचलन का प्रमुख कारण यह था कि अपराध एक वैज्ञानिक अध्ययन का विषय नहीं था और लोग यह नहीं जानते थे कि अपराधिक प्रवृत्तियाँ कुछ व्यक्तियों में एक विशिष्ट शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि में पनपती हैं।

अपराध के प्रमुख सम्प्रदायों की रूपरेखा

उन्नीसवीं तथा बीसवी शताब्दी में अपराध शास्त्र के अन्तर्गत कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिनके विचारों के आधार पर अपराध के कारणों की

व्याख्या के सन्दर्भ में अनेक मत प्रतिपादित किये गये। इस युग में अपराधशास्त्र के सम्प्रदायों को इस प्रकार से परिभाषित किया गया :

"अपराध के विशिष्ट सम्प्रदाय एक विचार की व्यवस्था हैं जिनके अन्तर्गत उस विचार के प्रवर्तकों के मत सन्निहित हैं। यह विचार व्यवस्था उस ज्ञान को तर्क समेत प्रस्तुत करती है जिसके माध्यम से अपराधी व्यवहार तथा अपराधिक कृत्यों के कारणों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। स्पष्ट है कि इन विचार व्यवस्थाओं में अपराध की अनेक लौकिक तथा अलौकिक व्याख्याएँ सम्मिलित हो जाती हैं"।[1]

अपारधशास्त्र के सम्प्रदाय

सम्प्रदाय का नाम	जन्म का अनुमानित वर्ष	व्याख्या का आधार	प्रमुख प्रवर्तकों के नाम
1	2	3	4
(1) प्रेतशास्त्रीय व्याख्या	16वीं शताब्दी से पूर्व	भूत-प्रेत	—
(2) मुक्त इच्छा का सिद्धांत	16वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक	मुक्त इच्छा (फ्री विल)	—
(3) शास्त्रीय सम्प्रदाय	1775	सुखवाद एवं मुक्त इच्छा	बेकारिया, बेन्थम, फ्यूरबाक
(4) भौगोलिक तथा परिस्थिति सम्बन्धी सम्प्रदाय	1830 से 1850	परिस्थिति शास्त्र, संस्कृति तथा जनसंख्या का संगठन तथा वितरण	क्वेटलेट, ग्रेरी, मान्टेसक्यू, टार्डे, थ्रेसर, शा तथा मेके
(5) साम्यवादी तथा समाजवादी सम्प्रदाय	1850	आर्थिक निर्धारणवाद	मार्क्स तथा ऐन्जिल्स

1. इडविन एच० सदरलैण्ड एन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिंसिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (भारतीय संस्करण, बम्बई : 1968), पृ० 51.

1	2	3	4
(6) प्रारूपवादी, इटैलियन अथवा सकारात्मक सम्प्रदाय	1875 से लेकर 1915 तक	आकृति, मनोदोष तथा वंशानुक्रमण	लाम्ब्रोसो, गारफैलो, फेरी, हूटन तथा गोरिंग
(अ) लाम्ब्रोसियन अथवा इलैटियन सम्प्रदाय	1875	आकृतिमूलक अथवा जन्मजात अपराधी	लम्ब्रोसो, गारफैलो, फेरी तथा हूटन
(ब) मानसिक परीक्षण का सम्प्रदाय	1905	मानसमन्दिता तथा मनोव्याधियाँ	शोल्डन तथा गोडार्ड
(स) मनोचिकित्सकीय एवं रोगविषयक सम्प्रदाय	1905	मनोविकास	फ्रायड, अडलर तथा आटोरैन्क
(7) समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय	1915 से लेकर वर्तमान युग तक	सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक सम्बन्ध एवं समस्त सामाजिक वातावरण	लिसजेट, हैमेल, फवान्टस्की, डेवी, मीड, कूले, टामस, ह्वाइट तथा कोहेन, सदरलैंड, रेकलेस, टाफ्ट, केवन, लेमर्ट, बार्न्स, टीटर्स, गिलिन, टेनेन-बाम, सिरिल बर्ट, हीली, ग्लुक तथा शेल्डन
(8) बहुकारकीय सिद्धान्त	1950 के बाद	अपराधी व्यवहार विविध कारणों का एक स्वाभाविक परिणाम	सदरलैण्ड, रेकलेस, बार्न्स तथा टीटर्स आदि

अपराध की प्रेतशास्त्रीय व्याख्या का सम्प्रदाय

16वीं शताब्दी के पूर्व के समाज में मानव-व्यवहार-विचलन की समस्त समस्याओं की व्याख्या लौकिक कारकों के आधार पर न होकर अलौकिक अथवा पारलौकिक आधारों पर हुआ करती थी। समाज के विकास की यह वह अवस्था थी जिसमें मानव व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या करने की विधियों का जन्म नहीं हुआ था। अन्धविश्वास, पाप-पुण्य तथा आत्मा-परमात्मा की आधारशिलाओं पर खड़े उस समय के समाज में अपराध करने वाले व्यक्तियों को भूत-प्रेत तथा अदृष्टिगोचर दैवी शक्तियों के कुत्सित प्रभाव के वशीभूत माना जाता था। अशुभ दैवी शक्तियों के शिकंजे में जकड़ा हुआ व्यक्ति ही अपराध करने के योग्य माना जाता था। अपने अपराधिक कार्य के लिए व्यक्ति उत्तरदायी नहीं था क्योंकि लोगों का विश्वास था कि भूत-प्रेत आदि जैसी दैवी आत्माएँ या तो उसके सर पर बैठ गई हैं या उसकी आत्मा में प्रविष्ट कर गई हैं और उन्हींके वशीभूत होकर वह अपराध करने के लिए मजबूर हो गया है।

सामाजिक चिन्तन की इस अवस्था में मानव-ज्ञान-अर्जन की विधियाँ अवैज्ञानिक थीं जिनमें तार्किकता, प्रयोगात्मकता तथा विचारशीलता का अभाव था। सामाजिक विकास के साथ ही साथ अपराध की व्याख्या के भूत-प्रेत संबंधी सम्प्रदाय की लोकप्रियता धीरे धीरे समाप्त हो गई। बुद्धिवादी दर्शन के अभ्युदय के उपरान्त यह स्वीकार किया जाने लगा कि अपराध के कारणों की खोजबीन पारलौकिक आधारों पर न करके लौकिक आधारों पर करनी पड़ेगी। लोगों का विश्वास ज्ञान-अर्जन के उस सिद्धान्त में बढ़ गया जिसकी प्रमुख मान्यता थी कि मानव-व्यवहार-विचलन की समस्त समस्याओं के कारणों की व्याख्या व्यक्ति तथा समाज के अन्तर्गत पाई जाने वाली प्रवृत्तियों एवं स्थितियों के ही माध्यम से की जा सकती है।

मुक्त इच्छा (फ्री विल) का सिद्धान्त

बुद्धिवादी दर्शन, आधिभौतिक चिन्तन की परम्परा पर बल देता है और यह मान कर चलता है कि मानव एक विचारशील प्राणी है अतः वह जो भी कार्य करेगा, सोच समझ कर करेगा। इस दर्शन के अभ्युदय के साथ ही साथ अपराधी व्यवहार की प्रेतशास्त्रीय व्याख्या की लोकप्रियता समाप्त हो गई और अपराधी व्यवहार को मुक्त इच्छा के आधार पर किया जाने वाला व्यवहार माना जाने लगा। अपराध शास्त्र के क्षेत्र में मुक्त इच्छा के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यता यह थी कि अपराध व्यक्ति की मुक्त इच्छाओं के प्रकटीकरण की प्रक्रिया का एक

स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार से व्यक्ति सामाजिक रूप से अनुमोदित व्यवहार-प्रतिमानों को जानबूझ कर तथा सोच समझ कर अपनी जीवन-शैली का एक अभिन्न अंग बनाता है, ठीक उसी प्रकार से वह असामाजिक तथा अवैधानिक व्यवहार-प्रतिमानों को स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख मान्यता दण्ड को निर्धारित करने में इस बात पर बल देती थी कि अपराधी व्यक्ति के समस्त अपराधिक कार्यों का उत्तरदायित्व उसी पर है और उसे ही दोष या प्रशंसा का पात्र बनाना उचित होगा। इस सिद्धान्त के प्रचलन के युग में मृतक व्यक्तियों तथा पशुओं पर भी मुकदमें चलाने के अनेकों दृष्टांत ब्रिटिश क्रिमिनल ला में उपलब्ध हैं। उस युग में कानून विशेषज्ञों का यह मत था कि पागलों, मूढ़ व्यक्तियों तथा बालकों को दण्ड से या तो मुक्त कर दिया जाए या उनको प्रदान किये गये दण्ड की कठोरता में कमी कर दी जाए, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वे अपने समस्त कार्यों की वैधता एवं अवैधता को अपनी मुक्त इच्छा के आधार पर तय कर सकते हैं।

अपराधशास्त्र के इस मुक्त इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना करने वाले विद्वानों का कहना था कि हर एक अपराधी व्यक्ति के बारे में यह सोचना कि वह अपराधिक कृत्य जान बूझ कर करता है सही नहीं है, क्योंकि बहुत से ऐसे अपराधी होते हैं जो अपनी शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता, निम्न विचार-शीलता, अशिक्षा, अज्ञान तथा सामाजिक-आर्थिक दबावों के वशीभूत होकर अनचाहे प्रकार से अपराध कर बैठते हैं। इस प्रकार के अपराधियों को उनके अपराधिक कृत्यों के लिए सम्पूर्ण रूप से उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। इन आलोचकों का यह भी मत था कि अपराधी व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या का माध्यम "मुक्त इच्छा" न होकर अपराधी कार्य के पीछे छिपे उद्देश्य, वातावरण तथा नीयत होना चाहिये। ज्यों-ज्यों मानव-ज्ञान-अर्जन की वैज्ञानिक प्रणालियों का विकास होता गया, अपराधशास्त्र में भी उसी प्रकार से अपराधी व्यवहार की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों में परिवर्तन होते रहे और परिणाम-स्वरूप 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक मुक्त इच्छा के उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्त का पतन हो गया।

शास्त्रीय संप्रदाय

अपराध शास्त्र का शास्त्रीय सम्प्रदाय इंगलैण्ड में 19वीं शताब्दी के मध्य में विकसित होकर अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में प्रचलित हुआ। इस सम्प्रदाय का प्रमुख आधार सुखवाद था जिसके अनुसार मानव व्यवहार

सुख और दुःख के सोच-विचार पर आधारित होता है। चूँकि किसी कार्य के करने से प्राप्त पूर्वानुमानित सुख उस कार्य के न करने से प्राप्त पूर्वानुमानित दुःख के साथ सन्तुलित होता है अतः कर्ता अपना कार्य-सम्पादन किसी पूर्वानुमानित सुख-दुःख के आधार पर करता है। मानव स्वभाव की इस मान्यता को उस युग में अपराधिक व्यवहार की सम्पूर्ण एवं अन्तिम व्याख्या माना गया। बेकारिया ने 176+ में इस सिद्धान्त को दण्ड-निर्धारण के सन्दर्भ में प्रयोग किया।[1] उनका उद्देश्य दण्ड को कम से कम मनमाना तथा कठोर बनाना था। उन्होंने तर्कपूर्ण विधि से कहा कि जो भी व्यक्ति किन्हीं विशिष्ट कानूनों का उल्लंघन करते हैं उन्हें उनकी आयु, समझदारी, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति तथा परिस्थितियों को ध्यान में न रखते हुए, बिना कोई भेदभाव किये हुए, एक जैसा दण्ड दिया जाना चाहिए। बेकारिया के इस विचार का आधार था कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा तभी हो सकती है जबकि समस्त व्यक्तियों के साथ एक जैसा बर्ताव किया जाये और दण्ड की मात्रा को इस प्रकार से निर्धारित किया जाये जिससे कि अवैध कार्य के करने से प्राप्त सुख एवं दुःख के साथ सामंजस्य स्थापित हो सके। इस विचारधारा के अनुसार दण्ड इतना कठोर होना चाहिये जिससे कि दण्ड के प्राप्त दुःख उस अवैधानिक व्यवहार से प्राप्त सुख से अधिक हो सके।

बेकारिया की बहुचर्चित पुस्तक (आन क्राइम्स ऐण्ड पनिशमेन्ट्स) अपराधशास्त्र के शास्त्रीय सम्प्रदाय का प्रमुख आधार मानी जाती है। इस पुस्तक के माध्यम से बेकारिया ने इटली के उन अपराधिक कानूनों की आलोचना की जिसमें बर्बर तथा क्रूर दण्ड के प्रकारों को स्वीकार किया गया था। बेकारिया ने अपनी पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर लिखा :

> "दण्ड एक हिंसात्मक प्रतिक्रिया नहीं है। उचित दण्ड की विधि वही है जिसमें सभी व्यक्तियों को न्याय के सम्मुख समान समझा जाये, जिसमें न्याय शीघ्रता से प्राप्त हो, जिसमें न्याय उचित हो तथा जिसमें दण्ड की कठोरता का निर्धारण अपराधी व्यक्ति के जीवन की समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाये।"

बेकारिया के मत में दण्ड का उद्देश्य समाज के अस्तित्व को बनाए रखना है। दण्ड उतना ही कठोर तथा सरल होना चाहिए जितना कि अपराध साधारण या

---

1. सिजारे बेकारिया, ऐन एसे आन क्राइम्स ऐण्ड पनिशमेन्ट्स (लन्दन 1767)।

गम्भीर हो। उन्होंने समाज की रक्षा के लिए अपराध की घटनाओं को रोकने की बात पर बल देते हुए कहा कि दण्ड देने के साथ ही साथ अपराध निरोध के व्यापक कार्यक्रम समाज में चलते रहने चाहिए। बेकारिया ने दण्ड के भयात्मक उद्देश्य को स्वीकार किया और कहा कि दण्ड की कठोरता से कहीं अधिक प्रभाव दण्ड की अवश्यम्भाविता के बने रहने से पड़ता है। बेकारिया ने मृत्यु दण्ड को अवैध तथा अनावश्यक बताया।

बेकारिया की ही भाँति बेन्थम को इंगलैण्ड के अपराधी कानूनों में सुधार लानेवाले विधि विशेषज्ञों की पीढ़ी में एक प्रमुख व्यक्ति माना जाता है। अपराध तथा दण्ड के प्रश्नों पर बेन्थम द्वारा व्यक्त विचारों को शास्त्रीय सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक व्याख्याओं के अनुरूप पाया जाता है।[1] बेन्थम जिस सिद्धान्त को मान कर चलते थे उसका प्रमुख आधार था अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक खुशी। उन्होंने सामाजिक नियन्त्रण की जिस युक्ति को प्रतिपादित किया उसका केन्द्रीय विचार था समाज में उन कार्यों को घटाना जिनसे दुःख, पीड़ा तथा बुराई बढ़ती है। बेन्थम का विश्वास था कि सभी व्यक्ति अपने सुख-प्राप्ति के उद्देश्य को प्राथमिकता प्रदान करके कार्य करते हैं। चूँकि व्यक्ति आनन्द की प्राप्ति की खोज में दुःख के परिणामों से बचना चाहता है अतः उसका समस्त व्यवहार सुख एवं दुःख के मनोभावों से निर्देशित होता है। बेन्थम के अनुसार अपराधिक कानूनों का प्रमुख उद्देश्य उन व्यक्तियों को रोकना है जो अपनी खुशी के लिए दूसरों को हानि पहुँचाते हैं या उन्हें पीड़ा प्रदान करते हैं। इन कानूनों में वर्णित दण्ड प्रतिशोधात्मक न होकर अवरोधात्मक होने चाहिए। समाज विरोधी कार्यों को रोकने के लिए उन्होंने दण्ड की अनिवार्यता को तो स्वीकार किया परन्तु साथ ही साथ यह बात स्पष्ट रूप से कहीं कि दण्ड उतना ही सामान्य तथा विशिष्ट होना चाहिए जितनी कि अपराधिक कृत्य की सामान्यता तथा विशिष्टता हो। बेन्थम ने अन्त में कहा कि दण्ड की मात्रा का निर्धारण अवधि से प्रतिबद्ध न होकर ऐसी होनी चाहिए जिसमें न्यायाधीश को यह विवेक प्राप्त हो कि वह उस दण्ड की पूर्व-निर्धारित मात्रा को अपराध की घटनाओं तथा अपराधी की व्यक्तिगत परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कम या अधिक कर सके।

आलोचना

अपराधशास्त्र के शास्त्रीय सम्प्रदाय में जो विचार तथा मान्यताएँ निहित

---

1. जरेमी बेन्थम, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द प्रिंसिपिल्स आफ मारल्स ऐण्ड लेजिस्लेशन (लन्दन : 1823)।

हैं उनको आधुनिक विचारकों ने अपराध की एकांगी व्याख्या मानकर अस्वीकार कर दिया। इन विद्वानों के मतानुसार अपराधिक व्यवहार की व्याख्या केवल सुखवाद के आधार पर नहीं हो सकती है, क्योंकि सुखवाद का सैद्धान्तिक पक्ष अत्यन्त व्यक्तिपरक, बुद्धिवादी एवं संकल्पवादी है। सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने इस सम्प्रदाय की आलोचना करते हुए कहा कि इस सम्प्रादय के समस्त प्रवर्तक मुक्त इच्छा को उस सीमा तक स्वीकार कर लेते हैं जिसमें अपराध के कारणों की वैज्ञानिक खोजबीन तथा अपराध की रोकथाम के लिए किसी भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[1] मुक्त इच्छा अपराधी व्यवहार की व्याख्या का एक विशेष एवं प्रमुख कारक अवश्य हो सकता है परन्तु यह कहना सही नहीं होगा कि अपराध के अन्य कारक हैं ही नहीं। इस सम्प्रदाय की आलोचना कुछ विचारक इसलिए भी करते हैं क्योंकि इसमें अपराधी से अधिक अपराध पर बल दिया गया है। दण्ड शास्त्री इस सम्प्रदाय को स्वीकार करने में इसलिए हिचकते हैं क्योंकि इसमें दण्ड की कठोरता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया है। आलोचकों का यह भी कहना है कि चूँकि समस्त अपराध केवल सुख-प्राप्ति के विचार से नहीं किये जाते हैं अतः अपराधी कानूनों का निर्माण अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम सुख-प्राप्ति के लिए ही नहीं किया जाता है।

अपराधशास्त्र का भौगोलिक तथा परिस्थिति संबन्धी संप्रदाय

अपराधशास्त्र के भौगोलिक सम्प्रदाय के प्रवंतकों में अडोल्फ क्वेटलेट, ए० एम० ग्वेरी तथा मान्टेस्क्यू का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इस सम्प्रदाय का जन्म फ्रांस में हुआ परन्तु कालान्तर में इसे इंगलैंड तथा जर्मनी में अन्य अनेकों विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया। क्वेटलेट का मत था कि अपराधों की संख्या में चढ़ाव-उतार मौसम के अनुसार होता है, अर्थात् भौगोलिक परिस्थितियों तथा अपराधी घटनाओं में सीधा सम्बन्ध है। क्वेटलेट तथा ग्वेरी ने अपराध की व्याख्या के लिए जिस "थरमिक ला" का प्रतिपादन किया उसमें उन्होंने यह बताने की चेष्टा की कि अपराध पर्यावरण की शक्तियों का एक प्रतिफल है। उन्होंने कहा कि गर्मी में मार-पीट, हत्या तथा बलात्कार की घटनाएँ (अर्थात् व्यक्ति के विरुद्ध अपराध) अधिक होंगी तथा इसके विपरीत जाड़ों में चोरी, डकैती तथा राहजनी की घटनाएँ (अर्थात् सम्पत्ति के विरुद्ध

---

1. इडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (इण्डियन एडिशन, बम्बई : 1968) पृ० 52-53।

अपराध) अधिक होंगी। क्वेटलेट तथा ग्वेरी ने जिन भौगोलिक दशाओं से अपराध का सम्बन्ध बताने का प्रयत्न किया वे अधिक भीड़-भाड़ पूर्ण सामाजिक वातावरण, भूमि की उर्वरता, वर्षा की मात्रा तथा प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य तथा निम्नता को अपराधों की उत्पत्ति में प्रमुख मानती हैं। माण्टेस्क्यू द्वारा बताये गये "स्प्रिरिट आफ ला" के सिद्धान्त में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया कि मानव व्यवहार बहुत बड़ी सीमा तक भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। अपराध के भौगोलिक कारकों का वर्णन करते हुए उन्होंने दो प्रमुख बातें कहीं—

(1) भूमध्य रेखा के पास स्थित देशों में अपराध अधिक होंगे और ज्यों-ज्यों भूमध्य रेखा से मकर रेखा की ओर हम बढ़ते जायेंगे, अपराध की घटनायें कम होती जायेंगी।

(2) भूमध्य रेखा के आस-पास के देशों में गम्भीर अपराध अधिक होंगे परन्तु मकर तथा कर्क रेखा के निकट स्थित देशों में अपराधों का स्वभाव उतना गम्भीर नहीं रह जायेगा जितना कि भूमध्य रेखा के निकट स्थित देशों में पाया जाता है।

अनेक विद्वानों ने क्वेटलेट, ग्वेरी तथा मान्टेस्क्यू के उपर्युक्त विचारों का खण्डन किया और कहा कि यदि तापमान और अपराध में कोई सम्बन्ध है तो उसी तापमान के कारण कुछ व्यक्ति ही अपराध क्यों करते हैं ? चूंकि आधुनिक युग में मानव अपनी भौगोलिक परिस्थितियों का दास नहीं रह गया है, अतः इस सिद्धान्त की सत्यता बड़ी ही सन्देहपूर्ण प्रतीत होती है। अपराधी व्यवहार की व्याख्या का यह सम्प्रदाय अपराध के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक कारणों को नगण्य मानता है, जबकि वास्तविकता यह है कि आधुनिक समाज में भौगोलिक परिस्थितियां मानव व्यवहार को अधिक सीमा तक प्रभावित करने में असमर्थ हैं। विज्ञान ने भौगोलिक परिस्थितियों को नियन्त्रित करके उन्हें अपने वश में कर लिया है।

अपराधशास्त्र के भौगोलिक सम्प्रदाय के पतन के उपरान्त 1880 के बाद के कुछ अपराध शास्त्रियों ने पर्यावरण की शक्तियों को अपराध की व्याख्या का आधार बनाया। टार्डे, कोरे, तुराती, बैटाग्लिया, लैफर्ग, कोलाजनी, रासन, बान्टर, प्रेसर, शा एवं मैके ने उन पर्यावरण की शक्तियों का वर्णन अपराध की व्याख्या में किया जो एक विशेष पर्यावरण में पनपती हैं और अपराध को बढ़ावा देती हैं। ये शक्तियाँ नगरीकरण, औद्योगीकरण, जनसंख्या के घनत्व, गरीबी

तथा आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने ग्रामों तथा नगरों में अपराध तथा बाल अपराध की समस्या का अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि बड़े औद्योगिक नगरों में, जिनकी जनसंख्या अधिक है, अपराधों की संख्या अनौद्योगिक नगरों से कम होती है । इसके साथ ही साथ इन विद्वानों का निष्कर्ष यह भी था कि शहर के उस क्षेत्र में अपराध तथा बाल अपराध की घटनाएँ अधिक होंगी जिसे गन्दी बस्ती का क्षेत्र समझा जाता है और जहाँ रहन-सहन की दशाएँ खराब हैं, जहाँ मकान टूटे-फूटे हैं, जहाँ गन्दगी, अशिक्षा, अज्ञान, गरीबी तथा बाल मनोरंजन की सुविधाएँ नहीं उपलब्ध हैं ।

अपराध के परिस्थितीय सम्प्रदाय को आज भी आंशिक रूप से स्वीकार किया जाता है । आलोचक केवल इतना ही कहते हैं कि उपर्युक्त वर्णित परिस्थितियाँ अपराध की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण हो सकती हैं परन्तु यह कहना कि अपराध की उत्पत्ति में उन्हीं का सम्पूर्ण योगदान है, सही नहीं है ।

अपराधशास्त्र का समाजवादी सम्प्रदाय

अपराधशास्त्र का यह सम्प्रदाय कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एन्जिल्स के विचारों पर आधारित है । इसकी उत्पत्ति 1850 के आस-पास प्रचलित की गई आर्थिक निर्धारणवाद की अवधारणा के माध्यम से हुई । इस सम्प्रदाय की प्रमुख मान्यता यह है कि अपराध आर्थिक दशाओं का एक फल मात्र है । मार्क्स ने बाम्गर के विचारों का अनुमोदन किया और कहा कि समाज की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था गरीबी को जन्म देती है और गरीबों के शोषण के लिए मार्ग प्रशस्त करती है । इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था समाज में वर्ग-संघर्ष को उत्पन्न करने में सहायक होती है और गरीबों को अमीरों के विरुद्ध हथियार उठाने के लिए विवश करती है । मार्क्स तथा ऐन्जिल्स का मत था कि विभिन्न समाजों में अपराधों की घटती बढ़ती दर का प्रमुख कारण उन समाजों में पाई जानेवाली आर्थिक व्यवस्था है अर्थात् आर्थिक दशाओं की अनुकूलता के आधार पर अपराध की दर में कमी वा वृद्धि का निर्धारण किया जा सकता है ।

सरल शब्दों में इस सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित प्रमेयों को दरिद्रता तथा अपराधिकता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध निर्धारण का एक प्रयत्न माना जाता है । दरिद्रता को आदिकाल से ही अपराध की व्याख्या का अत्यन्त लोकप्रिय आधार माना जाता रहा है । इटली के एक विद्वान् इटोरे फोर्नासार डिवर्से ने 1894 में इटली के अपराधियों पर किये गये एक अध्ययन में यह पाया कि 60 प्रतिशत सजा पाये अपराधी गरीब थे और जिनमें से 85 प्रतिशत से लेकर 90 प्रतिशत अप-

राधियों ने अपनी गरीबी के कारण अपराध किया था। डच अपराधशास्त्री विलियम बान्गर ने गरीबी को अपराध का एक प्रमुख कारण माना। उन्होंने यह कहा कि दरिद्र तथा बेकार व्यक्ति अपराध करने के लिए लालायित रहते हैं।[1] बाल-अपराध के क्षेत्र में किये गये कुछ अध्ययनों में दरिद्रता को बाल-अपराध का एक प्रमुख कारण बताया गया।

आलोचना

इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता के बावजूद इस सिद्धान्त की बड़ी कठोर आलोचना की गई। आलोचक विद्वानों का मत था कि यदि दरिद्रता अपराध की जननी है तो सभी दरिद्रों को अपराधी बन जाना चाहिए। चूँकि ऐसा नहीं होता अतः दरिद्रता को अपराध की व्याख्या का केवल एक ही आधार माना जा सकता है। ओलोचकों ने यह भी कहा कि यदि केवल दरिद्र लोग ही अपराध करते हैं तो फिर हमें साधन-सम्पन्न अमीर व्यक्ति अपराध करते क्यों दिखाई देते हैं ? आवश्यकता ही आपराध का कारण नहीं है। लालच भी अपराध का कारण बन जाता है। यह कहना कि अधिकांश सजा पाये अपराधी व्यक्ति गरीबी में पले हुए होते हैं, इसलिए सही है क्योंकि अमीर व्यक्ति पुलिस की पकड़ से बच जाते हैं तथा उनके जेल पहुँचने की सम्भावना हर समाज में दरिद्र व्यक्तियों की अपेक्षा कम रहती है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने इतना अवश्य स्वीकार किया कि छोटे-मोटे आर्थिक अपराध—दूकान की चोरी, सेंधमारी, गिरहकटी, राहजनी आदि—अधिकांशतः उन व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं जिनकी निजी या परिवार की भौतिक आवश्यकताएँ दरिद्रता के कारण संतुष्ट नहीं हो पाती हैं।

अपराधशास्त्र का प्रारूपवादी, इटेलियन अथवा सकारात्मक सम्प्रदाय

अपराधशास्त्र का प्रारूपवादी, इटेलियन अथवा सकारात्मक सम्प्रदाय अपनी सामान्य तार्किकता तथा अध्ययन प्रणाली के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि अपराधी गैरअपराधी व्यक्तियों से अपनी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर भिन्न होते हैं। उनका व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। उनके व्यक्तित्व में निहित शारीरिक तथा मानसिक विशेषताएँ जन्मजात होती हैं और ये ही विशेषताएँ उन्हें अपराध करने के लिए प्रेरित करती

---

1. विलियम ए० बान्गर, क्रिमिनैलिटी ऐण्ड इकोनामिक कण्डिशन्स, (बोस्टन : 1916).

है। इस सिद्धान्त के प्रवंतकों ने सामाजिक प्रक्रियाओं को अपराध की व्याख्या के लिए आवश्यक नहीं माना। अपराधी व्यवहार की व्याख्या के लिए इस सम्प्रदाय के प्रवंतकों ने विभिन्न कारकों को आधार बनाया और जिसके कारण यह सम्प्रदाय निम्नलिखित तीन शाखाओं में विभक्त हो गया :—

(1) लाम्ब्रोसियन अथवा इटैलियन सम्प्रदाय।
(2) मानसिक परीक्षण सम्बन्धी सम्प्रदाय।
(3) मनोविश्लेषणात्मक अथवा मनोचिकित्सकीय सम्प्रदाय।

लाम्ब्रोसियन अथवा इटैलियन सम्प्रदाय

बेकारिया के करीब सौ साल बाद लाम्ब्रोसो ने 1876 में एक पत्रिका प्रकाशित की जिसका नाम था दि क्रिमिनल इन रिलेशन टु अन्थ्रोपालोजी, जूरिसप्रूडेन्स ऐन्ड साइकेट्री। इस पत्रिका में प्रचारित मत को उन्होंने अपने अन्य प्रकाशनों में मजबूत किया और उसी के आधार पर बेकारिया की ही भाँति उन्होंने दण्ड के शास्त्रीय तथा नवशास्त्रीय सम्प्रदायों की आलोचना की। लाम्ब्रोसो को उस सम्प्रदाय का जनक माना जाता है जिसे अपराधशास्त्री इटैलियन सम्प्रदाय की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस सम्प्रदाय की प्रमुख प्रतिज्ञप्तियाँ निम्नांकित हैं :—

(अ) अपराधी जन्म से ही एक विशेष शारीरिक प्रकार को पाये हुए होते हैं, अर्थात् उनके शरीर की बनावट एक विशिष्ट प्रकार की होती है।

(ब) उनका यह विशिष्ट शारीरिक प्रकार अनेक क्षत चिह्नों तथा शारीरिक विकृतियों एवं असमान्यताओं के आधार पर जाना जा सकता है, अर्थात् अपराधियों को उनके विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के आधार पर पहचाना जा सकता है।

(स) जिन विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के आधार पर अपराधी गैर-अपराधी व्यक्तियों से भिन्न होते हैं वे निम्नांकित हैं : असम्मित खोपड़ी, अनियमित आकार का मस्तक, काले और मोटे बाल, कम बालों वाली भौंहें, दोषपूर्ण आकार की चौड़ी तथा चिपटी नाक, लम्बे तथा मोटे कान, कम बालों वाली दाढ़ी, फटे हुए मोटे ओंठ, असामान्यतया अविकसित दाँत तथा न्यून संवेदनशीलता।

(द) उनके ये शारीरिक दोष अपने में ही अपराध का कारण नहीं हैं वरन् उस प्रकार के व्यक्तित्व की ओर संकेत करते हैं जो अपराधिक व्यवहार की ओर सरलता से आकर्षित हो सकता है।

लाम्ब्रोसो के इन विचारों की तार्किकता को तभी समझा जा सकता है जब कि लाम्ब्रोसो की शैक्षिक, व्यावसायिक तथा अनुसंधानात्मक पृष्ठ-भूमि को देखा जाये।

लाम्ब्रोसो का जन्म इटली में 1836 में हुआ था। वह एक चिकित्सक थे और उन्होंने मनोचिकित्सा में विशेषीकरण प्राप्त किया था। वह सेना के एक चिकित्सा संस्थान में मनोचिकित्सक थे और उसी अवधि में उन्होंने इटली के सैनिकों के मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन किया। इस अध्ययन में उन्होंने पाया कि दुष्ट सैनिक अन्य सैनिकों से अपनी शारीरिक बनावट के आधार पर भिन्न थे। इसी अध्ययन प्रणाली को अपना कर उन्होंने अपराधियों का अध्यय नकिया और यह पाया कि पागल, अपराधी और सामान्य व्यक्ति अपनी शारीरिक बनावट में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। अपराधियों का विशिष्ट अध्ययन उन्होंने इटली की जेलों में किया। इन अध्ययनों के द्वारा उन्होंने अपराधियों की निम्नलिखित श्रेणियां पाईं :—

(1) जन्मजात अपराधी।
(2) पागल अपराधी।
(3) कामुक अपराधी।
(4) आकस्मिक अपराधी—
    (अ) दिखावटी अपराधी।
    (ब) आदती अपराधी।
    (स) क्रिमिनलायड।

लाम्ब्रोसो द्वारा बताये गये प्रमुख अपराधी प्रकारों का वर्णन निम्नांकित ढंग से हो सकता है :—

जन्मजात अपराधी

वह अपराधी व्यक्ति जो अपने जन्म से ही अपराधी प्रवृत्तियों को अपने कुलागत रोगों से ग्रस्त होने के कारण धारण किये होते हैं। जिन विशिष्ट शारीरिक विशेषताओं को वे वंशानुक्रम के द्वारा प्राप्त करते हैं वे विशेषताएँ उनको अपने पूर्वजों की पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आने वाली व्यावहारिक विशेषताओं के स्वरूप हस्तान्तरित होती हैं।

पागल अपराधी

वह अपराधी व्यक्ति जो मूढ़, मन्दबुद्धि या अन्य मानसिक विकारों से ग्रस्त है, जैसे फालिज, पागलपन, चर्मग्राह, मिरगी तथा वातोन्माद (हिस्टीरिया)।

कामुक अपराधी

वह अपराधी व्यक्ति जो बुद्धिमान होने के बावजूद भी भावातिरेक में अपराध कर बैठते हैं और अपने को समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं धार्मिक मूल्यों को स्वीकार करने में असमर्थ पाते हैं।

आकस्मिक अपराधी

वह अपराधी व्यक्ति जो जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक दोषों अथवा विकारों से ग्रस्त नहीं होते हैं परन्तु जो उस प्रकार की मनोदशा रखते हैं जिसके कारणवश वह किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में अपराध कर बैठते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति वास्तव में अपराधी नहीं हैं परन्तु उनका व्यवहार अपराधियों जैसा इसलिए होता है कि वह किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के बीच फँसकर अपराध करने के लिए विवश हो जाते हैं। जन्मजात और इस प्रकार के अपराधियों में अन्तर शारीरिक न होकर मानसिक होता है।

इनरिको फेरी

अपराधशास्त्र के इटैलियन सम्प्रदाय के प्रवर्तक लाम्ब्रोसो के अन्य प्रमुख अनुयायियों में फेरी का स्थान महत्वपूर्ण है। वह 1879 में लाम्ब्रोसो के शिष्य बने और 1881 में उन्होंने अपनी पुस्तक दि होमीसाइड प्रकाशित की। इस बहुचर्चित पुस्तक में उन्होंने अपराधियों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् उन्होंने उसी वर्ष अपनी दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक दि क्रिमिनल सोश्यालोजी प्रकाशित की।

लाम्ब्रोसो की विचारधारा के साथ अपनी सहमति प्रकट करने के साथ साथ उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि अपराध के कारणों को जानने के लिए सामाजिक कारकों की भूमिका को जानना आवश्यक है। उन्होंने अपनी इस बात को बड़े तार्किक रूप से प्रस्तुत किया। उनके अनुसार अपराध के तीन प्रमुख कारक हैं :—(1) भौतिक कारक जिनमें भौगोलिक, जलवायु तथा तापमान सम्बन्धी कारकों की व्याख्या सम्मिलित है; (2) मानव शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक कारक तथा (3) सामाजिक कारक जिनमें आर्थिक, राजनीतिक तथा अपराधी की आयु, लिंग, शिक्षा, धर्म आदि की व्याख्या आवश्यक है।

फेरी को उनके अपराधी परिपूर्णता (ला आफ क्रिमिनल सैचुरेशन) के आधार पर भी जाना जाता है जिसके प्रतिपादन में उन्होंने बताया कि अपराध की घटनाओं की संख्या में चढ़ाव-उतार सामाजिक दशाओं में परिवर्तन के फलस्वरूप होता है।

फेरी ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनल ला (1928) में अपने द्वारा प्रतिपादित विचारों को स्पष्ट रूप से वर्णित किया। उन्होंने कहा :—

(1) अपराधिक कानून में मुक्त इच्छा की अवधारणा को कोई विशेष महत्व नहीं प्रदान किया जाना चाहिए।
(2) अपराधिक न्याय का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक रक्षा है।
(3) अपराध की उत्पत्ति के तीन प्रमुख कारक।
(4) पाँच श्रेणियों में अपराधियों का वर्गीकरण।
(5) अपराध की प्रेरणा दण्ड-निर्धारण का प्रमुख आधार।
(6) मानसिक विकारों से पीड़ित अपराधियों के लिए उपचारात्मक जेलें।
(7) जूरी व्यवस्था का उन्मूलन। तथा
(8) अपराधी व्यवहार के अध्ययन का अपराधी-मूलक आधार।

फेरी ने अपनी इस पुस्तक में अपराधियों के पाँच प्रमुख प्रकार बताये :—

(1) जन्मजात अथवा स्वाभाविक अपराधी जो अपनी पैतृकता के द्वारा उन सहज प्रवृत्तियों को धारण किये होते हैं जिनके कारणवश उनमें अपराधिकता के सामाजिक-आर्थिक दबावों को ठुकरा पाना मुश्किल होता है।
(2) पागल तथा मनोदोष रखनेवाले अपराधी।
(3) मनोभाविक अपराधी जो क्रोध, प्रकोप, उत्साह, उमंग, धुन तथा सनक के मनोवेगों के प्रभाव में आकर अपराध करते हैं।
(4) आकस्मिक अपराधी जो अपने जीवन की दुर्गम परिस्थितियों में फँसकर अपराध कर बैठते हैं, परन्तु जिनमें अपराधी मनोवृत्तियाँ नहीं होती हैं।
(5) स्वाभाविक अपराधी, जो स्वभाव से ही अपराध करने की प्रवृत्ति धारण किये होते हैं और जिनकी यह प्रवृत्ति उनके परिवार, समुदाय तथा पास-पड़ोस में विकसित होती है और बाद में अपराध को उनका व्यवसाय बना देती है।

गारफैलो

इटैलियन सम्प्रदाय के तीन प्रमुख प्रवर्तकों में गारफैलो का नाम अन्तिम है। वह अपने व्यावसायिक जीवन के प्रथम वर्षों में मजिस्ट्रेट थे और उसके उपरान्त नेपिल्स विश्वविद्यालय में क्रिमिनल ला के प्रोफेसर का कार्यभार सँभाला। 1903 में वह इटली के न्याय मन्त्री बने और उन्होंने इटली के कानून में प्रमुख संशोधन लाने के लिए एक विशेष बिल पारित करवाया।

उन्होंने अपराध शास्त्र से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें निम्नलिखित अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—क्रिमिनल अटेम्प्ट बाई इनसफीशेण्ट मीन्स, दि टू मैनर आफ ट्रायल ऐण्ड सेन्टेन्स, इनडेमनीफिकेशन आफ परसन्स इनजर्ड बाई क्राइम, दि सोशलिस्ट सुपरस्टीशन तथा इन्टरनेशनल सालीडेरिटी इन दि रिप्रेशन आफ क्राइम। अपराध शास्त्र के क्षेत्र में जिस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई उसका नाम था क्रिमिनालोजी जो उन्होंने 1885 में प्रकाशित की।

अपने अन्य सहयोगियों (लाम्ब्रोसो एवं फेरी) के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अपराध की समस्या को केवल वैज्ञानिक अध्ययनों के आधार पर समझा जा सकता है। उन्होंने कहा कि अपराधी के स्वभाव तथा उसकी जीवन परिस्थितियों के अध्ययन के बिना अपराध का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। वह लाम्ब्रोसो तथा फ़ेरी से निम्नांकित मुद्दों पर भिन्न विचार रखते थे :—

(1) अपराध की परिभाषा
(2) अपराधियों का वर्गीकरण
(3) अपराधी की मनोविकृतियों पर बल तथा
(4) न्यायिक सुधार की महत्ता।

उनके अनुसार अपराध वह कार्य है जिससे सभ्य मानव-जाति में प्राप्त दया एवं ईमानदारी की भावनाओं को ठेस पहुँचती है और जो समाज के लिए हानिकारक है। उन्होंने अपराधियों को चार वर्गों में बाँटा—(1) हत्यारे, (2) हिंसात्मक अपराधी, (3) अपराधी जिनमें ईमानदारी की कमी है तथा (4) लम्पट एवं कामुक अपराधी।

इटैलियन या प्रारूपवादी सम्प्रदाय की आलोचना

मानवशास्त्रीय अध्ययनों ने यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया है कि पूर्वऐतिहासिक मानव तथा समकालीन आदिम मानव की शारीरिक रचना का विकास इस प्रकार से नहीं हुआ जैसा कि लाम्ब्रोसो और उनके अनुयायी मानते थे। इसीलिए लाम्ब्रोसो के बाद के मानवशास्त्रियों ने अपने रोग-नैदानिक मनोचिकित्सीय अध्ययनों में यह सिद्ध किया कि मिर्गी या पागलपन का अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्वानों की इस आलोचना को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हुए लाम्ब्रोसो, फेरी तथा गारफैलो ने अपने मतों को संशोधित किया।

लाम्ब्रोसो सम्प्रदाय का वैज्ञानिक खण्डन ब्रिटेन के डा० चार्ल्स गोरिंग ने

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि इंगलिश कनविक्ट[1] में किया। डा० गोरिंग इंगलैण्ड की जेलों के मुख्य चिकित्सक थे और उन्होंने प्रसिद्ध सांख्यिक डा० कार्ल पियर्सन के सहयोग से कैदियों की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन किया। अपने अध्ययन के प्रमुख निष्कर्ष को उन्होंने अपने लेख में इस प्रकार से वर्णित किया : "हमने अपने सुविस्तृत अध्ययन में अपराधियों की अनेक शारीरिक दशाओं की तुलना अन्य अपराधियों तथा कानून पालन करने वाली जनता (जो अपराधी नहीं है) के साथ की। हमारे निष्कर्ष कहीं भी इस बात को पुष्टि नहीं करते कि अपराधी शारीरिक बनावट के कारण अन्य व्यक्तियों से भिन्न हैं। वास्तविकता यह है कि अपराधी शारीरिक बनावट के आधार पर कानून पालन करने वाले वर्ग से बहुत मिलते जुलते हैं। इसलिए अवश्यक रूप से यह कहा जा सकता है कि अपराधियों का कोई विशिष्ट भौतिक प्ररूप नहीं होता है"।[2]

यद्यपि अन्य अपराधशास्त्रियों ने गोरिंग के विचारों से अपनी सहमति व्यक्त की परन्तु उन सभी ने माना कि अपराधियों के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान की परम्परा को बढ़ाने में लाम्ब्रोसो और उनके सहयोगी फेरी तथा गारफेलो का योगदान सराहनीय था। बार्न्स एवेटीटर्स ने कहा कि यह माना जा सकता है कि लाम्ब्रोसो उस स्थान पर सही नहीं थे जब कि वह इस बात की स्वीकृति पर बल दे रहे थे कि अपराधी जन्मजात होते हैं। परन्तु इस सब के बावजूद भी उनका योगदान अपराधशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन में बड़ा महत्वपूर्ण है। वास्तव में उन्हीं के अध्ययनों के आधार पर उस अपराधिक मानव विज्ञान का जन्म हुआ जिसकी 19वीं शताब्दी में जनसाधारण में बड़ी प्रसंशा की जाती थी। बार्न्स एवं टीटर्स की इसी बात को थार्सटिन सेलिन ने बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से कहा :

> "अन्तिम विश्लेषण में यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि लाम्ब्रोसो सही या गलत था, जितना कि यह मानना कि उसके विचार इतने चुनौतीपूर्ण सिद्ध हुए कि अनेक अपराधशास्त्री अपराधियों के बारे में वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए बाध्य हो गए। कोई भी विद्वान जो अपने अनेकानेक सहयोगियों को सत्य की खोज के लिए प्रेरित कर सकने में समर्थ है और जिसके विचार अनेक सदियों तक सशक्त तथा सराहनीय रह सकते हैं, इतिहास में सम्मानपूर्ण स्थान पाने का पूरा हकदार है।"

---

1. चार्ल्स गोरिंग दि इंगलिश कनविक्ट (लन्दन : 1913).
2. चार्ल्स गोरिंग "दि इंगलिश कनविक्ट", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 19, नम्बर 4, दिसम्बर, 1955.

इटैलियन या सकारात्मक सम्प्रदाय की उपलब्धियाँ

इस सम्प्रदाय की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं :—

(1) इस सम्प्रदाय ने दण्डशास्त्र के वैधिक, न्यायिक तथा आध्यात्मिक आधारों के अध्ययन से हट कर अपराधी तथा अपराध की दशाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना अधिक महत्वपूर्ण माना। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस सम्प्रदाय ने अपराध एवं दण्ड विचारकों का ध्यान दण्डशास्त्र से हटा कर अपराधशास्त्र की ओर आकर्षित किया।

(2) इस सम्प्रदाय ने दण्ड के उद्देश्यों में मूलभूत परिवर्तन करने का सुझाव दिया और कहा कि (अ) प्रतिशोध दण्ड का सही आधार नहीं है; (ब) भयात्मक दण्ड केवल उन्हीं अपराधियों के लिए उपयुक्त विधि है जो अपने कार्य की असामाजिकता, अवैधानिकता तथा उसके परिणामों को सोच समझ सकते हैं; (स) सुधार पर अधिक बल दिया गया और यह कहा गया कि सुधार सभी अपराधियों का नहीं हो सकता तथा सुधार की विधियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के अपराधियों के लिए भिन्न भिन्न होनी चाहिए; (द) अपराधी के सुधार का प्रमुख उद्देश्य समाज की सुरक्षा होना चाहिए; (य) अपराध की रोक थाम के लिए आवश्यक है कि उन व्यक्तियों को पहले से ही खोज लिया जाये जो अपराधी प्रवृत्तियों को धारण करते हैं तथा साथ ही साथ उन बाह्य दशाओं में परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाये जो व्यक्ति को अपराधी बनाती हैं।

इटैलियन सम्प्रदाय का अमरीकी रूपान्तर

यद्यपि चार्ल्स गोरिंग की पुस्तक दि इंगलिश कनविक्ट ने 1913 में ही लाम्ब्रोसो तथा उसके अनुयायियों के विचारों को गलत सिद्ध कर दिया था परन्तु फिर भी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में अमरीकी अपराधशास्त्रियों ने इटैलियन सम्प्रदाय की कुछ मान्यताओं को सही मानकर उनपर वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किये। इस प्रकार के सभी विद्वानों के विचारों को अपराधशास्त्र में शरीर-गठन सम्प्रदाय की संज्ञा से जाना जाता है।

अपराधशास्त्र का शरीर-गठन सम्प्रदाय (जो विशेष रूप से अमेरिका में विकसित हुआ) अपनी उत्पत्ति के लिए कपाल-विज्ञान का देनदार है। इस सम्प्रदाय ने अपराध के कारणों की ईश्वरपरक तथा आध्यात्मिक व्याख्याओं का खण्डन किया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक इस बात को स्वीकार करते थे कि शरीर में चेहरा सबसे अच्छा अंग है। यद्यपि आज कपाल-विज्ञान को एक नीम-हकीमी से

अधिक कुछ नहीं माना जाता है परन्तु करीब सौ साल पहले इस विज्ञान को बड़े ही आदर के साथ स्वीकार किया जाता था। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आगस्त कोन्त तथा वियना के ख्यातिप्राप्त चिकित्सक विलियम जोन्स इस शास्त्र से बहुत प्रभावित थे। वियना के डाक्टर फैन्ज जोसेफ गाल (1758-1828) ने कपाल शास्त्र की मान्यताओं के आधार पर अपराधी व्यवहार का अध्ययन किया।

परन्तु जब मनोविज्ञान का विकास एक वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में हुआ तब लोगों का विश्वास कपाल विज्ञान से उठ गया। इस विज्ञान के आलोचकों ने कहा कि मानव व्यवहार इतना जटिल है जिसकी व्याख्या केवल कपाल की बनावट के आधार पर नहीं हो सकती है।

जिन अमरीकी विद्वानों ने शरीर-गठन सम्प्रदाय की मान्यताओं को अपराध की व्याख्या में सत्य माना उनमें से अरनेस्ट ए० हूटन[1] तथा विलियम एच० शेल्डन[2] की चर्चा प्रमुख रूप से की जाती है। हूटन तथा शेल्डन ने अपनी पुस्तक क्राइम ऐन्ड दि मैन तथा वैरायटीज आफ टेम्परामेन्ट में इन्डोक्रिनालोजी (स्राव-कोष विज्ञान) का अपराधी व्यक्तित्व की व्याख्या में प्रयोग किया और लुइस बरमन[3] से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि व्यक्ति अपनी नलिकाविहीन ग्रन्थियों की कुक्रिया के कारण अपराधी बनते हैं।

हूटन ने चार्ल्स गोरिंग के उन निष्कर्षों को सही नहीं माना जिनमें लाम्ब्रोसो के विचारों का खण्डन किया गया था और यह कहा गया था कि न तो अपराधी जन्मजात होते हैं और न वे अपनी शारीरिक बनावट के आधार पर अन्य व्यक्तियों से भिन्न होते हैं। हूटन ने अपने अध्ययन द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अपराध या अन्य असामाजिक व्यवहार शारीरिक तथा प्रजातीय कारकों का फल है। अपराध की रोकथाम के लिए हूटन ने कहा कि दोषपूर्ण व्यक्तित्व के लोगों को इस योग्य नहीं रखना चाहिए जिससे कि वे बच्चे उत्पन्न कर सकें और उसके बाद अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहिए। उन्होंने कहा कि अपराध-निरोध की दिशा में यह कदम बड़ा महत्वपूर्ण होगा।

---

1. अरनेस्ट ए० हूटन, क्राइम ऐन्ड दि मैन (कैम्ब्रिज : हारवर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1939).
2. विलियम एच० शेल्डन, वैराइटीज आफ टेम्परामेन्ट (न्यूयार्क : हारपर, 1942).
3. लुइस बरमन, दि ग्लैन्ड्स रेगुलेटिंग परसनैलिटी (न्यूयार्क : मैकमिलन, 1921).

हूटन के बाद शेलडन ने इस विचारधारा को मजबूत किया और कहा कि व्यक्तियों को उनकी शारीरिक बनावट की भिन्नता के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है :—

(1) इन्डोमारफिक—वे व्यक्ति जिनकी शारीरिक बनावट सुडौल है, जिनके शरीर के अंग एक अनुपातिक तौर पर बने हैं और जिनकी चमड़ी कोमल है ।

(2) मेसोमारफिक—वह व्यक्ति जिनका शरीर मांसल है तथा जिनकी शिराएँ, हड्डियाँ, गर्दन एवं कलाइयाँ मजबूत हैं ।

(3) इक्टोमारफिक—वे व्यक्ति जिनकी हड्डियाँ कमजोर हैं, जिनका चेहरा छोटा है, पसलियाँ दिखाई देती हैं और जो अपनी सम्पूर्ण शारीरिक बनावट के आधार पर नाजुक या दुबले कहे जा सकते हैं ।

शेलडन ने आगे बताया कि इन तीन प्रकार की शारीरिक बनावट के आधार पर तीन प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति पाये जाते हैं :—

(1) विसीरोटानिक—वे व्यक्ति जो आराम पसन्द करते हैं, जिनको विलासितापूर्ण जीवन अच्छा लगता है, जो अच्छे भौतिक वातावरण में रहना चाहते हैं तथा जिनका स्वभाव उनके खुले व्यक्तित्व का परिचायक है ।

(2) सोमेटोटानिक—वे व्यक्ति जो कार्यशील, फुर्तीले तथा परिश्रमी हैं ।

(3) सेरीब्रोटानिक—वे व्यक्ति जो अन्तर्मुखी, संवेदनशील तथा एकान्त-प्रिय हैं और जिन्हें थकान या नींद न आने की शिकायत बनी रहती है । इस प्रकार के व्यक्ति शान्तिपूर्ण वातावरण पसन्द करते हैं और भीड़-भाड़ पूर्ण माहौल से दूर भागते हैं ।

ग्लुऐक एवं ग्लुऐक ने अपनी दो बहुचर्चित पुस्तकों[1] में शेलडन के विचारों का आंशिक अनुमोदन किया और कहा कि बाल अपराधी व्यवहार की उत्पत्ति में बालक के शरीर की रचना एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है ।

आलोचना

आर्ज वोल्ड ने हूटन तथा शेलडन के मत की आलोचना करते हुए कहा कि वयस्क एवं बाल अपराध के व्यवहार की व्याख्या शारीरिक गठन के आधार

---

1. शेलडन ग्लुऐक तथा इलीनर ग्लुऐक, अनरेवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : कामनवेल्थ फन्ड, 1950) एवं फिजीक ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : हारपर, 1926).

पर करने के सभी प्रयत्न हवा में मुक्का चलाने की प्रक्रिया को वर्णित करते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों के पास कोई ऐसा माना जानेवाला सबूत नहीं है जिसका सम्बन्ध सामाजिक एवं वैधिक रूप से परिभाषित अपराधी व्यवहार से तर्क पूर्ण ढंग से जोड़ा जा सके।[1] अपराधशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान करनेवाले अन्य समाजशास्त्रियों तथा मानव विज्ञान विशेषज्ञों ने हूटन तथा शेल्डन के सिद्धान्त के बारे में कहा कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों के विचार अपराध के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं अतः उनके माध्यम से कोई अकाट्य सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया जा सकता है।

अपराधशास्त्र का आधुनिक नैदानिक सम्प्रदाय

अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्र में आधुनिक नैदानिक सम्प्रदाय के विकास का इतिहास उन आधुनिक विज्ञानों के विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है जो मानव व्यवहार के अध्ययन से सम्बन्धित हैं। यह सम्प्रदाय इटैलियन सम्प्रदाय की ही भाँति अपराधी का अध्ययन करता है, अपराध का नहीं। अन्तर केवल इतना है कि इटैलियन सम्प्रदाय अपराधी के शारीरिक गठन तथा उसकी जन्मजातता को अपराध का प्रमुख कारण मानता है जबकि आधुनिक नैदानिक सम्प्रदाय इस बात को मानकर चलता है कि अपराधी व्यवहार अपराधी के व्यक्तित्व सम्बन्धी दोषों का परिचायक है। इस सम्प्रदाय के माननेवालों ने अपराधी व्यवहार की व्याख्या में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा मनोचिकित्सा की उन सैद्धान्तिक मान्यताओं पर बल दिया जो अपराध को एक मनोसामाजिक विकार मानकर चलती हैं। इस सम्प्रदाय के विद्वानों का मत है कि अपराध मनोविकृतियों, नैतिक उन्मादों, संवेगात्मक बाधाओं तथा मनोरोगों का फल है।

हेनरी गोडार्ड अपराधशास्त्र के मानसिक परीक्षण सम्बन्धी सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका मत था कि अधिकांश अपराधी मन्द बुद्धि के होते हैं और उनकी मन्दबुद्धिता पैतृक होती है उनकी अपराधिकता उनकी मानसिक अक्षमता तथा कानून के उद्देश्यों एवं परिणामों को न समझ पाने का एक स्वाभाविक फल होती है।[2] कोरे ने गोडार्ड के मत का खंडन किया और कहा कि मन्दबुद्धिता या मानसमन्दन बाल अपराधी व्यवहार की व्याख्या में सर्वमान्य नहीं बन सकता

---

1. जार्ज वोल्ड, थ्योरेटिकल क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958), पृ० 74.
2. एच० एच० गोडार्ड, फीबिलमाइन्डेडनेस (न्यूयार्क : 1914).

है। उनका कहना था कि जब समस्त मन्द बुद्धिवाले व्यक्ति अपराधी नहीं बन जाते तब यह कहना कि मन्दबुद्धिता अपराध का प्रमुख कारण है, सही नहीं माना जा सकता है।[1] सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्र अपराधियों के अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि इस प्रकार के अपराधी मन्द बुद्धि के न होकर कुशाग्र बुद्धि के होते हैं। उनके मतानुसार मानसिक दुर्बलता अपराध का प्रमुख कारण नहीं है।

जिलानी[2] तथा फेरेन्ज[3] ने गोडार्ड के मत का खंडन किया और अपने अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि अपराधियों का बहुत थोड़ा वर्ग (10 प्रतिशत से लेकर 20 प्रतिशत तक) मन्दबुद्धिता से ग्रस्त रहता है।

फ्रायड, अडलर तथा आटोरैन्क आदि विद्वानों ने चेतन, सचेतन तथा अचेतन व्यवहार प्रेरक मनोभावों के आधार पर यह बताया कि अपराधी व्यवहार संवेगात्मक असामंजस्य का प्रतिफल है। अपराधी व्यक्ति घोर कुण्ठा तथा निराशा के वशीभूत होकर अपराध करते हैं। फ्रायड ने अपने इडिपस काम्पेलक्स के सिद्धान्त द्वारा यह बताया कि अपराध निकटतम सम्बन्धियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा का परिणाम है। चूँकि इस प्रकार यौन सम्बन्ध सामाजिक रूप से वर्जित हैं अतः उनकी संतुष्टि के अभाव में व्यक्ति अनेक प्रकार के व्यभिचार करने लगता है। एडलर ने कहा कि मनसहीनता की भावना से ग्रस्त होने के कारण अपराधी व्यक्ति अपराधिक कार्यों को सम्पादित करके अपनी हीन भावना की क्षति-पूर्ति करते हैं।

आलोचना

अपराधशास्त्र के मनोचिकित्सकीय सम्प्रदाय की आलोचना करनेवाले विद्वानों का कहना है, अपराध केवल मनोवैज्ञानिक कारकों का फल मात्र न होकर सामाजिक वातावरण में सीखा या ग्रहण किया जाता है। जान बूझ कर अपराध करनेवाले व्यक्तियों की संख्या उन अपराधियों से अधिक होती है जो अपने मानसिक विकारों के प्रभाव में आकर अपराध करते हैं। इस आलोचना के बावजूद आधुनिक अपराधशास्त्री मानसिक दुर्बलता तथा मनोचिकित्सकीय कारकों को अपराध की व्याख्या का प्रमुख आधार मानते हैं।

---

1. एल० जी० लोरे, डेलिन्क्वेन्ट पर्सनालिटीज (न्यूयार्क : 1944).
2. एल० डी० जिलानी, "फीबिलमाइन्डेडनेस ऐन्ड क्रिमिनल कन्डक्ट", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, जनवरी, 1933, पृ० 564–576।
3. इडवर्ड जे० फेरेन्ज, "मेन्टल डेफिशिएन्सी ऐन्ड क्राइम", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, सितम्बर–अक्टूबर, 1951, पृ० 299-307।

अपराधशास्त्र का समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय

अपराधशास्त्र के सभी सम्प्रदायों में समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय प्रमुख है। इस सम्प्रदाय का जन्म वान लिसजेट, वान हेमेल तथा फ्वान्टसकी के उन विचारों से हुआ जिसमें कहा गया था कि अपराध दूषित सामाजिक वातावरण का फल है। टार्डे ने इन विचारकों की बातों को समाजशास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया और अपराध की व्याख्या में अनुकरण के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उनका मत था कि अपराधी अन्य व्यक्तियों के व्यवहार का अनुकरण करता है। इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता को बढ़ाने का श्रेय अमरीकी अपराधशास्त्रियों को है। ये अमरीकी अपराधशास्त्री प्रमुखतः समाजशास्त्री थे और उनका मत था कि अपराधी व्यवहार भी उन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं का फल है जो अन्य प्रकार के व्यवहार प्रतिमानों को जन्म देती है।

अपराधशास्त्र के समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपराध की घटनाओं को सामाजिक संगठन की दशाओं से जोड़ा और उन सामाजिक घटनाओं की ओर संकेत किया जो अपराध को जन्म देती हैं। इन विचारकों ने उस प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया जिससे व्यक्ति अपराधी बनता है। अपराधी निर्माण की यह प्रक्रिया सामाजिक सीख, अनुकरण, व्यवहार, मूल्य, अन्तरीय संसर्ग तथा आक्रमण एवं क्षति-पूरण के प्रत्ययों पर आधारित थी। जान डेवी, जार्ज मीड, चार्ल्स कूले तथा विलियम टामस के मतानुसार अपराधी व्यवहार उपर्युक्त वर्णित सामाजिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अमरीकी समाजशास्त्रियों ने (जो अपराध के क्षेत्र में कार्यशील रूप से अनुसन्धान कर रहे थे) अपराध शास्त्र को एक समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय माना। जिन समाजशास्त्रियों के नाम अपराध तथा बाल अपराध की समाजशास्त्रीय व्याख्या के सन्दर्भ में लिये जाते हैं वे निम्नलिखित हैं—फ्रेडरिक थ्रेसर, क्लिफर्ड आर० शा, विलियम एफ० व्हाइट, अलबर्ट के० कोहेन, इडविन एच० सदरलैण्ड, जान एल० गिलिन, डोनाल्ड आर० टैफ्ट, मार्शल बी० क्लिनार्ड, वाल्टर सी० रेकलेस एवं नेगले के० टीटर्स।

अपराधशास्त्र का बहुकारकीय सम्प्रदाय

बीसवीं शताब्दी के अपराधशास्त्रियों ने अपराध की व्याख्या के उपर्युक्त वर्णित सभी सम्प्रदायों की कमियों को ध्यान में रखकर यह मत व्यक्त किया कि अपराध अनेक प्रकार के कारकों के सम्मिलित प्रभाव का एक परिणाम है। इन विद्वानों का मत है कि अपराध की व्याख्या का कोई विशिष्ट वैज्ञानिक सम्प्र-

दाय खोज पाना असम्भव है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर उन्होंने अपराध के बहुकारकीय सम्प्रदाय का अनुमोदन किया। इस सम्प्रदाय के मानने वाले अपराध-शास्त्रियों ने अपराध को व्यक्तिगत घटनाओं का विश्लेषण अनेक अपराधजनक परिस्थितियों के सम्मिलित योगदान के आधार पर करते हुए यह कहा कि जो कारक एक व्यक्ति को अपराधी बनाते हैं, यह आवश्यक नहीं है कि वे अन्य व्यक्तियों को भी अपराधी बना सकेंगे। बाल अपराधियों पर किये गये एक अध्ययन में हीली ने 170 विशिष्ट दशाओं का उल्लेख अपराधिक कारकों के रूप में किया और यह निष्कर्ष निकाला कि कोई भी बालक इन समस्त कारकों में कम से कम 7 से लेकर 10 तक के कारकों के सम्मिलित होने के फलस्वरूप अपराधी बनता है।[1] शेलडेन ग्लुक ने कहा कि बहुकारकीय सम्प्रदाय को स्वीकार करने वाले अपराधशास्त्री बड़े ही गर्व के साथ अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हैं और उन विद्वानों की आलोचना करते हैं जो अपराध के विशिष्ट कारकों को अपराधी व्यवहार की व्याख्या का आधार बनाते आये हैं।[2] फेरी, डिम्यूरोस तथा सिरिलबर्ट आदि जैसे अपराधशास्त्रियों ने अपराधी व्यवहार की वैज्ञानिक, सम्पूर्ण तथा संतोषजनक व्याख्या के लिए बहुकारकीय सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार किया। बोल्ड, केवन, बार्न्स, रेकलेस, सदरलैण्ड तथा सेलिन आदि सुप्रसिद्ध अपराधशास्त्रियों ने भी बहुकारकीय सिद्धान्त को ही अधिक उपयोगी बताया।



1. विलियम हीली, दि इनडिवीजुअल डेलिनक्वेन्ट (बोस्टन : 1915)
2. शेल्डन ग्लुक, "थ्योरी ऐण्ड फैक्ट इन क्रिमिनालोजी", ब्रिटिश जरनल आफ डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 7, अक्टूबर 1956, पृ० 92-109.

अध्याय 3

अपराध

प्रस्तावना

सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था का मूलभूत आधार वे मूल्य, मान्यताएँ, परम्पराएँ तथा कानून हैं जो व्यक्तियों के व्यवहार का निर्देशन करते हैं और जिनकी निहित शक्ति के आधार पर व्यक्ति एवं संस्थाएँ, समूह तथा समुदाय एक विशिष्ट प्रकार की भूमिका का वहन करते हैं। इसी संगठन तथा व्यवस्था के निहित सामाजिक हितों की पूर्ति के हेतु प्रत्येक समाज सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को उत्पन्न करनेवाले नैतिक, सामाजिक तथा वैधानिक नियमों एवं निर्देशों की रचना करता है और अपने हर नागरिक से आशा करता है कि वह कोई ऐसा व्यवहार नहीं करेगा जिससे किसी व्यक्ति-विशेष या सम्पूर्ण समाज को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षति पहुँचे और बनी हुई व्यवस्था के नियामक मापदण्डों, नियमों तथा निर्देशों का उल्लंघन हो। परन्तु किसी भी समाज में इस प्रकार की आदर्शात्मक आकांक्षा की पूर्ण प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाती है, क्योंकि सभी व्यक्ति अपने व्यवहार को कानून तथा नैतिकता के दायरे में नहीं रख पाते हैं। कुछ व्यक्ति अपनी शारीरिक विषमताओं, मानसिक असमानताओं तथा सामाजिक-आर्थिक दबावों एवं परिस्थितियों में फँसकर कुछ ऐसे कार्य करते हैं जिन्हें समाज अनैतिक, असामाजिक तथा अवैधानिक मानता है और जिनके करनेवाले व्यक्तियों को दण्ड देता है। दण्ड सामाजिक नियन्त्रण की विधि के रूप में उन व्यक्तियों के लिए प्रयोग किया जाता है जिनका व्यवहार समाज के हित में नहीं है और जिनके व्यवहार को समाज दोषपूर्ण मानता है। अपराध की व्याख्या इसी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में की जाती है। अपराध व्यापक शब्दों में उन कार्यों का नाम है जिनसे समाज के व्यवहार के नियामक आदर्शों एवं आदेशों का उल्लंघन होता है और जिससे सामाजिक संगठन एवं व्यवस्था को क्षति पहुँचती

है। दूसरे शब्दों में, अपराध दुराचार एवं सामाजिक दुर्व्यवहार का नाम है जिसके लिए समाज नियन्त्रण एवं निराकरण की विधियां खोजता है।

मानव समाज की किसी भी ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें विघटनकारी तथा व्यवस्था-विरोधी तत्वों का अभाव हो। हर युग में तथा हर समाज में कुछ ऐसे लोग रहे हैं और रहेंगे जिनका काम व्यवहार के स्वीकृत मापदण्डों का विरोध करना हो तथा ऐसे कार्यों तथा योजनाओं का कार्यान्वयन हो जिससे समाज की व्यवस्था खण्डित हो तथा विघटन का जन्म हो। इसी कारणवश मानव-व्यवहार-विचलन के प्ररूपों में अपराध की घटनाएं प्रत्येक समाज में एक चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। वर्तमान समाज में अपराध का अध्ययन इसी हेतु अपराधशास्त्र जैसे एक विशिष्ट विज्ञान के माध्यम से किया जाता है और उन सभी प्रश्नों पर गम्भीरता से एक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार विचार किया जाता है जो यह तय करते हैं कि अपराध क्यों होते हैं, उन्हें कैसे समझा जा सकता है और अपराधियों का सुधार तथा अपराध की रोकथाम कैसे हो सकती है।

अपराध की शाश्वतता

अपराध की शाश्वतता पर विचार व्यक्त करते हुए फ्रैंक टैनेनबाम ने लिखा कि अपराध शाश्वत है और उसी प्रकार से शाश्वत है जिस प्रकार से समाज। जहाँ तक हम जानते हैं, मानवीय पतन के अनेक रूप प्रत्येक प्रकार के सामाजिक संगठनों में पाये जाते रहे हैं। हर जगह कुछ न कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वीकृत आचार-विचार के प्रतिमानों को त्यागकर अलग पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। इस तथ्य को स्वीकार करना अच्छा होगा कि अपराध पूरी तरह से कभी समाप्त नहीं किया जा सकता है और इसकी पूर्ण समाप्ति की स्थिति केवल कल्पना के जगत् में ही हो सकती है। मानवीय त्रुटियाँ, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या हर जगह पाई जाती है और जिन्हें सामाजिक तथा नैतिक अनुशास्तियां कभी भी पूर्ण रूप से रोक नहीं पायी हैं। किन्हीं अनजाने कारणों वश यह समझ पाना कठिन है कि वे कौन सी दशायें, कारक या शक्तियां हैं जो व्यक्ति को परम्परागत व्यवहार की लीक से हटकर व्यवहार करने के लिए प्रेरित करती हैं। अभी तक कोई ऐसी योजना तैयार नहीं हो सकी है जिससे सद्व्यवहारात्मक जीवन स्थापित हो सके और मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। अपराध इस प्रकार एक सदैव बनी रहनेवाली सामाजिक दशा है। जैसे जैसे समाज जटिल होता जाता है, वैसे ही वैसे कुछ लोग अपने को सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं तथा निर्देशनों का पालन करने में असमर्थ पाने लगते हैं। कानूनों का बाहुल्य तथा

सामाजिक अनुशास्तियों का अधिक होना बुराइयों को घटाता नहीं वरन् बढ़ाता है। जटिल समाजों में जीवन की जटिलताएँ भी बढ़ती हैं और आन्तरिक द्वन्द्व खुलकर सामने आते हैं। अपराध इन्हीं सब मानवीय द्वन्द्वों का फल है।[1] इटैलियन अपराधशास्त्री जार्जिवो फ्लोरिता ने अपराध की अवश्यम्भाविता पर विचार व्यक्त करते हुए यहाँ तक कहा कि पाप की घटनाओं की ही तरह अपराध एक साधारण सामाजिक घटना है जिसे केवल वे कानून तथा सामाजिक अनुशास्तियाँ असाधारण मानती हैं जो स्वयं अस्वाभाविक हैं।[2]

रमसे क्लार्क ने समाज में अपराध की स्वाभाविकता पर चर्चा करते हुए एक आलंकारिक भाषा में कहा कि "अपराध वह दर्पण है जिसमें लोगों का चरित्र प्रतिबिम्बित होता है। यह वह दुःखद वास्तविकता है जिसका हम सामना नहीं करना चाहते हैं। जीवन की अन्य वास्तविकताएँ सरलता से स्वीकार की जा सकती हैं क्योंकि उनका नियंत्रण सरल हो सकता है परन्तु दुश्चरित्रता के सुधार की सरल विधि मानव को आज तक उपलब्ध नहीं है। मानव चरित्र का यह आयाम उतना ही टेढ़ा और उतना ही सुदृढ़ है जितना कि हम सब लोग। जीवन के जो गुण हमारे चरित्र का निर्माण करते हैं, वे ही हमारी अपराध करने की शक्ति का निर्धारण भी करते हैं। अपराध इस प्रकार एक घिनौनी घटना मात्र नहीं है—यह मानव व्यवहार है और मानव ही अपराध करता है। जब अपराध घटित होता है तब हम उन व्यक्तियों के बारे में जानने के लिए उत्सुक होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था तथा समाज के मानदण्डों के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हैं अथवा अपने ऊपर कम नियंत्रण कर पाने के कारण दूसरों को क्षति पहुँचाते हैं, उनकी सम्पत्ति का हरण करते हैं या कानूनों का उल्लंघन करते हैं। जब तक इस प्रकार के व्यक्ति समाज में रहेंगे, अपराध होता ही रहेगा। समाज अपराध-नियंत्रण के चाहे जितने प्रयत्न करे परन्तु जब तक कानूनों का उल्लंघन करने वाले नागरिक रहेंगे, समाज इस प्रतियोगिता में कभी जीत नहीं सकता है। चूँकि आवश्यकता इसको रोकने की है, अतः सभ्य नागरिक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर इसको रोकने का प्रयत्न करे"।[3]

---

1. फ्रैन्क टैटेनबाम, फोरवर्ड टु न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी, प्रथम संस्करण (इंगिलवुड क्लिफ, न्यूजर्सी : 1943), पृ० 5।
2. जार्जिवो फ्लोरिता, "इनक्वायरी इनटु दि काजेज आफ क्राइम", जरनल आफ क्रिमिनल ला, 44 (मई-जून : 1953).
3. रमसे क्लार्क, क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1970), पृ० 3.

अपराधशास्त्री अपराध की समस्या की गम्भीरता को आधुनिक समाज के जीवन की एक कृति मानते हैं। उनके अनुसार परम्परागत समाजों में, जहाँ कानून सरल थे, सामाजिक सम्बन्धों का दायरा छोटा था और संस्थागत संरचना लोकहित की प्राप्ति के लक्ष्य से बनी थी, अपराध का न तो बाहुल्य ही था और न अपराधी घटनाएँ आज जैसी जटिल ही थीं। आधुनिक समाज अपनी उस ऐतिहासिक दशा को कहीं पीछे छोड़ चुका है और उस परिवर्तन-चक्र में फँसकर उन शक्तियों को आत्मसात् कर चुका है जिनके प्रभाववश व्यक्तिवादिता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है तथा लोभ, ईर्ष्या, दम्भ और प्रतिस्पर्धा जीवन का अभिन्न अंग बन गयी है। इस प्रकार के समाज में व्यक्ति उन मूल्यों तथा मान्यताओं को खो चुका है जो सामाजिकता को बढ़ावा देती हैं और कानून के प्रति आदर उत्पन्न करती हैं। आधुनिक समाजों की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अपराध निहित है। इस व्यवस्था में व्यक्ति के लिए आत्मसम्मान तथा मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य ढूँढ़ पाना मुश्किल हो गया है। आज का आधुनिक मानव भ्रमित है और इसी भ्रम का फल अपराध है।

अपराध की अवधारणा

चूँकि कोई भी कार्य बिना राजकीय घोषणा के अपराध नहीं हो सकता है अतः किसी ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के ऐसे समूहों का होना आवश्यक है जो स्थापित कार्य-रीति के आधार पर अपराध की अवधारणा का निर्माण करे। इसका अर्थ यह हुआ कि अपराध की अवधारणा अपराधिक विधि के निर्माण से ही उत्पन्न होती है और यह अवधारणा उन व्यक्तियों के ऊपर आरोपित की जाती है जिनका व्यवहार तथाकथित रूप से दोषपूर्ण है। इस प्रकार अपराध की घटना अपराधिक कानून के उल्लंघन के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। जैसे ही कोई आचरण, कानून तथा कानूनी प्रक्रिया के द्वारा अपराधिक परिभाषित किया जाता है वैसे ही अपराध की अवधारणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार की घटनाओं को सामाजिक समस्या के रूप में जाना जाता है।

अपराध की परिभाषा उपर्युक्त वर्णित अवधारणात्मक सन्दर्भ में कानून के ही आधार पर की जा सकती है, क्योंकि कानून के द्वारा सामाजिक व्यवहार का वैधानिक नियन्त्रण आधुनिक समाज में सुलभ हो सका है। अपराध इस प्रकार उस कानून की अवज्ञा का कृत्य है जिसे वह कानून निषिद्ध एवं समादेशित करता है। परन्तु हर कानून की अवज्ञा वैधानिक रूप से अपराध नहीं मानी जाती है, उदाहरणार्थ दीवानी, विरासत तथा संविदा के कानूनों की अवज्ञा को

अपराध नहीं माना जाता है। इस तथ्य के आधार पर अपराध का प्रत्यय केवल कानून की अवज्ञा मात्र से ही सम्बद्ध नहीं रह जाता है। अपराध का अर्थ है उस कार्य से जो विधि द्वारा निषिद्ध है और जिससे समाज के नैतिक मनोभावों के प्रति विद्रोह की भावना प्रदर्शित होती है। इसके विपरीत संविदा तथा राजस्व के कानूनों की अवज्ञा अथवा उल्लंघन से इन मनोभावों के प्रति विद्रोह की भावना नहीं प्रतीत होती है।

अपराध की अवधारणा यद्यपि अपरिवर्तनीय है परन्तु प्रत्येक समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैधानिक परिप्रेक्ष्य में अपराध के कार्यों की कोई परिभाषा निर्धारित नहीं हो पाती है क्योंकि जिन सामाजिक मनोभावों को ध्यान में रखकर कानून बनते हैं और अपराधों की व्यवस्था की जाती है वे समय-समय पर बदलते रहते हैं। इस परिवर्तन की प्रक्रिया के फलस्वरूप आज जो कार्य अपराध है वह कल अपराध नहीं भी रह सकता है। दृष्टान्त के रूप में यह कहा जा सकता है कि अपधर्म एक युग में प्रत्येक समाज में अपराध माना जाता था, परन्तु कालान्तर में धार्मिक मूल्यों में व्यापक परिवर्तन होने के कारण आज के युग में उसे अपराध नहीं माना जाता है। इसी प्रकार सती प्रथा प्राचीन भारत में एक प्रसंशनीय बात थी, परन्तु आज यह एक अपराध है। बहुपत्नी प्रथा, जो पहले एक साधारण बात थी, आज के हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्त-र्गत एक अपराध है। इस प्रकार के सभी उदाहरण इस बात का प्रतीक हैं कि अपराध का अर्थ समय-समय पर देश-देश की सामाजिक व्यवस्था में होने वाले मूलभूत परिवर्तनों के आधार पर बदला करता है। अपराध के प्रत्यय की इस गत्यात्मकता के आधार पर अपराध की कोई सर्वमान्य तथा सर्वव्यापी परिभाषा आज तक सम्भव न हो पायी है और न हो पायेगी। वास्तव में अपराधिक कार्यों का अर्थ उस अपराधिक नीति से निर्धारित होता है जिसे समाज के शक्तिशाली एवं सत्ताधारी व्यक्ति या समूह समय समय पर समाज के हितों की रक्षा के लिए स्वीकार करते हैं। अपराध की परिभाषा के निर्धारण में यह गति-शीलता समय समय पर कानून में होने वाले परिवर्तनों के कारण जटिल होती है। कानून बदलते रहते हैं और नये अपराध जुड़ते या समाप्त होते रहते हैं।

अपराध की स्पष्ट परिभाषा करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि यह जान लिया जाये कि दोष का अर्थ क्या है, क्योंकि दोष के निर्धारण की वैधानिक प्रक्रिया ही अपराध के अर्थ को स्पष्ट करती है।

कुछ ऐसे कृत्य होते हैं जिन्हें समाज अपने हित के विपरीत मानकर गलत समझता है और उन्हीं कार्यों को त्रुटि या दोष मानता है। समाज में इस प्रकार

के दोषों का वर्गीकरण नैतिक, नागरिक तथा अपराधिक आधारों पर किया जाता है। नैतिक दोषों में झूठ बोलना, अपचार करना तथा माता-पिता के आदेशों की अवज्ञा आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार के दोष सामाजिक तथा धार्मिक कानूनों से रोके तथा सुधारे जाते हैं। नागरिक तथा अपराधिक दोष वह हैं जिनसे दीवानी तथा फौजदारी के कानूनों का ध्यानाकर्षण होता है और जिन्हें करने के लिए समाज उस व्यक्ति को दंडित करने का इरादा रखता है। अतः जिन कार्यों को करने के लिए दंड का प्राविधान है उसे अपराध तथा जिनको करने में दंड का प्राविधान नहीं है उन्हें सिविल दोष अथवा दुष्कृति (टार्ट) की संज्ञा प्रदान की जाती है।

सामन्ड के अनुसार दुष्कृति विधि एक व्यावहारिक अपकृत्य है जिसका उपचार क्षति या हानिपूर्ति के लिए सामान्य विधि के अनुसार कार्यवाही करना ही होता है और जो एकमात्र संविदा-भंगीकरण या न्यास-भंगीकरण या केवल किसी अन्य साम्यिक कर्तव्यों का भंगीकरण नहीं है।[1]

अन्डरहिल ने दुष्कृति का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि दुष्कृति संविदा से पूर्णरूपेण भिन्न एक ऐसा कृत्य है जो किसी व्यक्ति के पूर्ण अधिकार को भंग करता है या किसी व्यक्ति के परिमित अधिकार को भंग कर के उसको क्षति पहुँचाता है अथवा किसी सार्वजनिक अधिकार की इस प्रकार अवहेलना करता है जिससे किसी व्यक्ति-विशेष को समान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचती है और जिसके परिणामस्वरूप वह क्षतिकर्ता के विरुद्ध क्षतिपूर्ति प्राप्त करने के लिए मुकदमा चलाने का अधिकारी हो जाता है।[2]

दुष्कृति तथा अपराध में अन्तर

दुष्कृति तथा अपराध में निम्नलिखित अन्तर हैं :—

(1) दुष्कृति में किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत कानूनी अधिकारों का अतिक्रमण होता है या उससे उसे वंचित किया जाता है जबकि अपराध में समस्त समाज के अधिकारों तथा कर्तव्यों का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार दुष्कृति में व्यक्ति-विशेष के वैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण होता है लेकिन अपराध का प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता है।

(2) दुष्कृति एक व्यक्तिगत अपकृत्य होता है इसलिए इसमें क्षति-ग्रस्त व्यक्ति

---

1. सर जान सामन्ड, ला आफ टार्ट (11वाँ संस्करण), पृ० 15.
2. सर आर्थर अन्डरहिल, ला आफ टार्ट्स (लंदन : 1937), पृ० 3.

के ही द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नहीं। अपराध में अपराधी के विरुद्ध कार्यवाही केवल राज्य के द्वारा की जाती है क्योंकि अपराध समस्त जनता के प्रति अपकृत्य होता है। अपराधी को समाज के हित के लिए राज्य दंडित करता है। क्षतिग्रस्त व्यक्ति अपराधी के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकता है लेकिन ऐसी कार्यवाही हमेशा राज्य द्वारा की गयी समझी जायेगी।

(3) दुष्कृति के मामले में प्रतिवादी वादी को क्षतिपूर्ति करके मुक्त हो जाता है जबकि अपराध के मामले में किसी अपराध के लिए अपराधी को दंडित किया जाता है। किसी अपराध के लिए अपराधी को दंड भी भोगना पड़ता है और क्षतिग्रस्त व्यक्ति अर्थात् वादी को क्षतिपूर्ति भी करनी पड़ती है। परन्तु बहुधा अपराधी से अर्थदंड के रूप में प्राप्त धनराशि राजकीय कोष में चली जाती है। दुष्कृति के मामले में प्रतिवादी द्वारा वादी को हुई व्यक्तिगत हानि की क्षतिपूर्ति करने का मुख्य उद्देश्य होता है, परन्तु अपराध के मामले में अपराधी को अपराध करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए दंडित किया जाता है जिससे वह भविष्य में फिर से ऐसा अपराध करने की हिम्मत न करे और साथ ही साथ यह दूसरे लोगों के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

(4) एक ही अनुचित कृत्य दुष्कृति एवं अपराध दोनों हो सकता है। उदाहरणार्थ आक्रमण, अपमान-लेख, चोरी, सम्पत्ति के प्रति दुष्कृति, असावधानी, अपदूषण आदि इसी प्रकार के अनुचित कार्य हैं। आक्रमण में व्यक्ति की व्यक्तिगत शारीरिक सुरक्षा का अतिक्रमण होता है जिसके लिए वादी को क्षतिपूर्ति करनी होती है। यह कृत्य दुष्कृति है। लेकिन आक्रमण जैसे हिंसात्मक कृत्य से समस्त समाज की सुरक्षा को खतरे की सम्भावना होती है और तब वह अपराध की श्रेणी में आता है और राज्य द्वारा दण्डनीय होता है। इस प्रकार आक्रमण दुष्कृति एवं अपराध दोनों है। ऐसे मामलों में दोनों सजाएँ प्रतिवादी को साथ साथ भोगनी पड़ती हैं।

अपराध की परिभाषा

अपराध की परिभाषा करनेवाले विद्वानों (विधि-शास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों) ने अपने विशिष्ट ज्ञान तथा तार्किक दृष्टिकोण के आधार पर जो परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं उनको अपराधशास्त्र के विद्यार्थी अपने अध्ययन की सरलता के आधार पर दो भागों में विभक्त करते आये हैं—(1) अपराध की वैधानिक परिभाषाएँ तथा (2) अपराध की समाजशास्त्रीय परिभाषाएँ।

अपराध की वैधानिक परिभाषाएँ

माइकेल ऐन्ड एडलर

"अपराध वह व्यवहार है जिसे अपराधिक संहिता में निषिद्ध घोषित किया गया है।"[1]

मार्शल ऐन्ड क्लार्क

"अपराध वह कार्य अथवा अनाचार है जिसे लोक विधि के द्वारा जनसाधारण की सुरक्षा के हेतु निषिद्ध घोषित किया गया है और जिसे राज्य ने अपने नाम पर प्रचलित न्यायिक कार्यवाही के आधार पर दण्डनीय घोषित किया है।"[2]

ब्रिटिश क्रिमिनल ला

"अपराध वह अवैध कार्य है जिसे सरकार सामान्य जनता के लिए अहितकर मानती है और जिसके लिए राज्य ने यथोचित न्यायिक कार्यवाही तथा दण्ड की व्यवस्था की है। सामान्य अर्थ में अपराध लोक विधि के उल्लंघन में किया गया वह कार्य अथवा त्रुटि है जिसके करने के लिए व्यक्ति अभ्यारोपण प्रस्तुतीकरण अथवा दोषारोपण की विधियों द्वारा प्रदत्त दण्ड का भागीदार होता है।"

पाल डब्ल्यू० तपन

"अपराध से तात्पर्य जान-बूझकर किये गये उस कार्य से है जिसमें किसी अपराधिक कानून का उल्लंघन निहित है और जिसके करने के लिए राज्य और अपराध या अपराध मानकर उस व्यक्ति को दण्डित करता है।"[3]

---

1. जरोमे माइकेल ऐन्ड मार्टीमर जे० एडलर, क्राइम ला ऐन्ड सोशल साइन्स (न्यूयार्क : 1933), पृ० 2।
2. विलियम एल० मार्शल ऐन्ड विलियम एल० क्लार्क "दि लीगल डेफिनिशन आफ क्राइम ऐन्ड क्रिमिनल" इन दि सोश्यालोजी आफ क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (सम्पादित) मारविन ई० वुल्फगैंग, लियोनार्ड सेविज ऐन्ड मारमन जान्सटन (न्यूयार्क : 1962), पृ० 14।
3. पाल डब्ल्यू० तपन "हू इज दि क्रिमिनल" इन दि सोश्यालोजी आफ क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 32।

जान लीविस गिलिन

"वैधिक दृष्टिकोण से व्यक्ति का वह कोई भी कार्य जो कानून के विरुद्ध किया गया है, अपराध है।"[1]

अरनैस्ट आर० मावरर

"अपराध वह कोई कार्य है जिससे किसी कानून का उल्लंघन होता है।"[2]

सदरलैंड ऐन्ड क्रेसी

"कोई भी कार्य कितना भी अनैतिक, घृणास्पद तथा अशिष्ट क्यों न हो, अपराध तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसे अपराधिक कानून के द्वारा निषिद्ध नहीं घोषित किया गया है।"[3]

इलियट ऐन्ड मेरिल

"अपराध कानून द्वारा वर्जित कार्य है।"[4]

माइकेल तथा एडलर ने अपराध की वैधानिक परिभाषाओं को ही सही माना और कहा कि अपराध की वही परिभाषा यथातथ्य, सुनिश्चित तथा कम संदिग्ध है जो इसे एक ऐसे व्यवहार के रूप में परिभाषित करती है जिसे अपराधिक संहिता में निषिद्ध घोषित किया गया है। उन्होंने इस प्रकार की परिभाषा को केवल यथातथ्य एवं असंदिग्ध मात्र ही नहीं माना वरन् यह भी कहा कि अपराध की यही सही परिभाषा है।[5] उनके अनुसार अपराधी केवल वही व्यक्ति है जिसे न्यायालय द्वारा कोई अवैधानिक कार्य करने के लिए न्यायिक आधार पर दोषी पाया गया है। इसी तथ्य को उन्होंने अपराधी और गैर-अपराधी व्यक्तियों के बीच भेद करने का एकमात्र वैज्ञानिक मापदण्ड माना।[6]

---

1. जान लीविस गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पिनालोजी, तृतीय संस्करण (न्यूयार्क : 1945), पृ० 7।
2. अरनेस्ट आर० मावरर, डिसआर्गेनाइजेशन : पर्सनल ऐन्ड सोशल (शिकागो : 1942), पृ० 99।
3. इडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (भारतीय संस्करण, नई दिल्ली : 1967), पृ० 4।
4. मैवेल ए० इलिएट ऐन्ड फ्रान्सिस ई० मैरिल, सोशल डिसआर्गेनाइजेशन, (न्यूयार्क : 1950), पृ० 91।
5. जरोमे माइकेल ऐन्ड मार्टीमर जे० एडलर पूर्वोल्लिखित, पृ० 2।
6. वही, पृ० 1-2।

समाजशास्त्रियों ने माइकेल और एडलर के इस मत का समर्थन नहीं किया। उनके मत में अपराधी कृत्यों का मापदण्ड कानून मात्र नहीं है—अर्थात् वे ही कार्य अपराध नहीं हैं जिनमें अपराधिक विधि का उल्लंघन निहित है। इन लोगों का मत है कि अपराधशास्त्र में इस प्रकार के समस्त व्यवहार का अध्ययन किया जाना चाहिए जो असामाजिक हैं और जिनसे समाज को क्षति पहुँचती है।[1] कुछ अन्य समाजशास्त्रियों का मत है कि अपराधी व्यवहार की व्याख्या आचरण के आदर्श नियमों के उल्लंघन के आधार पर की जानी चाहिए।

अपराध की समाजशास्त्रीय परिभाषाएँ

अपराध किसी निर्दिष्ट समूह के एक सदस्य द्वारा किया गया वह कार्य है जिसे उस समूह के अन्य सभी सदस्य हानिकारक समझते हैं या उस व्यक्ति के असामाजिक व्यवहार की एक ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मानते हैं जिससे समूह के अधिकार या अधिकारों का हनन होता है और जिसके हनन के लिए वह समूह खुले आम, सार्वजनिक तथा सामूहिक रूप से रोष की प्रतिक्रिया व्यक्त करता है।[2]

फ्लोरियन नैनकी

"अपराध वह व्यक्तिगत व्यवहार है जिससे सामूहिक व्यवस्था को वास्तविक क्षति पहुँचती है या क्षति पहुँचने का भय बना रहता है और जिससे सामाजिक व्यवहार की वैधता का उल्लंघन तथा सामूहिक व्यवस्था के उच्च मर्यादात्मक आदर्शों की अवज्ञा होती है।"[3]

बार्न्स ऐन्ड टीटर्स

"अपराध का अर्थ असामाजिक व्यवहार के उस स्वरूप से है जिससे सार्वजनिक मनोभावों का उल्लंघन उस सीमा तक हुआ है जिसे समाज खतरनाक समझता है और किसी ऐसी भर्त्सनात्मक तथा दण्डात्मक कार्यवाही की संस्तुति

---

1. थार्सिटन सेलिन, कल्चर, कानफ्लिक्ट ऐन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1932), पृ० 20-21।
2. देखें : ब्रोनिसला मैलीनोवोस्की, क्राइम ऐन्ड कस्टम इन ए सैवेज सोसाइटी (लन्दन : 1936)。
3. फ्लोरियन नैनकी, "सोशल रिसर्च इन क्रिमिनालोजी," सोश्यालोजी ऐन्ड सोशल रिसर्च, मार्च-अप्रैल 1928, पृ० 207-212।

करता है जिससे इस प्रकार के अपराधी भयभीत हो जायें और वैसे कार्य न करें।"[1]

जान लीविस गिलिन

"अपराध एक कृत्य है जो वास्तविक रूप में समाज के लिए हानिकारक प्रतीत होता है या उस समूह के लोगों के द्वारा सामाजिक हितों के विरुद्ध माना जाता है जिनको अपने विचारों को लागू करने का वह अधिकार प्राप्त है जिससे इस प्रकार के कृत्यों को दण्डनीय घोषित किया जाता है।"[2]

गारफैलो

"अपराध एक ऐसा अनैतिक तथा हानिकारक कृत्य है जिसे जनमत द्वारा अपराधिक समझा जाता है क्योंकि इससे समाज के पदार्थवादी मनोभावों, सत्य, निष्ठा तथा दया के नैतिक आदर्शों को क्षति पहुँचती है।"[3]

अपराध की तीन विशेषताएँ

(1) अपराध में एक ऐसी क्षति का बोध होता है जो किसी व्यक्ति के वैधानिक अवज्ञा के कृत्य का फल है और जिस कृत्य को प्रभुसत्ता-सम्पन्न शक्तियाँ रोकने की इच्छा करती हैं।

(2) अपराधिक कृत्यों की रोकथाम के लिए राज्य द्वारा किए गए निरोधात्मक प्रयत्न अनुशास्ति की धमकी तथा दण्ड के रूप में प्रतीत होने चाहिए।

(3) अभियुक्त के विरुद्ध दोष-निर्धारण की वैधानिक कार्यवाही को एक विशेष प्रकार के साक्ष्य विषयक नियमों पर आधारित होना चाहिए।

अपराध के पांच तत्व

(1) किसी व्यक्ति के द्वारा किया गया वह अवैधानिक कार्य जो अपने कानूनी दायित्व के आधार पर एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का उत्तरदायी है और जिस कार्य के लिए वह व्यक्ति विधि द्वारा निर्धारित दंड पाने का उचित पात्र है।

---

1. हैरी इलमर बार्न्स ऐन्ड नैगली के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (भारतीय संस्करण, नई दिल्ली : 1966), पृ० 70।
2. जान लीविस गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पिनालोजी (तृतीय संस्करण, न्यूयार्क : 1945), पृ० 9।
3. गारफैलो, क्रिमिनालोजी (बोस्टन : 1914), पृ० 33।

(2) उस व्यक्ति के अपराधिक कृत्य में एक ऐसे बुरे इरादे का निहित होना आवश्यक है जिसे न्यायिक दण्ड से सिद्ध किया जा सके।
(3) इस बुरे इरादे की प्राप्ति के लिए किया गया ऐसा कार्य जिसमें किसी वैधानिक कानून की अवज्ञा निहित है।
(4) उस कार्य से किसी व्यक्ति-विशेष या सम्पूर्ण समाज को चोट या सामाजिक-आर्थिक क्षति का पहुँचना आवश्यक है।
(5) अपराध करनेवाला मानव होना चाहिए जिसे कानूनी रूप से दंड दिया जा सके।

अपराध का वर्गीकरण

मानव व्यवहार के विभिन्न प्रकारों की ही भाँति अपराध के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। अध्ययन की सरलता के हेतु अपराधशास्त्रियों ने अपराधी कृत्यों को विभिन्न भागों में विभाजित करने का प्रयत्न किया है। अपराधों की गम्भीरता तथा दंड की कठोरता के आधार पर किए गये वर्गीकरण में निम्नलिखित तीन प्रकार के अपराधों का वर्णन किया जाता है :—

(1) देशद्रोह—देश के शत्रु को मदद पहुँचाना, जाली सिक्के बनाना तथा राज्याधिकारी की हत्या करना आदि।
(2) घोर अपराध—हत्या, डकैती, लूट, बलात्कार तथा सहलिंगीय यौन व्यवहार आदि।
(3) अपराध—वे सभी अन्य छोटे-मोटे अपराध जो देशद्रोह तथा घोर अपराध के श्रेणी में नहीं आते।

अपराधी प्रवृत्ति तथा अपराधी योजना के आधार पर अपराधी का वर्गीकरण निम्नलिखित दो वर्गों में किया जाता है :—

(1) स्थितिजन्य तथा आकस्मिक अपराध—इस प्रकार के अपराध व्यक्ति एक विशिष्ट परिस्थिति में फँसकर करता है। अपराध करने की न उसमें मनोवृत्ति होती है और न वह अपराध करने की पूर्व-योजना ही बनाता है।
(2) नियोजित अपराध—इस प्रकार के अपराधों से तात्पर्य संगठित, व्यावसायिक तथा श्वेतवस्त्र अपराधों से है जिनमें अपराधी जान-बूझकर, सोच-समझकर तथा पूरी योजना बनाकर किसी विशिष्ट आर्थिक-सामाजिक लोभ या लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु वे कार्य करता है जो असामाजिक तथा अवैधानिक हैं।

अपराध के विभिन्न स्वरूपों को ध्यान में रखकर अपराधी घटनाओं को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जाता है[1] :—

(1) **श्वेतवस्त्र अपराध**—टैक्स बचाना, गबन, ठगी तथा उपभोग की वस्तुओं में धोखेबाजी।

(2) **संगठित अपराध**—जुआ, वर्जित मादक द्रव्यों का विक्रय, वेश्यावृत्ति, अधिकारियों को घूस देकर या डरा-धमकाकर फायदा उठाना।

(3) **सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध**—चोरी, डकैती, राजद्रोह।

(4) **काम-अपराध**—बलात्कार, शीलहरण, गर्भपात, अश्लीलता, सहलिंगीय काम-सम्बन्ध।

(5) **व्यक्ति के विरुद्ध अपराध**—हत्या, मारपीट, हमला।

(6) **जन-स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराध**—नगरपालिकाओं के जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन तथा यातायात के नियमों का अतिक्रमण।

(7) **क्रान्तिकारी अपराध**—सार्वजनिक हिंसा, आग लगाना, लूट-मार, बम छोड़ना तथा तहस-नहस करना आदि।

दंड-संहिताओं में प्रमुख अपराधों का वर्गीकरण निम्नांकित आधारों पर किया जाता है :—

(1) **मानव शरीर पर प्रभाव डालनेवाले अपराध**—अपराधिक मानव-वध, हत्या, अपराधिक बल, हमला, मार-पीट आदि।

(2) **सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध**—चोरी, लूट, डकैती, हत्या सहित डकैती, सम्पत्ति का बेईमानी से दुर्विनियोग, चुराई हुई सम्पत्ति को खरीदना या ऐसी सम्पत्ति का व्यापार करना, जाली सिक्के तथा नोट बनाना आदि।

(3) **नैतिकता के विरुद्ध अपराध**—बलात्कार, सहलिंगीय यौन सम्भोग, प्रकृति-विरुद्ध अपराध, वेश्यावृत्ति के प्रयोजन से लड़की या महिला का अपहरण, खरीदना तथा बेचना आदि।

(4) **लोक-स्वास्थ्य के विरुद्ध अपराध**—खाद्य पदार्थों तथा पेय पदार्थों में मिलावट तथा औषधियों का अपमिश्रण आदि।

(5) **धर्म से सम्बन्धित अपराध**—किसी वर्ग के धर्म का अपमान करने के आशय से उपासना के स्थान को क्षति पहुँचाना या अपवित्र करना आदि।

---

1. रमसे क्लार्क, क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1971), पृ० 20–21।

(6) राज्य के विरुद्ध अपराध—सरकार के विरुद्ध युद्ध करना, युद्ध करने का प्रयत्न करना, युद्ध करने की दुष्प्रेरणा करना, सरकार के विरुद्ध युद्ध करने के आशय से हथियार आदि का संग्रह करना, युद्ध की योजना को सफल बनाने के प्रयोजनार्थ उन्हें छिपाये रखना तथा राजद्रोह आदि।

(7) लोक-प्रशान्ति के विरुद्ध अपराध—विधि-विरुद्ध जमाव, विधि-विरुद्ध जमाव का सदस्य होना, घातक हथियारों से सज्जित होकर विधि-विरुद्ध जमाव में सम्मिलित होना, बल्वा करना, घातक हथियारों से सज्जित होकर बल्वा करना, विधि-विरुद्ध जमाव में सम्मिलित करने के लिए व्यक्तियों को भाड़े पर लेना, लोक-सेवक जब बल्वे को दबा रहा हो तब उसपर हमला करना या उसे बाधित करना तथा दंगा करना आदि।

अपराधियों का वर्गीकरण

हैवलक इलिस ने अपराधियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया[1]—

(1) राजनैतिक अपराधी—शहीद, क्रान्तिकारी तथा राजनैतिक विद्रोही।

(2) मनोभावी अपराधी—संवेदनशील व्यक्ति जो शीघ्र ही उद्विग्न हो जाते हैं और अपराध कर बैठते हैं।

(3) पागल अपराधी—वे व्यक्ति जो बुद्धिहीनता तथा अपने मनोविकारों के प्रभाव में आकर अपराध कर बैठते हैं।

(4) आकस्मिक अपराधी—वे व्यक्ति जो विषम परिस्थितियों के बीच फँसकर अपराध करते हैं और जिनमें अपराधी मनोवृत्ति नहीं पायी जाती है।

(5) व्यावसायिक अपराधी—जो व्यक्ति अपराधी व्यवहार को एक लाभदायक व्यवसाय बना लेते हैं।

(6) स्वाभाविक अपराधी—वे व्यक्ति जो अपराधी स्वभाव को अपनी जीवन-शैली का अभिन्न अंग बना लेते हैं।

(7) नैतिक रूप से पागल अपराधी—वे व्यक्ति जिनमें नैतिक आदेशों के प्रति आदर नहीं उत्पन्न होता है और जो अनैतिक व्यवहार करते ही रहते हैं।

ऐशफेनबर्ग ने अपराधियों के पाँच प्रकार बताये[2]—(1) आकस्मिक अथवा सांयोगिक अपराधी, (2) भावप्रवण अथवा कामुक अपराधी, (3) सुविचारित अपराधी, (4) स्वाभाविक अपराधी, तथा (5) व्यावसायिक अपराधी।

---

1. हैवलक इलिस, दि क्रिमिनल (लंदन : 1901), पृ० 1–24।
2. गुस्ताव ऐशफेनबर्ग, क्राइम ऐन्ड इट्स रिप्रेशन (बोस्टन : 1913), पृ० 207.

हेन्डरसन ने अपराध के लिए दोषी ठहराये गये व्यक्तियों को निम्नांकित प्रकार से वर्गीकृत किया है[1] : (1) वे अपराधी जो अपने चरित्र से अपराधी नहीं है, (2) वे अपराधी जिनकी अपराधिता बड़ी ही सतही तथा दिखावटी प्रकार की है, (3) वे अपराधी जिनकी अपराधिता उनके चाल-चलन तथा आचार-विचार का अभिन्न अंग है।

हार्टन तथा लेस्ली ने अपराधियों के उस वर्गीकरण को अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना जिसमें उनको अपराध के प्रकार के आधार पर विभक्त किया जाता है। उनका कहना है कि इस प्रकार का वर्गीकरण न तो अपराधियों की प्रेरणाओं का ही ज्ञान कराता है और न उनके उपयुक्त सुधार के बारे में कोई सुझाव देता है। उन्होंने अपराधियों के व्यक्तित्व, चरित्र स्वभाव तथा उनकी अपराधी प्रेरणाओं को ध्यान में रखते हुए अपराधियों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया है[2] :—

(1) **वैधानिक अपराधी**—(अ) वे अपराधी जो अपने अज्ञानवश तथा अपनी मन्दबुद्धि एवं मनोविकारों के कारण कानून को या तो जानते नहीं हैं या ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो कानून के द्वारा निषिद्ध घोषित किए गये हैं और जिनके उल्लंघन के लिए व्यक्ति को दण्ड भोगना पड़ता है। (ब) वे अपराधी जो कानून के कार्यान्वयन की व्यवस्था के उस चक्रव्यूह में फँस जाते हैं जो अन्यायपूर्ण है और जिसमें झूठी गवाही, पुलिस की धाँधली तथा परिस्थिति-साक्ष्य के आधार पर गरीब तथा साधनहीन व्यक्ति जेल चले जाते हैं। (स) वे अपराधी जिनका तथाकथित अपराधी व्यवहार किन्हीं ऐसे क्रान्तिकारी कार्य करने से घटित होता है जो उनके दृष्टिकोण से समाज तथा सामान्य नागरिक के हित में हैं परन्तु जिन्हें कानून अवैधानिकता मानता है। इस प्रकार के व्यक्ति उन अवैधानिक कार्यों के दोषी ठहराये जाते हैं जिन्हें कानून में बगावत की संज्ञा प्रदान की जाती है।

(2) **नैतिक अपराधी**—नैतिक अपराधी वे व्यक्ति हैं जिनके ऊपर समाज के उन नैतिक नियमों के उल्लंघन का आरोप लगाया जाता है जिनको

---

1. सी० आर० हेन्डरसन, दि काज ऐन्ड क्योर आफ क्राइम (शिकागो : 1914), पृ० 17–18.
2. पाल बी० हार्टन ऐन्ड जेराल्ड आर० लेस्ली, दि सोशयालोजी आफ सोशल प्राब्लेम्स (न्यूयार्क : 1970), पृ० 136-145।

समाज वैधानिक मान लेता है। अपराधशास्त्र में इस प्रकार के अपराधों को विक्टिमलेस क्राइम कहा जाता है। इस प्रकार के अपराधी जुआ, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, मादक द्रव्य व्यसन, सहलिंगीय सम्भोग, अश्लीलता, तथा अन्य वर्जित लैंगिक कृत्यों के अपराधों के दोषी ठहराये जाते हैं। चूँकि इस प्रकार के अपराधी वास्तविक अर्थों में अपराधी नहीं होते हैं, अतः उनके सुधार का प्रश्न अपराधशास्त्र का विषय न होकर सार्वजनिक नैतिकता का विषय है।

(3) **मनोविकृत अपराधी**—इस वर्ग में वे अपराधी आते हैं जो अपने व्यवहार को अपनी जन्मजात तथा अर्जित मनोविकृतियों के आधार पर नियन्त्रित करने में असमर्थ होते हैं और जिनका अपराधी व्यवहार उनकी मानसिक असमता का फल होता है। इस प्रकार के अपराधियों के लिए दण्ड के स्थान पर चिकित्सा लाभदायक समझी जाती है।

(4) **संस्थागत अपराधी**—इस प्रकार के अपराधी वे व्यक्ति होते हैं जो उस व्यवहार के दोषी हैं जो कानून की नजरों में अपराध होने के बावजूद समाज अथवा उनके समुदाय में सामाजिक रूप से स्वीकृत है। उदाहरणार्थ दहेज लेना, छुआछूत मानना, आयकर बचा लेना, भिक्षा माँगना, आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें साधारण नागरिक अपराध नहीं मानता है परन्तु जिन्हें कानून में अपराध माना गया है।

(5) **आकस्मिक अपराधी**—इस प्रकार के अपराधी वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने किसी विषम परिस्थिति के दबाव में आकर कोई अपराधात्मक व्यवहार किया है। उस परिस्थिति या जीवन की दशा के न उत्पन्न होने पर उनसे अपराध करने की आशा नहीं की जा सकती है। इस प्रकार के अपराधियों के हेतु दण्ड की व्यवस्था व्यर्थ है क्योंकि उनमें अपराधी मनोवृत्ति नहीं पायी जाती है।

(6) **स्वाभाविक अपराधी**—इस प्रकार के अपराधी वे व्यक्ति होते हैं जो अपराध करने के थोड़े से अवसर या बहाना प्राप्त होने पर अपराध कर बैठते हैं। अपराध करना शायद उनके व्यवहार तथा जीवन-शैली का अभिन्न अंग बन गया है। इस प्रकार के व्यक्ति अपराध करने के अवसरों को ढूँढ़ा ही करते हैं।

(7) **व्यावसायिक अपराधी**—अपराधियों का यह वर्ग उन व्यक्तियों से निर्मित होता है जिनका पेशा ही अपराध करना है। इस प्रकार के अपराधी अपने को अपराधी मानकर चलते हैं और जान-बूझकर संगठित रूप से

योजना बनाकर तथा दुष्परिणामों को भली भाँति सोच-समझकर अपराध करते हैं। इन अपराधियों में अपराधी कुशलता पायी जाती है और उनको प्रोत्साहन देने तथा जेल जाने से बचा लेने के लिए कुछ व्यक्ति सदैव मौजूद रहते हैं। ऐसे अपराधी अपराध करने को धन-प्राप्ति का प्रमुख साधन मानते हैं और सोचते हैं कि अपराध करना उनके लिए आर्थिक रूप से लाभदायक है।

अपराधी व्यवहार

मानव व्यवहार विज्ञानों ने यह बात अकाट्य रूप से सिद्ध कर दी है कि अपराधी व्यवहार को अपराधी से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता है। अपराधी भी उसी प्रकार से समाज का अभिन्न अंग है जिस प्रकार से गैर अपराधी व्यक्ति और उसी सामाजिक-आर्थिक सन्दर्भ में अपराधी प्रवृत्तियों को आत्मसात् करता है जिसमें अन्य व्यक्ति व्यवहार के सामाजिक रूप से स्वीकृत प्रतिमानों को अपने व्यवहार का मूल आधार बना लेते हैं।

अपराधी व्यवहार की उत्पत्ति का प्रश्न अपराधशास्त्र का एक जटिल प्रश्न रहा है जिसका उत्तर आज तक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सका है। जिन सिद्धान्तों के द्वारा अपराधात्मक व्यवहार की व्याख्या की जाती है उनका इतिहास पुराना है। आदि काल से ही अनैतिक, असामाजिक तथा अवैधानिक व्यवहार की व्याख्या अपराधशास्त्र विशेषज्ञ उस युग के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ तथा उस युग के उपलब्ध ज्ञान के आधार पर करते आये हैं। प्राचीन युग में यह माना जाता था कि व्यक्ति अपराध किसी दूसरी दुनियाँ में निवास करने वाली शक्तियों (भूत-प्रेत आदि) के वशीभूत होकर करता है। ये शक्तियाँ उस व्यक्ति के सिर पर बैठ जाती हैं और उसे अपराध करने के लिए विवश कर देती हैं। आज भी ग्रामीण तथा जन-जातीय समाजों में जादू-टोने तथा झाड़-फूँक के आधार पर इन शक्तियों से मुक्ति पाने के प्रयत्न किये जाते हैं। अपराधी व्यवहार की व्याख्या का यह सिद्धान्त आदिम समाजों में सत्य माना जाता था परन्तु विज्ञान तथा तार्किकता के आधुनिक युग में इस प्रकार के अन्धविश्वास को सही नहीं माना जा सकता है। इस सिद्धान्त का खण्डन इसलिए हुआ कि इसमें वैज्ञानिकता का अभाव था।

इस सिद्धान्त के पतन के उपरान्त अपराधी व्यवहार की प्राकृतिक व्याख्या का सिद्धान्त लोकप्रिय हुआ। यह सिद्धान्त उन सभी अपराधी व्यवहार

की व्याख्याओं का संकलन है जिसमें अपराध की उत्पत्ति दूसरी दुनियां में निवास करने वाली शक्तियों के आधार पर न करके, इसी दुनियां तथा व्यक्ति एवं समाज में निहित जन्मजात तथा अर्जित प्रवृत्तियों के आधार पर शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारकों के माध्यम से किया जाता है। अपराधी व्यवहार का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने अपराध के प्रेरक तत्वों तथा कारकों की जो व्याख्यायें आज तक की हैं और उनसे जो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उन्हें निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है—

(1) अपराध का शास्त्रीय तथा नवशास्त्रीय सिद्धान्त।
(2) अपराध का सकारात्मक सिद्धान्त।
(3) अपराध का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।

18वीं शताब्दी में अपराधशास्त्र के शास्त्रीय सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसके प्रमुख प्रवर्तक बेकारिया (इटली, 1735-1795) तथा बेन्थम (इंगलैण्ड, 1848-1932) थे। शास्त्रीय सम्प्रदाय तार्किकता पर आधारित था जिसके मतानुसार मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल) के आधार पर अपने व्यवहार-प्रतिमानों का चयन करता है और उसमें जीवन के सही या गलत मार्ग को चुनने की अन्तरजात शक्ति विद्यमान रहती है।

बेकारिया के मत में व्यक्ति एक स्वतन्त्र नैतिक कर्ता है जिसे अच्छाई और बुराई के मार्ग को चुनने का विकल्प प्राप्त रहता है। यदि वह बुराई करने वाले विकल्प को चुनता है तो यह उसका स्वयं का निर्णय है और इस निर्णय के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।

शास्त्रीय सम्प्रदाय सुखवाद (हेडानिज्म) की अवधारणा पर आधारित है जिसका अर्थ है कि मानव व्यवहार सुख-दुःख की अनुभूति पर ही आँका जा सकता है। सुखवाद को अपराध की व्याख्या का प्रमुख कारण मानने वाले विद्वानों का मत था कि व्यक्ति कोई कार्य करने से पहले यह सोचता है कि उस कार्य से होने वाला सुख उस कार्य से होने वाले दुःख से कम है या अधिक। यदि सुख-प्राप्ति की सम्भावना अधिक है तो वह व्यक्ति इस कार्य को करेगा, चाहे वह असामाजिक तथा अवैधानिक ही क्यों न हो।

जैसे-जैसे मानव व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि हुई और जीवविज्ञान, मानवविज्ञान, समाजशास्त्र, मनोचिकित्सा, मनोविज्ञान, सांख्यिकी आदि विषयों में वैज्ञानिकता बढ़ी, मानव व्यवहार (विशेष रूप से अपराधी व्यवहार) की व्याख्या तार्किकता एवं बौद्धिकता के एकमात्र आधार से हट कर व्यक्ति की

पैतृकता, शारीरिक गठन, मानसिक संरचना तथा भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण के आधार पर की जाने लगी। अपराध के कारणों की व्याख्या का यह सम्प्रदाय अपराध के कारणों की खोज अपराधी में निहित अच्छाई तथा बुराई चुनने की बौद्धिक क्षमता से हटकर उन शक्तियों की ओर अपना ध्यानाकर्षण किए हुए था जो मनुष्य के नियन्त्रण से परे हैं और जिनकी व्याख्या एक वैज्ञानिक प्रणाली के द्वारा की जा सकती है। अपराधी व्यवहार की व्याख्या के इस सिद्धान्त को अपराधशास्त्र में सकारात्मक सिद्धान्त के रूप में जाना गया।

इस सिद्धान्त ने 18वीं शताब्दी के मुक्त इच्छा के सिद्धान्त का खण्डन किया और यह मत प्रचलित करने का प्रयत्न किया कि व्यक्ति की शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण सम्बन्धी शक्तियाँ उसके सम्पूर्ण व्यवहार को न केवल प्रभावित करती हैं वरन् उनका निर्धारण करती हैं। अपराधी व्यवहार की व्याख्या का सकारात्मक सिद्धान्त अनेक अपराधशास्त्रियों के मतों का एक संकलन मात्र है जिसमें अपराध के उन सभी कारणों का वर्णन सम्मिलित है जिन्हें अपराध की प्रेरणा का स्रोत माना जाता है। अध्ययन की सरलता के लिए हम इन कारणों को सैद्धान्तिक व्याख्या अपराधी व्यक्तियों की शारीरिक तथा मानसिक संरचना एवं उनकी सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में कर सकते हैं।

अपराधिक व्यवहार के कारणों की व्याख्या

शारीरिक संरचना

अपराधी व्यवहार के कारणों की व्याख्या लाम्ब्रोसो तथा उनके सहयोगियों ने अपराधी व्यक्ति के शरीर की रचना के आधार पर की। इन विद्वानों का मत था कि व्यक्ति के शरीर की संरचना के भेद के ही कारण प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग तरीके से व्यवहार करता है। अपराधी व्यवहार की व्याख्या का यह उपागम इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि अपराधी अपने शारीरिक दोषों के आधार पर हीन भावना से ग्रस्त रहता है और उसी भावना के फलस्वरूप वह अपराधी व्यवहार करता है। जोहान कासपर लेवाटर ने 1775 में आकृति विज्ञान पर रचित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **फिजिआग्नोमिकल फ्रैगमेन्ट्स** में यह बताया कि व्यक्ति के चरित्र का ज्ञान उसके चेहरे की बनावट के द्वारा किया जा सकता है। प्रसिद्ध यूरोपियन शरीरशास्त्री फ्रैन्ज जोसेफ गाल ने 1819 में कपालविज्ञान की वैज्ञानिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

1824 में अमरीकी डाक्टर चार्ल्स काल्डवेल ने अपनी पुस्तक एलिमेन्ट्स आफ फ्रेनालोजी में गाल तथा लेवाटर के द्वारा कही गयी बातों का अनुमोदन किया और कहा कि व्यक्ति के कपाल की बनावट के आधार पर उसके व्यवहार का विश्लेषण किया जा सकता है। अपराधी व्यवहार की व्याख्या का यह सिद्धान्त अधिक प्रचलित न हो सका क्योंकि ये विद्वान वैज्ञानिक रूप से यह नहीं सिद्ध कर सके कि मस्तिष्क शरीर की संरचना के अनुसार कार्य करता है।

सिजारे लाम्ब्रोसो (1835-1909) ने अपराधियों के सम्पूर्ण शरीर की बनावट का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपराधी अपने शरीर की बनावट के आधार पर गैर-अपराधी व्यक्तियों से भिन्न होता है और यही भिन्नता उसके अपराधी होने का प्रमुख कारण है। उनका कहना था कि मनुष्य के सोचने-विचारने तथा कार्य करने के तरीकों का निर्धारण उसकी शारीरिक बनावट के आधार पर ही किया जा सकता है।[1] उनके मतानुसार हत्या करने वाले, चोरी करने वाले तथा अन्य प्रकार के गम्भीर अपराध करने वाले व्यक्ति अपनी शारीरिक बनावट के आधार पर न केवल गैर-अपराधी व्यक्तियों से भिन्न होते हैं वरन् आपस में भी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।[2]

लाम्ब्रोसो ने अपराधियों के शरीर की बनावट के बाह्य दोषों की एक सूची निर्मित की जिसमें कहा गया कि अपराधियों की आँखें, नाक, कान, जबड़े, होंठ, सिर, बाल तथा पैर साधारण व्यक्तियों से भिन्न होते हैं, उनमें समान अनुपात का अभाव होता है तथा उनकी बनावट एक विशेष प्रकार की होती है। अपराधी व्यक्तियों की इन्हीं शारीरिक भिन्नताओं के आधार पर उन्होंने कहा कि अपराधी जन्मजात होते हैं।[3] लाम्ब्रोसो द्वारा की गई अपराधी व्यवहार की व्याख्या का यह शरीरप्रकारीय सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित था :—

(1) व्यक्ति की विचित्र शारीरिक बनावट तथा अपराधिता में एक सीधा

---

1. हैन्स कुरेला, सिजारे लाम्ब्रोसो : ए माडर्न मैन आफ साइन्स (लन्दन : 1911), पृ० 18।
2. मारिस प्लासको, "सम काजेटिव फैक्टर्स इन क्रिमिनैलिटी", नेशनल कमीशन आन ला आब्जरवेन्स ऐन्ड एनफोर्समेंट, रिपोर्ट आन दि काजेज आफ क्राइम, वाशिंगटन, 1931।
3. सिजारे लाम्ब्रोसो, क्राइम, इट्स काजेज ऐन्ड रेमिडीज (बोस्टन : 1911), पृ० 17।

सम्बन्ध है, अर्थात् उसकी शारीरिक बनावट उसके नैतिक स्तर का द्योतक है।

(2) अपराधी तथा गैर-अपराधी व्यक्ति अपने शरीर तथा चरित्र के आधार पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

(3) अपराधियों की शारीरिक असामान्यताएँ उनकी पूर्वजानुरूपता का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं अर्थात् अपराधी व्यक्तियों में शरीर का गठन उनके शारीरिक रूप से पिछड़े होने का चिह्न है।

(4) आदिम मानव, जिसमें शरीर का विकास अपनी अपूर्ण अवस्था में था, आज के विकसित शरीर वाले मानव की तुलना में कहीं अधिक असामाजिक था।

(5) मानव के शरीर के गठन का कोई एक मापदण्ड है और जो व्यक्ति इस मापदण्ड पर खरा नहीं उतरता है वह अनैतिकता तथा असामाजिकता की जन्मजात प्रवृत्ति लेकर पैदा होता है।

(6) आदर्श शरीर की संरचना का एक मापदण्ड है अत व्यक्ति के शरीर के अंगों का विकास उसी अनुपात में होना चाहिए।

(7) चूँकि व्यक्ति की शारीरिक असामान्यताएँ आनुवंशिक हैं अतः उसकी अपराधिता जन्मजात है।

(8) अपराधियों का सुधार नहीं हो सकता है क्योंकि वे अपराधी प्रवृत्तियाँ लेकर पैदा होते हैं।

अँग्रेजी अपराध विशेषज्ञ चार्ल्स गोरिंग ने अपनी पुस्तक दि इंगलिश कनविक्ट (लन्दन : 1913) में लाम्ब्रोसो के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अपर्याप्त बताया और यह सिद्ध किया कि अपराधी तथा गैर-अपराधी व्यक्तियों के व्यवहार में भिन्नता का आधार शरीर की बनावट नहीं हो सकता है। कुरूप व्यक्ति अच्छे नागरिक हो सकते हैं तथा सुरूप व्यक्ति अपराधी हो सकते हैं। हूटन ने अमरीका के अपराधियों के एक मानवशास्त्रीय अध्ययन में गोरिंग के विचारों का खण्डन किया और लाम्ब्रोसे से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि अपराधी घटिया शरीर वाले वे व्यक्ति होते हैं जो पर्यावरण के प्रभाव में आकर अपराध कर बैठते हैं।[1] शेल्डन ने इन्डोक्रिनालोजी को अपराधी व्यवहार की व्याख्या का आधार माना और कहा कि व्यक्ति अपनी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की कार्यप्रणाली

1. अरनेस्ट एच० हूटन, क्राइम ऐन्ड दि मैन (कैम्ब्रिज : 1939)।

में उत्पन्न गड़बड़ी से अपराधी व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है।[1] क्रेमर ने अपने एक अध्ययन में यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि व्यक्ति के शरीर की बनावट तथा उसकी मानसिक प्रवृत्तियों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।[2]

मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सकीय कारण

अपराधी व्यवहार की शारीरिक बनावट तथा शारीरिक विषमताओं के आधार पर व्याख्या करनेवाले अपराधशास्त्रीय सिद्धान्तों के खण्डन के बाद मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों ने अपराधियों के ऊपर किये गये अपने अध्ययनों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अपराधिकता व्यक्ति की अल्पबुद्धि, बुद्धि-हीनता तथा मनोविकारों का एक फल मात्र है। इन विद्वानों का मत था कि अधिकांश अपराधी अल्प बुद्धि रखनेवाले मूर्ख व्यक्ति होते हैं। गोडार्ड ने अपनी पुस्तक फीबिल-माइन्डेडनेस : इट्स काजेज ऐन्ड कान्सीक्वेन्सेज (1914) में जेल में रखे गये अपराधियों के बुद्धि-लब्धमान का अध्ययन किया और यह पाया कि अधिकांश अपराधी मन्द बुद्धि के थे। बाल अपराधियों पर किये गये एक अन्य अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर गोडार्ड ने अपने मत को पुष्ट किया और कहा कि बाल अपराध का सबसे बड़ा कारण अल्प बुद्धि तथा मानसिक दुर्बलता है।[3] जिलानी तथा फेरेन्ज ने अपराधियों पर किये गये अपने अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि अपराधी गैर-अपराधी व्यक्तियों की तुलना में कम बुद्धि रखते हैं।[4] राल्फ बैने ने शारीरिक विषमताओं तथा विकलांगता को अपराध करानेवाली एक मानसिक दशा माना और कहा कि अपराधी व्यक्ति अपने शरीर की बनावट के विकृत होने से जिस हीन भावना से ग्रसित रहते हैं उसे पूरा करने के लिए वे अपराध करते हैं।[5]

---

1. विलियम एच० शेल्डन, वैराय़ीज आफ टेम्परामेंट (न्यूयार्क : 1942)।
2. अरनेस्ट क्रेशमर, फिजीक ऐन्ड केरेक्टर (न्यूयार्क : 1925)
3. हेनरी एच० गोडार्ड, ह्यूमन इफीशियेन्सी ऐन्ड लेवेल्स आफ इन्टेलिजेन्स (प्रिन्सटन : 1920), पृ० 73।
4. (क) एल० डी० जिलानी, "फीबिल-माइन्डेडनेन्स ऐन्ड क्रिमिनल कन्डक्ट," अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, जनवरी 1933, पृ० 564-576।
   (ख) एडवर्ड जे० फेरेन्ज, "मेन्टल डेफीशियेन्सी ऐन्ड क्राइम," जरनल आफ क्रिमिनल ला, सितम्बर-अक्टूबर, 1954, पृ० 299-307।
5. राल्फ एस० बैने, "फिजिकल डिसफिगरमेन्ट इज ए फैक्टर इन डेलिक्वेन्सी ऐन्ड क्राइम," फेडरल प्रोबेशन, जनवरी-मार्च, 1943, पृ० 20-24।

बार्न्स एवं टीटर्स, सदरलैण्ड एवं क्रेसी तथा गिबन्स ने मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों की उन व्याख्याओं को सही नहीं माना जिनमें यह सिद्ध किया गया था कि अपराधी असामान्य व्यक्तित्व के वे लोग होते हैं जो अपनी अल्पबुद्धिता, बुद्धिहीनता तथा मानसिक विकारों के कारणवश अपराध करते हैं। अपने तर्क के आधार को स्पष्ट करते हुए इन विद्वानों ने कहा कि मानसिक परीक्षण करनेवाले अपराधशास्त्री उन अपराधियों तथा बाल अपराधियों का अध्ययन करते आये हैं जो पकड़े जाते हैं या जेलों में पाये जाते हैं। जेल की दीवारों के बाहर पाये जानेवाले अपराधियों तथा बाल अपराधियों के उस बड़े वर्ग के बारे में उन्हें कोई ऐसी जानकारी नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे भी अल्प बुद्धि के हैं। सत्य तो यह है कि अल्पबुद्धि तथा बुद्धिहीन अपराधी ही बड़ी संख्या में पकड़े जाते हैं और चालाक तथा कुशाग्र बुद्धि के अपराधी पुलिस तथा न्याय के पंजे से बच जाते हैं।[1]

लोरे ने बुद्धिहीनता तथा अल्पबुद्धिता को अपराधी व्यवहार का प्रमुख कारण मानने से इनकार किया और गोडार्ड आदि विद्वानों के मत से अपनी सहमति व्यक्त की।[2]

सिलवरमैन ने 500 कैदियों के व्यक्तित्व के एक मनोवैज्ञानिक परीक्षण के आधार पर यह सिद्ध किया कि यह कहना असत्य है कि अधिकांश अपराधी स्नायुविकारों तथा मनोविकारों से ग्रस्त होते हैं।[3]

माइकेल हकीम ने सिलवरमैन की ही तरह बाल अपराधियों पर किये गये एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन में उन अपराधशास्त्रियों के मत का खण्डन

---

1. हैरी इलमर बार्न्स ऐन्ड नेगले के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (न्यू जर्सी : 1929), पृ० 136-204; एडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (शिकागो : 1966), पृ० 142, 143, 180; डान सी० गिबन्स, सोसाइटी क्राइम ऐन्ड करेक्शन (न्यू जर्सी : 1968), पृ० 143।
2. एल० जी० लोरे, "डेलिन्क्वेन्ट क्रिमिनल पर्सनैलिटीज," इन पर्सनैलिटी ऐन्ड बिहेवियर डिसआर्डर्स (न्यूयार्क : 1944), पृ० 808।
3. डैनियल सिलवरमैन, "दि साइकेट्रिक क्रिमिनल्स : ए स्टडी आफ 500 केसेज," जरनल आफ क्रिमिनल साइकोपैथालोजी (अक्टूबर : 1946), पृ० 301-327।

किया जो अपराध के मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सकीय कारणों को खोज में लगे थे।[1]

भौगोलिक तथा परिस्थिति सम्बन्धी कारण

जिन अपराधशास्त्रियों ने वंशानुक्रम को अपराधी व्यवहार की व्याख्या का सही सिद्धान्त नहीं माना उन में से कुछ ऐसे थे जिन्होंने अपराध को पर्यावरण की शक्तियों का प्रतिफल माना। मान्टेसक्यू ने अपनी पुस्तक स्पिरिट आफ लाज में कहा कि भूमध्य रेखा के जितना ही नजदीक पहुँचेंगे उतना ही ज्यादा वहाँ के स्थानों पर अपराध पाया जायेगा।

जिन अन्य विद्वानों ने अपराध का भौगोलिक संदर्भ में अध्ययन किया उनमें निम्नांकित का नाम विशेष रूप से लिया जाता है : जोजेफ कोहेन[2], इडविन जे॰ डेक्सटर[3] और जरहार्ड जे॰ फाक।[4]

अडोल्फ क्वेटलेट ने बताया कि व्यक्ति के विरुद्ध किये गये अपराधों की संख्या गर्मियों में बढ़ती है और जाड़ों में कम होती है तथा सम्पत्ति के विरुद्ध किये गये अपराधों की संख्या जाड़े में बढ़ती है और गर्मी में कम होती है।

बार्न्स और टीटर्स ने अपराधशास्त्र के भौगोलिक सम्प्रदाय की आलोचना की और कहा कि इस सम्प्रदाय के अनुयायी विद्वान समस्या को जितना सरल मान कर चलते हैं, समस्या उतनी सरल नहीं है। यदि मौसम से अपराधी व्यवहार उत्पन्न होता है तो हर व्यक्ति को अपराधी बन जाना चाहिए क्योंकि हर व्यक्ति उन्हीं भौगोलिक दशाओं में रहता है। आधुनिक युग के व्यवहार वैज्ञानिक अपराध के भौगोलिक निर्धारणवादी सिद्धान्त पर विश्वास नहीं रखते हैं। उनका कहना है कि पर्यावरण की शक्तियाँ व्यक्ति को प्रभावित अवश्य करती

---

1. माइकेल हकीम "ए क्रिटीक आफ साइक्रेट्रिक अप्रोच टु दि प्रिवेन्शन आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी", सोशल प्राब्लेम्स (विन्टर : 1927–28), पृ॰ 194–205.
2. जोजेफ कोहेन, "दि जिओग्रैफी आफ क्राइम", इन दि ऐनल्स आफ दि अकेडेमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, सितम्बर, 1941.
3. इडविन जी॰ डेक्सटर, वेदर इन्फ्लुयेन्सेज (न्यूयार्क : 1904).
4. जरहार्ड जे॰ फाक, "दि इनफ्लुयेन्स आफ सीजन आन क्राइम रेट", दि जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, जुलाई-अगस्त, 1952.

हैं परन्तु वे व्यवहार का निर्धारण नहीं कर पाती हैं क्योंकि मनुष्य प्रकृति का दास नहीं है। वह प्रकृति को अपने अनुकूल बना सकता है। कैपलन ने इस विषय पर लिखे अपने एक लेख के निष्कर्ष में कहा कि भौगोलिक कारकों तथा अपराध में जो सम्बन्ध है वह अपराधी व्यवहार की व्याख्या में बहुत थोड़ी महत्ता रखता है। अतः इस विषय पर किये अध्ययनों को विशेष महत्व नहीं प्रदान किया जाना चाहिए। यदि कहीं थोड़ी बहुत सत्यता प्रतीत होती है तो वह उस भौगोलिक सिद्धान्त में पाई जाती है जिसमें कहा गया है कि अपराध और मौसम में थोड़ा सम्बन्ध है, परन्तु यह बात भी पूर्ण रूप से वैज्ञानिक नहीं है।[1]

आर्थिक कारण

दरिद्रता अपराध का सबसे पुराना तथा सबसे अधिक प्रचलित सिद्धान्त रहा है। कार्ल मार्क्स तथा उनके अनुयायी समाज-कार्यकर्ताओं एवं मानववादियों ने आर्थिक कारणों को अपराधी व्यवहार की उत्पत्ति में सबसे प्रमुख माना। इटैलियन अपराधशास्त्री इटोरे फोर्नासारी डि वर्स ने 1894 में इटली की जेलों में रखे गये अपराधियों के एक अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला कि 60 प्रतिशत गरीब वर्ग के अपराधियों में 85 से लेकर 90 प्रतिशत तक वे अपराधी थे जिन्होंने आर्थिक कारणों के दबाव में आकर अपराध किये थे। डच अपराधशास्त्री विलियम बांगर ने तार्किक ढंग से यह कहा कि गरीबी अपराध को बढ़ावा देती है और अपराध पूँजीवादी देशों की आर्थिक व्यवस्था में निहित अन्तर-संघर्षों का एक फल है। उन्होंने कहा कि गरीब लोग अपनी गरीबी से उत्पन्न कुंठाओं के कारण शराब पीते हैं जो उनके अपराधी व्यवहार का परोक्ष कारण बनती है।[2] बांगर के इन विचारों का अनुमोदन अमरीकी विद्वान चार्ल्स लोरिंग ब्रेस तथा जैकबरीस ने अपनी कृतियों में किया और गरीबों की दयनीय अवस्था को अपराध तथा बाल अपराध की नगरीय समस्याओं का प्रमुख कारण बताया।

19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी के अपराधशास्त्रियों ने गरीबी को केवल उन अपराधियों के बनाने में उत्तरदायी बताया जो छोटे मोटे अपराध करते थे। बड़े अपराधी गरीबी के लिए नहीं, वरन् अधिक अमीर बनने के लिए

---

1. सिडनी जे० कैपलन, "दि जियोग्रैफी आफ क्राइम", इन सोश्यालोजी आफ क्राइम (सम्पादित) जोजेफ एस० रूसेक (लन्दन : 1962), पृ० 185.
2. विलियम ए० बांगर, क्रिमिनालोजी ऐण्ड इकोनामिक कन्डीशन (बोस्टन : 1916), पृ० 643.

अपराध करते हैं। जीवन की आर्थिक आवश्यकताएँ उन्हें अपराधी नहीं बनाती हैं, वे अपराधी बनते हैं अपनी लोलुपता तथा धन की लिप्सा के कारणवश।

जो विद्वान समाज की आर्थिक दशाओं को अपराध की उत्पत्ति का कारण मानते हैं वे इस मान्यता को स्वीकार करके चलते हैं कि आर्थिक व्यवस्था मानव व्यवहार को बहुत बड़ी सीमा तक निर्धारित करती है। कार्ल मार्क्स का आर्थिक निर्धारण का सिद्धान्त इसी मान्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। मार्क्स का कथन है कि सामाजिक सम्बन्धों का आधार समाज की आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है। अपराध के आर्थिक निर्धारणवादी सिद्धान्त के प्रवर्तक विद्वान दरिद्र व्यक्तियों के जीवन-स्थिति के परिणामों को अपराध, बाल अपराध, आवारा-पन आदि के असामाजिक व्यवहार प्रतिमानों के रूप में देखते हैं। थार्सटेन सेलिन ने यूरोप तथा अमरीका में किये गये उन सभी शोध अध्ययनों के निष्कर्षों को संकलित किया जिनमें आर्थिक दशा तथा अपराध में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था और यह बताया गया था कि दरिद्रता और बेरोजगारी अपराध की उत्पत्ति के प्रमुख कारक हैं।[1]

सामाजिक कारण

जिन विद्वानों ने अपराधी व्यवहार की व्याख्या सामाजिक कारकों के आधार पर करने का प्रयत्न किया उनमें इनरिको फेरी का नाम सबसे पहला था। उन्होंने ही अपराधिक समाजशास्त्र के क्षेत्र का वर्णन करते हुए कहा था कि समाजशास्त्र की यह शाखा केवल उन दशाओं के अध्ययन मात्र से ही सम्बद्ध नहीं है जिनसे अपराध का जन्म होता है, वरन् उस नीति के निर्धारण, मूल्यांकन तथा स्थायीकरण से भी सम्बन्धित है जिससे अपराध का नियंत्रण तथा रोकथाम की जा सकती है। अपराधिक समाजशास्त्र के लिए जो भी साक्ष्य उन्हें प्राप्त था वह अपराधिक सांख्यिकी के द्वारा उपलब्ध हुआ था। अपराधिक सांख्यिकी ने उन दुर्दशाओं की ओर समाजशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया जिनमें अपराधी रहते थे और जिन दशाओं से उनके ऊपर अपराधी व्यवहार करने के अनेकानेक दबाव स्वयं उत्पन्न हो जाते थे। फेरी के अनुसार अपराध निम्नलिखित सामाजिक कारकों का फल है[2] :—

---

1. थार्सटेन सेलिन, ''रिसर्च मेमोरैन्डम आन क्राइम इन दि डिप्रेशन'', सोशल साइन्स रिसर्च बुलेटिन नं० 27, न्यूयार्क, 1947.
2. इनरिको फेरी, क्रिमिनल सोश्यालोजी (न्यूयार्क : 1866) पृ० 530.

(1) जनसंख्या का घनत्व।
(2) जनमत।
(3) चाल-चलन तथा धर्म।
(4) पारिवारिक परिस्थितियाँ।
(5) औद्योगिक व्यवसाय।
(6) शिक्षा प्रणाली।
(7) मद्यपान।
(8) आर्थिक एवं राजनैतिक दशाएँ।
(9) लोक प्रशासन।
(10) न्याय, पुलिस तथा दण्ड-व्यवस्था।

वास्तव में फेरी का मत था कि अपराध मानवशास्त्रीय, भौतिक तथा सामाजिक कारकों के अनेकों सम्मिश्रणों का फल है। मानवशास्त्रीय कारकों से उनका तात्पर्य शरीर-गठन, मानसिक दशा, प्रजाति, आयु, लिंग, वैवाहिक स्तर, जन्म-स्थान, शिक्षा आदि की वैयक्तिक विशेषताओं से था। भौतिक कारकों से उनका तात्पर्य था जलवायु, भूमि की दशा, दिन और रात की लम्बाई, मौसम, तापमान तथा जलवायु सम्बन्धी अन्य परिस्थितियों से।

जर्मन अपराधशास्त्री गुस्टाव ऐश्फेनवर्ग ने अपराध के कारकों को सामाजिक ऐवं व्यक्तिगत भागों में विभक्त किया। सामाजिक कारकों के अन्तर्गत उन्होंने प्रजाति, धर्म, शहर, देश, व्यवसाय, मदिरा-प्रयोग, वेश्यावृत्ति, जुआ तथा अनुपयुक्त आर्थिक दशाओं को रखा।[1]

डच समाजवादी विलियम बांगर ने अपराध के आर्थिक पहलू को प्रधानता दी और कहा कि पूँजीवादी व्यवस्था में निहित दबावों के फलस्वरूप धन एवं सम्पत्तिहीन व्यक्ति अपराध करते हैं। अपराधिक दबाव गरीबी, बेरोजगारी, असुरक्षा, बुरी निवास-व्यवस्था, शिक्षा का अभाव तथा माताओं के नौकरी करने आदि की समस्याओं से उत्पन्न होता है। सर्वहारा वर्ग के व्यक्ति पूँजीवादी व्यवस्था में अधिक अनुपात में अपराध के चक्र में फँस जाते हैं।

अमरीकी समाजशास्त्री विलियम आई० टामस तथा एडविन एच० सदरलैण्ड ने अपराध के लिए प्रतिकूल सामाजिक दशाओं को उत्तरदायी बताया। अपराध के कारकों की व्याख्या में उन्होंने अपना ध्यान सामाजिक विघटन की

1. गुस्टाव ऐश्फेनवर्ग, क्राइम ऐण्ड इट्स रिप्रेशन (बोस्टन : 1913)।

उन शक्तियों पर केन्द्रित किया जिनसे व्यक्ति के ऊपर समूह तथा संस्थाओं का प्रभाव कम हो जाता है और सामाजिक नैतिकता का आधार तीव्र परिवर्तन की प्रक्रिया में टूट जाता है।

हैन्स वान हेन्टिग ने सामाजिक कारकों को सामाजिक शक्तियां कहा और अपराध के लिए निम्नांकित सामाजिक-आर्थिक कारकों को गिनाया : बेरोजगारी; मुद्रास्फीति, मूल्यों में गिरावट, पारिवारिक झगड़े, भग्न परिवार, अवैध पितृता, सौतेली सन्तान, अनाथ होने का अनुभव तथा बुरा पास-पड़ोस। हेन्टिग का मत था कि अपराधी व्यवहार मनुष्य में व्याप्त विशिष्ट वैयक्तिक मनोभावों तथा बहुमुखी बाह्य शक्तियों के सम्मिलित प्रभाव से उत्पन्न होता है।[1]

अपराध के परिस्थिति सम्बन्धी सम्प्रदाय का जन्म समाज शास्त्र की उस शाखा से हुआ जिसका प्रमुख ध्यान व्यक्ति-व्यवहार पर समुदाय के पड़ने वाले प्रभाव की ओर था। अपराधी क्षेत्र के सिद्धान्त का विकास भी इसी परम्परा का एक प्रगतिशील कदम है। फ्रेडरिक थ्रेशर तथा क्लिफर्ड आर० शा ने अपने परिस्थिति शास्त्रीय अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि अपराध एवं बाल अपराध करने वाले गिरोह तथा इस प्रकार के व्यवहार को बढ़ावा देने वाली भौगोलिक परिस्थितियां आधुनिक नगरों में पाई जाती हैं और जिनके कारणवश अपराध की घटनाएं उन्हीं क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में घटित होती हैं जिन्हें समाजशास्त्रीय शब्दों में अपराधी क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। ह्वाइट तथा कोहेन ने अपराधी क्षेत्र के प्रत्यय की आलोचना की और कहा कि इस प्रत्यय को अधिक महत्त्व इसलिए नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उसमें उन मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शक्तियों को भौगोलिकता के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है जिनका भौगोलिक तथा परिस्थिति सम्बन्धी शक्तियों से कोई तात्पर्य नहीं है।[2]

अपराध की व्याख्या का विभेदक साहचर्य का सिद्धान्त

अपराधी क्षेत्र के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त की लोकप्रियता कम होने के बाद सदरलैण्ड ने अपराधी व्यवहार की व्याख्या के लिए विभेदक साहचर्य के

1. हैन्स वान हेन्टिग, क्राइम : काजेज ऐन्ड कन्डीशन्स (न्यूयार्क : 1947), पृ० 203, 209, 380।
2. (1) विलियम एफ० ह्वाइट, स्ट्रीट कारनर सोसायटी (शिकागो : 1955); (2) अलबर्ट के० कोहेन, डेलिन्क्वेन्ट ब्वायेज (ग्लेनको 1955)।

सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[1] इस सिद्धान्त के माध्यम से उन्होंने यह बताया कि अपराधी व्यवहार व्यक्तियों के मध्य होने वाली उस अन्तःक्रिया का फल है जिसे वे एक दूसरे के प्रभाव में आकर सीखते हैं। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपराधी तब बनता है जब उसमें कानून के उल्लंघन की प्रवृत्तियाँ कानून के पालन की प्रवृत्तियों से कहीं अधिक बढ़ जाती हैं। चूँकि सदरलैण्ड यह मान कर चले कि अधिकांश अपराधी व्यवहार एक सीखा हुआ व्यवहार है अतः उनका मत था कि व्यक्ति अपराधी केवल अपराधियों के सम्पर्क में आकर ही बनता है। वह उनके सम्पर्क में आकर उन प्रवृत्तियों को भुलाना शुरू कर देता है जो उसे अपराधी बनने से रोकती हैं और अन्ततोगत्वा वह उन प्रवृत्तियों को धारण करता है जो उसे अपराधी बनने में सहायक सिद्ध होती हैं। सरल शब्दों में इस सिद्धान्त का सारांश था कि एक व्यक्ति अपराधी अपने जीवन में उन परिभाषाओं की अधिकता के कारण बनता है जो कानून के उल्लंघन के लिए अनुकूल हैं और उन परिभाषाओं से कहीं अधिक शक्तिशाली हैं जो व्यक्ति को कानून तोड़ने से रोकती हैं।

विभेदक साहचर्य के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ

सदरलैण्ड ने विभेदक साहचर्य के सिद्धान्त की जो व्याख्या की है, उस व्याख्या में निम्नलिखित मान्यताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं :—

(1) अपराधी व्यवहार एक सीखा हुआ व्यवहार है।

(2) अपराधी व्यवहार अन्य व्यक्तियों के साथ संचार प्रक्रिया के सन्दर्भ में अन्तःप्रक्रिया के माध्यम से सीखा जाता है।

(3) अपराधी व्यवहार का बहुत बड़ा भाग घनिष्ठ सम्बन्धों वाले निजी समूहों में सीखा जाता है।

(4) जब अपराधी व्यवहार सीखा जाता है तब सीखने की इस प्रक्रिया में अपराध करने की सरल एवं जटिल विधियाँ तथा अपराधिक दृष्टिकोण सम्मिलित रहते हैं।

(5) अपराधी व्यवहार की दिशा वैधानिक संहिता में वर्णित उन परिभाषाओं पर निर्भर करती है जो इस व्यवहार के अनुकूल तथा प्रतिकूल हैं।

---

1. (1) इडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिंसिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (फिलाडेलफिया : 1955); (2) राबर्ट एच० काल्डवेल, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1956); (3) जार्ज बी० वोल्ड, थ्योरेटिकल क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1958)

(6) कोई व्यक्ति अपराधी कानून की अवज्ञा से सम्बद्ध उन अनुकूल परि-भाषाओं के बाहुल्य के कारण बनता है जिनसे कानून को पालन कराने वाली परिभाषायें शिथिल हो जाती हैं।

(7) अपराधी व्यवहार सीखने की प्रक्रिया की बारम्बारता, अवधि, प्रथमता तथा प्रबलता के आधार पर घटती बढ़ती रहती है।

(8) अपराधी व्यवहार सीखने की प्रक्रिया अन्य प्रकार के व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया के समान है।

विभेदक साहचर्य के सिद्धान्त की आलोचना

सदरलैण्ड द्वारा प्रतिपादित विभेदक साहचर्य के सिद्धान्त की आलोचना अनेक विद्वानों ने निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की है :—

(1) बोल्ड ने सदरलैण्ड के उस विचार का खण्डन किया जिसमें यह कहा गया था कि अपराधिक व्यवहार प्रतिमानों के साथ सम्पर्क एवं साहचर्य की प्रक्रिया व्यक्ति को निरपराधी व्यवहार छोड़कर अपराधी व्यवहार सीखने के लिए विवश करती है। बोल्ड ने कहा कि यदि यही सत्य है तो हर उस व्यक्ति को अपराधी बन जाना चाहिए जो अपराधी व्यवहार प्रतिमान रखने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क एवं संसर्ग में आता है; उदा-हरणार्थ, पुलिस तथा कारागारों के कर्मचारी या अपराधी व्यक्ति के परि-वार के सभी सदस्य। चूँकि ऐसा नहीं होता है अतः सदरलैण्ड का विभेदक साहचर्य का सिद्धान्त भ्रमात्मक है।[1]

(2) काल्डवेल के मत में विभेदक साहचर्य के सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें व्यक्ति के अपराधी व्यवहार करने की मुक्त इच्छा को बिल्कुल महत्व प्रदान नहीं किया गया है। काल्डवेल का कहना है कि बहुत से अपराधी बिना किसी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव में आये हुए स्वयं अपनी इच्छा से अपराध करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपराध करने की प्रेरणा किसी दूसरे अपराधी व्यक्ति के सम्पर्क में आकर नहीं ग्रहण करते।[2]

(3) ग्लीनवर्ग ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धांत अपराधिक व्यवहार के उस मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्वीकार करके चलता है जिसके अनुसार

---

1. जार्ज बी० बोल्ड, थ्योरेटिकल क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क, 1958), पृ० 194।
2. राबर्ट जी० काल्डवेल, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1956), पृ० 182।

अपराध एक सोच-विचार कर तथा जान-बूझ कर किया गया कार्य है। उन्होंने कहा कि बहुत से अपराध (उदाहरणार्थ हत्या, मारपीट, आदि) ऐसे अपराध हैं जो एक विशेष परिस्थितिवश किये जाते हैं और जिनके करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई पूर्व-योजना ही बनायी गयी हो।[1]

(4) क्लिनार्ड ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धांत उन लोगों के बारे में कुछ नहीं कहता है जिनको अपराधो द्वारा पीड़ा या क्षति पहुँचती है।[2]

(5) जेफरी ने कहा कि यह सिद्धांत अपराध की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करता है।[3]

(6) शार्ट ने कहा लि सदरलैण्ड ने कुछ ऐसे शब्दों (जैसे 'Systematic', तथा 'Excess' आदि) का प्रयोग करते समय न तो उन परिभाषाओं को स्पष्ट किया जिन्हें वे अपराधी व्यवहार का प्रमुख आधार मानते हैं और उन्होंने अनेक उन शब्दों को भी ठीक से नहीं समझा है जिन्हें वे बार-बार प्रयोग में लाते रहते हैं।[4]

(7) बार्न्स तथा टीटर्स ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धांत अपराध के जैविकीय कारणों को ध्यान में नहीं रखता है।[5]

(8) जोन्स ने कहा कि विभेदक साहचर्य के सिद्धांत में अन्तरविषयी प्रवृत्ति न होने के कारण व्यापकता का अभाव है।[6]

---

1. एस० किरसन बीनवर्ग, 'थ्योरीज आफ क्रिमिनैलिटी ऐन्ड प्राब्लेम्स आफ प्रेडिक्शन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 45, नवम्बर-दिसम्बर, 1954, पृ० 412–419।
2. मार्शल बी० क्लिनार्ड "सोशियालोजी आफ डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम", रिव्यू आफ सोशियालोजी (न्यूयार्क : 1957), पृ० 497।
3. क्लारेन्स आर० जेफरी, "ऐन इन्टीग्रेटेड थ्योरी आफ क्राइम ऐन्ड क्रिमिनल बहेवियर," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 49, मार्च-अप्रैल, 1959, पृ० 533, 552।
4. जेम्स एफ० शार्ट, "डिफरेन्शियल असोसियेशन ऐन्ड डेलिक्वेन्सी", सोशल प्राब्लेम्स, वाल्यूम 4, जनवरी 1957, पृ० 233–239।
5. हैरी इलमर बार्न्स ऐन्ड नेगली के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (न्यूजर्सी : 1959), पृ० 159।
6. हावर्ड जोन्स, क्राइम ऐन्ड दि पेनल सिस्टम (लन्दन, 1956) पृ० 95।

(9) थ्रैग ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धांत समाजशास्त्र में मान्य सिद्धान्तों तथा आनुसंधानिक निष्कर्षों के साथ ठीक से तालमेल बैठा पाने में असमर्थ है।[1]

(10) गिल ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धांत अति व्यापक है क्योंकि यह उन लोगों पर भी लागू होता है जो अपराधी नहीं हैं।[2]

(11) शार्ट ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि हर व्यक्ति को अपराधी तथा गैर अपराधी व्यवहार प्रतिमानों के संसर्ग में आने का बराबर अवसर प्राप्त रहता है।[3]

(12) क्लिनार्ड ने कहा कि यह सिद्धान्त उन अपराधियों पर लागू नहीं होता है जो गाँवों में निवास करते हैं, जो श्वेत-वस्त्र अपराधी नहीं हैं, जो व्यक्तिगत स्तर पर अपराध करते हैं, जो आकस्मिक अपराधी हैं या जो आवेश, क्षणिक उत्तेजना तथा अन्य तात्कालिक मनोभावों के दबाव में आकर अपराध करते हैं।[4]

(13) क्रेसी ने क्लिनार्ड से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि इस सिद्धान्त में अनेक ऐसे अपवाद शामिल हैं जिनके कारण इसकी सैद्धांतिक महत्ता कम हो जाती है।[5]

(14) बार्न्स ऐन्ड टीटर्स ने कहा कि (1) यह सिद्धान्त अपराधी व्यवहार की व्यक्तिगत विशेषताओं तथा व्यक्तित्व के प्रमुख निर्धारक तत्वों को ध्यान में नहीं रखता है। व्यक्तित्व की विशेषताओं का अपराधिता में कितना स्थान है, इस प्रश्न पर यह सिद्धान्त मौन है। (2) यह सिद्धान्त यह सिद्ध

---

1. क्लारेन्स थ्रैग, "रिव्यू आफ प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 20, अगस्त 1955, पृ० 500–501।
2. हावर्ड बी० गिल; "ऐन आपरेशनल व्यू आफ क्रिमिनालोजी" आर्काइव्स आफ क्रिमिनल साइकोडाइनेमिक्स, अक्टूबर 1957, पृ० 284।
3. जेम्स एफ० शार्ट, "डिफरेन्शियल असोसियेशन ऐज ए हाइपोथिसिस", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, सितम्बर, 1959, पृ० 3.
4. मार्शल बी० क्लिनार्ड, सोशियालोजी आफ डीवियेन्ट बहेवियर (न्यूयार्क : 1957), पृ० 229.
5. डोनाल्ड आर० क्रेसी, "दि डिफरेन्शियल असोसियेशन थ्योरी ऐन्ड कम्पलसिव क्राइम्स" जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 45, मई-जून, 1954, पृ० 49–54.

कर पाने में असमर्थ है कि एक ही प्रकार के अपराधी वातावरण में रहने वाले सभी व्यक्ति अपराधी क्यों नहीं बनते हैं।[1]

(15) ग्लासर ने कहा कि सदरलैण्ड का यह सिद्धान्त यह नहीं तय कर पाता है कि अपराधी व्यवहार प्रतिमानों के प्रभाव को कैसे मापा जाये।[2]

(16) बाल ने कहा कि सदरलैण्ड का यह सिद्धान्त व्यक्ति के अपराधी बनने की प्रक्रिया को जितने सरल रूप से समझाने का प्रयत्न करता है, प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है।[3]

(17) शेल्डन ग्लुक ने कहा कि विभेदक साहचर्य का सिद्धान्त अस्पष्ट है, इसमें पारिभाषिक कमियाँ हैं और इससे सम्पूर्ण अपराधी व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती है। ग्लुक के मत से अपराधिक व्यवहार की परिभाषाओं की व्याख्या हर व्यक्ति अपने अपने ढंग से अपनी अभिरुचियों तथा अपनी जन्मजात क्षमताओं तथा अक्षमताओं के आधार पर करता है।[4]

फ्रान्सीसी विद्वान् ग्रेवियल टार्डे ने अपनी पुस्तक—लाज आफ इमीटेशन (1890) में साहचर्य के माध्यम से सीखने की प्रक्रिया को अपराधी व्यवहार सीखने के सिद्धान्तों से निकट पाया। अपराधशास्त्र की आधुनिक शोध-कृतियाँ निरन्तर यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही हैं कि अपराध वह व्यवहार है जिसे व्यक्ति अपने चारों ओर फैले वातावरण की शक्तियों के प्रभाव में आकर सीखता है। अपराधशास्त्र के परिस्थिति-शास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नगर के उन क्षेत्रों में जहाँ अपराध तथा बाल अपराध की घटनाएँ रोज ही घटती रहती हैं, वहाँ के निवासी अपराध करने के तरीके तथा अपराधी मनोवृत्ति को सरलता तथा स्वाभाविकता से सीख लेते हैं। क्लिफर्ड आर० शा तथा

1. हैरी इलमर बार्न्स ऐण्ड नेगली के० टीटर्स, पूर्वोल्लिखित, पृ० 159.
2. डेनियल ग्लासर, "क्रिमनैलिटी थ्योरीज ऐण्ड बिहेवियर इमेजेज", अमेरिकन जरनल आफ सोशियालोजी, वाल्यूम 61, मार्च 1956, पृ० 441.
3. जान सी बाल, "डेलिन्क्वेन्ट ऐन्ड डेलिक्वेन्ट ऐटीच्यूड टुवर्ड्स दि प्रिवेलेन्स आफ स्टीलिंग", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 48, सितम्बर-अक्टूबर 1957, पृ० 259–274.
4. शेल्डन ग्लुक, "थ्योरी ऐन्ड फैक्ट इन क्रिमिनालोजी : ए क्रिटिसिज्म आफ डिफरेन्शियल ऐसोसियेशन", ब्रिटिश जरनल आफ डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 7, अक्टूबर 1956, पृ० 92–98.

हेनरी डी० मेके ने शिकागो के बाल अपराधियों पर आधारित एक अध्ययन में इस बात को वैज्ञानिक रूप से सिद्ध किया कि बाल अपराध वह व्यवहार प्रतिमान है जिसे बालक अपने उन साथियों, मित्रों तथा सहयोगियों के साहचर्य में आकर सीखता है जो अपराधग्रस्त क्षेत्रों में निवास करते हैं और जिनकी व्यवहार-शैली अपराधोन्मुख है।

टाफ्ट ने अपराध की व्याख्या को संस्कृति के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनका मत था कि गत्यात्मक संस्कृति में प्रतिस्पर्धा होती है। उसके कारणवश व्यक्ति सामाजिक सम्मान, धन, तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति की दौड़ में लग जाता है। वह ऐसे कार्य भी करने में हिचकता नहीं है जिन्हें समाज में असामाजिक तथा अवैधानिक माना जाता है।

मैकाइवर के मत में अपराध समाज का एक कार्य है और अपराधों की संख्या, इनका स्वभाव तथा इनकी दशा सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन की व्यवहार-प्रेरक शक्तियों पर आधारित रहती हैं। एक सामाजिक घटना होने के कारण अपराधी व्यवहार उन्हीं सब समुदायिक शक्तियों से नयमित तथा निर्धारित होता है जो गैर-अपराधी व्यक्तियों को सामाजिकता तथा आदर्श नागरिकता की शिक्षा देती हैं। इस मत को स्वीकार करने से अपराध की व्याख्या का वह सिद्धान्त सही लगता है जिसे अपराध का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त माना जाता है और जिसकी मूलभूत मान्यता है कि समाज की व्यवस्था में ही कुछ ऐसी शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं जो कुछ व्यक्तियों को अपराधी बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं।

अपराध की व्याख्या का सामूहिक संघर्ष का सिद्धान्त

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री जार्ज सिमेल का संघर्ष का समाजशास्त्र उन अपराधशास्त्रियों के मार्गदर्शन का विषय बना जिनका मत था कि अपराधी व्यवहार उन व्यक्तियों के उन समूहों में रहने का फल है जो सामूहिक क्रिया के सिद्धान्त को स्वीकार न करके समाज में एक विशिष्ट प्रकार की भूमिका अदा करते हैं और जिनकी क्रियाएँ सामूहिक हितों की प्राप्ति के विपरीत निजी हितों की प्राप्ति के लक्ष्य से निर्धारित होती हैं। प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया के फलस्वरूप समाज में ऐसे समूह विकसित हो जाते हैं जो अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु एक संघर्ष की स्थिति में आ जाते हैं। अपना हित पूरा करने के लिए वे दूसरे का अहित करने में हिचकते नहीं हैं।

आधुनिक समाज की जटिल व्यवस्था में ऐसे समूहों की संख्या अधिक होती है जिनके स्वार्थ, लक्ष्य तथा उद्देश्य दूसरे समूहों से भिन्न होते हैं और इस

प्रकार एक ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें अन्तर-समूह-संघर्ष एक साधारण सामाजिक घटना बन जाता है। समाज अनेक ऐसे समूहों में बँट जाता है जो एक दूसरे से संघर्ष की स्थिति में खड़े हो जाते हैं। यह स्थिति जब व्यापक रूप धारण कर लेती है तब समाज अन्तर्विरोधी वर्गों में बँट जाता है जिनमें आपसी कलह तथा युद्ध छिड़ने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। जो लोग कानून बनाते हैं तथा उन कानूनों के पालन का उत्तरदायित्व सँभालते हैं उनके स्वार्थ उन व्यक्तियों से टकराते हैं जो कानून की महत्ता को कम करते हैं तथा उसकी अवज्ञा का प्रयत्न करते हैं।

अपराध इस प्रकार एक सामाजिक दशा तथा एक विशिष्ट प्रकार के सम्बन्धों की अवस्था से उत्पन्न होता है और जिसे केवल एक अवैधानिक कृत्य मात्र नहीं माना जा सकता है। क्लिफर्ड आर० शा, हेनरी डी० मेके तथा शेल्डन एवं इलीनर ग्लुक आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों से यह स्पष्ट कर दिया कि अपराध एवं बाल अपराध व्यक्ति अन्य व्यक्तियों तथा सहयोगियों के सम्पर्क एवं सहयोग से करता है। उनके कहने का तात्पर्य था कि अपराध एक ऐसा सामूहिक व्यवहार है जो व्यक्ति अपराधी समूह में सीखता है। अन्तरस्पर्धा तथा संघर्ष की स्थिति में कार्यरत इस प्रकार के समूह अपराधी गिरोहों की ही भाँति आज के नगरीय समुदायों में पाये जाते हैं। इन गिरोहों पर किये गये अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ कि इनका नेतृत्व अपराधी तत्वों के हाथ में होता है और इनके सभी सदस्य गिरोहों के सरदार तथा गिरोहों की परम्पराओं, नियमों तथा कानूनों के प्रति वफादारी की भावना रखते हैं और उन सभी व्यवहार प्रतिमानों का अनुकरण करते हैं जो गिरोह की आचार-संहिता में कानून के द्वारा निषिद्ध घोषित किये जाते हैं।[1]

अपराध की व्याख्या का बहुकारकीय सिद्धान्त

अपराधी व्यवहार के कारणों की व्याख्या के उपर्युक्त वर्णित सभी सिद्धांतों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी में अपराधी व्यवहार को एक कारण या कारक या एक ही प्रकार के कारकों का फल मानते हैं परन्तु अपराध जैसे जटिल व्यवहार के कारणों की पहेली सुलझाने वाली ये सभी व्याख्याएँ आज के मानव व्यवहार विज्ञानों के विद्यार्थियों को सत्य नहीं प्रतीत होती हैं।

---

1. (1) विलियम एफ० ह्वाइट, स्ट्रीट कारनर सोसायटी (न्यूयार्क : 1943); (2) फ्रेडरिक थ्रेशर, दि गैंग (शिकागो : 1936); (3) हरबर्ट एसबरी, दि गैंग्स आफ न्यूयार्क (न्यूयार्क : 1928).

उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणिशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों अथवा समाजशास्त्रियों के सभी प्रयत्न अलग अलग रूप से अपराधी व्यवहार की सम्पूर्ण व्याख्या न कर पाये हैं और न कर पायेंगे। अपराधी व्यवहार की जटिलता तथा सिद्धान्तों की त्रुटियों को देखते हुए वर्तमान अपराधशास्त्री भी इस मत से सहमत हैं कि अपराधी व्यवहार की व्याख्या बहुकारकीय उपागम के द्वारा ही सम्भव है। जरमियाह शैलू ने अपने लेख 'अपराधशास्त्रीय अनुसन्धान की नवीन प्रवृत्तियाँ' में विभिन्न दर्शनग्राही सिद्धान्तों की महत्ता पर चर्चा करते हुए लिखा है कि अपराधशास्त्रीय अनुसंधानों में एक सामान्य प्रवृत्ति उस विधि को स्वीकार करने की रही है जिसमें अपराधी व्यवहार की व्याख्या के हेतु विभिन्न दर्शनग्राही सिद्धान्त को ही आवश्यक माना गया है और इसी सिद्धान्त को अपराध जैसी विषम पहेली के कारणों की व्याख्या के लिए उपयुक्त समझा गया है।[1]

बीसवीं शताब्दी के अपराधी व्यवहार की व्याख्या तथा अपराध के कारणों की जानकारी का यह उपागम किसी ऐसे नवीन तथ्य को नहीं प्रस्तुत करता है जिसकी चर्चा पहले न की गई हो। फेरी ने यह बात उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ही कही थी। उनका कहना था कि अपराध ऐसे अनेक कारणों का एक परिणाम है जो एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और जिन्हें वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा ही जाना जा सकता है। इन अपराधी कारकों को व्यक्तिगत, मानवशास्त्रीय, भौतिक, प्राकृतिक तथा सामाजिक स्तरों पर विभक्त किया जा सकता है। इन सभी कारकों में आयु, लिंग, सामाजिक स्तर, व्यवसाय, जन्म-स्थान, शिक्षा, शारीरिक बनावट, प्रजाति, जलवायु, भूमि का उपजाऊपन, दिन और रात की लम्बाई और छोटाई, मौसम, जलवायु सम्बन्धी दशाएँ, तापमान, जनसंख्या का घनत्व, जनमत, लोकरीतियाँ, धर्म, सामाजिक-आर्थिक एवं औद्योगिक दशाएँ, खेती तथा उद्योगों से होनेवाला उत्पादन, लोक-प्रशासन, जन-रक्षा, सामान्य शिक्षा, सामाजिक कल्याण तथा सामाजिक एवं वैधानिक कानून आदि वे सभी कारक सम्मिलित हैं जिनके मिश्रित प्रभाववश व्यक्ति अपराधी बनता है।[2]

---

1. जरमियाह पी० शैलू, "ट्रेन्ड्स इन क्रिमिनालोजिकल रिसर्च", फेडरल प्रोबेशन, अक्टूबर-दिसम्बर, 1942.
2. इनरिको फेरी, स्टडीज आन क्रिमिनैलिटी इन फ्रान्स फ्राम 1826 टु 1878 (रोम : 1881).

स्पेन के प्रसिद्ध अपराधशास्त्री क्यूरियोज ने फेरी के उपर्युक्त वर्णित मत को वैज्ञानिक माना।[1] सिरिल बर्ट ने फेरी के ही मत को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा कि अपराध का कोई एक सर्वव्यापी स्रोत नहीं है—अपराध विभिन्न प्रकार के कारणों, विकल्पों तथा अवस्थाओं का संगम है जो हर अपराधी व्यक्ति के लिए भिन्न भिन्न हो सकता है। उनके मतानुसार अपराधशास्त्र के वे सभी सिद्धान्त अपूर्ण हैं जिनमें एक, दो, तीन या चार कारकों को प्रधानता दी गई है। अपराध के कारण उनके अनुसार एक समुद्र की भाँति हैं जिसमें अनेक छोटी नदियाँ आकर गिरती हैं।[2] बार्न्स और टीटर्स ने इस सम्बन्ध में कहा कि पिछले दो सौ वर्षों के अपराधशास्त्रीय अध्ययनों का पर्यवेक्षण करने से यही सिद्ध होता है कि अपराधी व्यवहार की व्याख्या का केवल एक बहुकारकीय सिद्धान्त ही हो सकता है।[3] अपने तर्क को और अधिक पुष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि अपराधशास्त्रियों के पास कोई ऐसा सिद्धान्त उपलब्ध नहीं है जिससे हर प्रकार के, हर देश के तथा हर काल के अपराधों की कोई सन्तोषजनक व्याख्या हो सके। शेल्डन ग्लुक तथा इलीनर ग्लुक ने इस सिद्धान्त की पर्याप्तता पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि हमारे उपलब्ध ज्ञान को ध्यान में रखते हुए अपराध का विभिन्न दर्शनग्राही या बहुकारकीय सिद्धान्त ही सही प्रतीत होता है।[4]

विलियम होली[5] तथा सिरिल बर्ट[6] ने अपने अध्ययनों से यह स्पष्ट किया कि अपराधी व्यवहार की विशेषकारणीय व्याख्याएँ सही नहीं हैं। अपराधी व्यवहार सामान्य सामाजिक तथा वैधानिक व्यवहार की ही भाँति अनेक कारकों तथा दशाओं का फल है। जार्ज बी० वोल्ड ने अपराध के एककारकीय सिद्धान्तों की कटु आलोचना की और कहा कि यह बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि अपराध एकात्मक घटना नहीं है। यह व्यवहार के अनेक प्रकारों का संग्रह है जो अनेक दशाओं के कारणवश घटित होता है। इसलिए अपराध के किसी भी

---

1. बरनाल्डो क्यूरियोज, **मार्डन थ्योरीज आफ क्रिमिनैलिटी** (बोस्टन : 1911).
2. सिरिल बर्ट, **दि यंग डेलिन्क्वेन्ट** (लन्दन : 1938), पृ० 599-600।
3. हैरी इलमर बार्न्स ऐन्ड नेगली के० टीटर्स, **न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी** (नई दिल्ली : 1966), पृ० 207-208।
4. शेल्डन ग्लुक ऐन्ड इलीनर ग्लुक, **अनरेवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी** (न्यूयार्क : 1950), पृ० 70।
5. विलियम हीली, **दि इनडिवीजुअल डेलिन्क्वेन्ट** (बोस्टन : 1915).
6. सिरिल बर्ट, **दि यंग डेलिन्क्वेन्ट** (न्यूयार्क : 1925).

सिद्धान्त से यह आशा करना व्यर्थ है कि उससे इस व्यवहार के कारणों का सही उत्तर प्राप्त हो सकेगा।[1]

भारत के सन्दर्भ में अपराध

अपराध की समस्या पर किये गये भारतीय अध्ययन एक विशिष्ट प्रकार के परिप्रेक्ष्य में होते आये हैं। इन सभी अध्ययनों को यदि संकलित किया जाये तो ज्ञात होता है कि उनकी संख्या बहुत कम है। जो पुस्तकें इस विषय पर उपलब्ध हैं उनमें से निम्नलिखित के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं :—

(1) एच० एल० आदम, दि इण्डियन क्रिमिनल (लन्दन : 1909).
(2) एस० एम० इडवर्ड्स, क्राइम इन इन्डिया (लन्दन : 1924)
(3) सर सिसिल वाल्स, क्राइम इन इन्डिया (लन्दन : 1930) तथा इण्डियन विलेज क्राइम्स (लन्दन : 1929).
(4) आगस्त सोमरवाइल, क्राइम ऐन्ड रिलीजस बिलीफ इन इंडिया (कलकत्ता : 1931).
(5) एच० हार्वे, कैमियोज आफ इण्डियन क्राइम (लन्दन : 1939).
(6) बी० एस० हैकरवाल, सोशल ऐन्ड इकोनामिक ऐस्पेक्टस आफ क्राइम इन इंडिया (लन्दन : 1934).
(7) एम० जे० सेठना, सोसाइटी ऐन्ड क्रिमिनल (बम्बई : 1952).
(8) पेरीन सी० केरावाला, ए स्टडी इन इण्डियन क्राइम (बम्बई : 1959) तथा
(9) वीनू गोपाल राव, फेसेट्स आफ क्राइम इन इंडिया (दिल्ली : 1961).

अपराधों के जो भी आँकड़े केन्द्रीय गृह मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित वार्षिक रिपोर्टों से उपलब्ध होते हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि भारत में भी अन्य विकासशील देशों की ही भाँति अपराधों की संख्या तथा उनकी प्रकृति में निरन्तर वृद्धि तथा परिवर्तन दृष्टिगत है, परन्तु फिर भी जनसंख्या तथा अपराधात्मक घटनाओं के प्रतिशत एवं उनकी गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि भारत में आज भी अमरीका जैसे विकसित देशों की अपेक्षा अपराध की समस्या उतनी भयानक नहीं है जितनी कि उन देशों में जहाँ पर अपराध एक संगठित रूप धारण कर चुका है। ग्रामों में निवास करनेवाले अधिकांश भारतीयों

---

3. जार्ज बी० वोल्ड, थ्योरेटिकल क्रिमिनालोजी (लन्दन : 1958), पृ० 313-314।

की अपराधी प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए सर सिसिल वाल्श ने लिखा कि साधारण भारतीय ग्रामवासी कानून का पालन करता है और उसे न्याय-व्यवस्था तथा प्रशासन की सत्ता में असीम विश्वास है। अपने सीधेपन के कारण उसे केवल बहकाकर ही खतरनाक अपराधी बनाया जा सकता है।[1]

भारत के गांवों में व्यक्ति के विरुद्ध होने वाले हिंसात्मक अपराधों (मार-पीट, खून-खराबा, कत्ल आदि) पर टिप्पणी करते हुए वाल्श ने आगे कहा कि जानवरों की चोरी, खेतों में जाने वाली नहर या तालाब के पानी के बटवारे, अवैध तरीके से फसल काट लेना, भूमि, मकान या सम्पत्ति को हथिया लेने आदि के छोटे-मोटे विवादों पर विरोधी दलों में ऐसी लड़ाई छिड़ती है जिसमें लोगों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। लाठी, भाले, बल्लम और बन्दूक का खुला युद्ध दिन के उजाले में जब छिड़ता है तो लोगों की जानें जाती हैं, गम्भीर चोटें लगती हैं और सम्पत्ति का विनाश होता है। लड़ाई तभी बन्द होती है जब कुछ लोग मौत के घाट उतर जाते हैं और बहुतों की खोपड़ी टूटती है।[2]

इस प्रकार की हिंसात्मक घटनाओं की प्रेरक शक्तियों की विवेचना करते हुए वाल्श ने कहा कि ये घटनाएँ उन ग्रामीण भारतीयों के खून की गर्मी, विचित्र अपराधिक स्वभाव तथा कानून को अपनाने और अपने हाथ में लेकर झगड़े स्वयं अपनी लाठी की ताकत से निपटाने की स्वाभाविक प्रवृत्तिवश होते हैं, जो पुलिस थाने से मीलों दूर रहते हैं और जिन्हें पुलिस की अनुपस्थिति स्वयं अपना रक्षक बन जाने के लिए मजबूर करती है। वास्तविकता यह है कि गांवों में निवास करने वाले साधारण भारतीय अपने झगड़ों की परिस्थितियों में अपने दिमाग की जगह अपने दिल से काम लेते हैं, तार्किकता त्याग देते हैं और थोड़ी-सी उत्तेजना मात्र में ही अपना नियन्त्रण खो बैठते हैं। चाहे वह जानवरों की चोरी अथवा अतिक्रमण का मामला हो, या सिंचाई के पानी का झगड़ा हो या पुरानी पारिवारिक अदावत हो या किसी पुराने द्वेष का मसला हो या लैंगिक कठिनाई का विषय हो या कोई इसी प्रकार का छोटा-मोटा विवादास्पद प्रश्न हो, साधारण भारतीय कृषक तुरन्त गुस्से में आकर गाली-गलौज करने लगेगा और लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जायेगा। इन झगड़ों में दो गुट बन जाते हैं और झगड़ा बढ़ने पर दोनों गुटों के परिवारों के सदस्य, मित्र तथा रिश्तेदार उनको बढ़ावा देने के लिए इकट्ठा हो जाते हैं। अपने विवाद का निपटारा अपने ही

1. सर सिरिल वाल्श, **क्राइम इन इण्डिया** (लन्दन : 1930), पृ० 10।
2. वही, पृ० 26–27।

आप कर लेने की स्वाभाविक भारतीय प्रवृत्तिवश इस प्रकार के झगड़े गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं और हत्या, मारपीट तथा आगजनी की विनाशकारी घटनाओं में परिवर्तित हो जाते हैं।[1]

चोरी, डकैती, राहजनी, मारपीट, हत्या, बलात्कार, नर-बलि आदि अपराधों के विभिन्न स्वरूप भारतीय नगरों तथा ग्रामों के दैनिक जीवन में सरलता से दृष्टिगत हैं और ये ही ऐसे प्रमुख अपराध हैं जिनके लिए कानून, न्याय तथा पुलिस व्यवस्था सदैव चिन्तित रहती है। इस प्रकार के अपराधों के वार्षिक आँकड़े इस बात का सबूत पेश करते हैं कि भारतीय अपराधी व्यवहार इन्हीं अपराधों के आगे-पीछे फैला हुआ दिखायी देता है। भारतीय अपराध विशेषज्ञ इन अपराधों के कारणों की व्याख्या में जिन कारकों की ओर संकेत करते हैं उनमें अन्धविश्वास, अपराधी जनजातियों की पारिवारिक अपराधिक परम्परा, गरीबी से उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ, धन, सम्पत्ति तथा स्त्री से सम्बन्धित मामलों के ऊपर होने वाले हिंसात्मक विवाद, राजनैतिक अदावत, पुलिस का अत्याचार, साम्प्रदायिक संघर्ष, जमींदारों की धाँधली तथा शोषण आदि ऐसे अनेक कारण हैं जिनके प्रभाव में आकर अधिकांश भारतीय अपराध करते हैं। कैदियों पर किये गये अनेक भारतीय शोध-अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि साधारण ग्रामीण भारतीय जन्मजात अपराध की किसी प्रवृत्ति को लेकर नहीं पैदा होता है परन्तु वह जिस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में निवास करता है उसमें ऐसे अनेक अवसर विद्यमान हैं जिनमें वह अपराध करने के लिए मजबूर हो जाता है। हत्या तथा डकैती के अपराधों के कारणों की खोज से यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। एक हिंसात्मक अपराध दूसरे अनेक हिंसात्मक अपराधों को जन्म देता है, अर्थात् जब एक व्यक्ति की हत्या हो जाती है या एक स्त्री का शीलहरण हो जाता है तब प्रतिशोध की ऐसी ज्वाला जलती है कि उसमें बहुत-सा खून जमीन पर बह जाता है। साधारण भारतीय नागरिक खून का बदला खून से ही लेना चाहता है। बहुधा यह देखने में आता है कि छोटे-मोटे झगड़े, जो आपस में तय किये जा सकते हैं या न्यायालयों के सम्मुख प्रस्तुत किये जा सकते हैं, ऐसे सामूहिक संघर्षों में परिवर्तित हो जाते हैं जिनमें जान तथा माल दोनों का विनाश होता है। इस पृष्ठभूमि में एडवर्ड्स का यह कथन सत्य प्रतीत होता है जिसमें कहा गया है कि "खून खराबा की साधारण मनोवृत्ति, जो ग्रामीण भारतीयों में बहुतायत से पाई जाती है, आज भी अधिकांश भारतीय

1. सर सिसिल वाल्श, इंडियन विलेज क्राइम्स (लन्दन : 1929), पृ० 11।

अपराधों का आधार बनी हुई है।"[1] धन और सम्पत्ति के विरुद्ध होनेवाले भारतीय अपराधों पर टिप्पणी करते हुए सर सिसिल वाल्श ने कहा कि मारपीट, हत्या तथा आगजनी के अपराधों का कारण है भूमि के वितरण की अन्यायपूर्ण नीति जिसके कारणवश स्वामित्व के अनेक ऐसे विवाद उत्पन्न होते हैं जिनको तय करने में लोग अपनी जान तक गवाँ देते हैं।[2] हैकरवाल ने चोरी, डकैती, लूट तथा राहज़नी आदि जैसे सम्पत्ति के विरुद्ध होने वाले अपराधों का प्रमुख कारण फसल का खराब होना, सूखा पड़ना तथा बाढ़ आना आदि बताया।[3] हैकरवाल के मत में फसल का अच्छा या खराब होना, सम्पत्ति के विरुद्ध किये गये अपराधों को बढ़ाता और घटाता है। उनके इस निष्कर्ष का कारण यह है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में फसल के खराब होने पर ग्रामीण कृषक शहरों में नौकरी या रोजगार ढूंढ़ने निकलते हैं, परन्तु नौकरी या रोजगार न मिलने की स्थिति में वे अपनी भूख-प्यास की तड़प को असामाजिक तथा अपराधिक कार्यों को करके मिटाते हैं।

भारत के भूमिहीन तथा दरिद्रताग्रस्त अपराधियों के वर्ग में कुछ ऐसी अपराधी जनजातियों का भी वर्णन उपलब्ध है जिनमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपराध परिवार के सदस्यों की रोटी-रोजी का एकमात्र धन्धा पाया जाता है। इन जातियों की अपराधी मनोवृत्ति के लिए उनकी असाध्य आर्थिक दशाएँ उत्तरदायी रही हैं। इन अपराधी जनजातियों के पास जीविकोपार्जन के लिए आज भी पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। इन जनजातियों के लोग बहुधा जानवरों की चोरी, डकैती तथा राहज़नी के अपराध करते पाये जाते हैं। जनजातीय अपराधियों को जन्मजात अपराधी नहीं कहा जा सकता है। इन परिवारों में पलने वाले बालक अपराधिता को अपने माँ-बाप तथा अपने चारो ओर फैले अपराधिक वातावरण से उसी तरह आत्मसात् कर लेते हैं जिस प्रकार से बत्तख पानी को।[4]

भारतीय ग्रामों में आज तक चली आ रही सामन्तवादी व्यवस्था अपराध का पहले की ही तरह एक प्रमुख स्रोत बनी हुई है। गाँवों के ज़मींदार,

---

1. एस०एम० एडवर्ड्स, क्राइम इन इन्डिया (लन्दन : 1924), पृ० 110-111।
2. सर सिसिल वाल्श, इन्डियन विलेज क्राइम, (लन्दन : 1914) पृ० 15।
3. बी०एस० हैकरवाल, इकोनामिक ऐन्ड सोशल ऐस्पेक्ट्स आफ क्राइम इन इन्डिया (लन्दन : 1934), पृ० 50।
4. बी०एस० हैकरवाल, पूर्वोल्लिखित, पृ० 137-165।

राजा-महाराजा, नवाब तथा अन्य आर्थिक-सामाजिक रूप से सम्पन्न एवं शक्तिशाली व्यक्ति छोटी जातियों तथा गरीब वर्ग के व्यक्तियों की सम्पत्ति पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते हैं और उनकी स्त्रियों पर बुरी नजर रखते हैं। इस प्रकार का शोषण जब सीमा को पार कर जाता है तब गरीब आदमी अपनी जान की बाजी लगा कर उनसे मुठभेड़ करता है और या तो शोषण करने वाले व्यक्ति की जान ले लेता है या अपनी जान दे देता है।

शोषित वर्ग के व्यक्तियों के कुछ ऐसे भी दृष्टान्त उपलब्ध हैं जो बदला लेने की भावना से डाकू तथा लुटेरे बन जाते हैं। चम्बल घाटी के डाकुओं में अधिकांश ऐसे ही लोग थे जिनको उनके गाँवों में पुलिस तथा सामन्तशाही लोगों के द्वारा सताया गया था और जिनकी रक्षा के लिए न तो पुलिस और न न्याय का द्वार खुला था। अन्याय एवं पीड़ा से त्रस्त होकर इस प्रकार के लोग कुख्यात डाकू बन गये और उन्होंने एक खून अथवा एक अत्याचार के बदले में अनेक खून और अत्याचार कर डाले।[1]

स्त्री सदैव से ही विवाद का प्रश्न रही है परंतु स्त्रियों के नाम पर होने वाले भारतीय अपराध एक विशेष सामाजिक तथा सांस्कृतिक सन्दर्भ में होते हैं। हार्वे तथा वाल्श का कथन है कि स्त्री भारतीय सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था में इज्जत का मुख्य आधार रही है। स्त्री के साथ बलात्कार, छेड़-छाड़ तथा शीलहरण की घटना को भारतीय सहन नहीं कर पाता है और उससे जिस मानहानि तथा मानसिक कुंठा एवं संघर्ष का जन्म होता है उसमें लाठियाँ तलवारें तथा बन्दूकें खुल जाती हैं। भारत में इस प्रकार के अपराध पाश्चात्य देशों के यौन अपराधों से भिन्न होते हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली ने जिस राजनैतिक गुटबन्दी को जन्म दिया है वह अपने में अपराध का एक प्रमुख कारण बन गई है। गाँवों तथा नगरों में होनेवाले चुनाव झगड़े की जड़ हैं और इन चुनावों के पहले, चुनावों के दौरान या उनके बाद चुनाव हारने तथा चुनाव जीतने वाले दो विरोधी गुटों में लोग बँट जाते हैं और एक-दूसरे को नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करने लगते हैं। जिस मनोवैज्ञानिक युद्ध का जन्म इस प्रक्रिया में होता है उसमें मारपीट, हत्या, बलात्कार, डकैती, राहजनी तथा आगजनी की घटनाएँ साधारण एवं स्वाभाविक परिणाम के रूप में प्रतीत होती हैं।

---

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखें : श्याम सुन्दर कटारे, पैटर्न्स आफ डकैती इन इण्डिया (दिल्ली : 1972)।

आधुनिक भारत में अपराध के ऐसे स्वरूप भी दृष्टिगत हैं जिनको उपर्युक्त वर्णित परम्परागत व्याख्या के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। गरीबी, अशिक्षा, अज्ञान, अन्धविश्वास तथा स्त्री, सम्पत्ति एवं भूमि के लिए होनेवाले झगड़े वर्तमान भारतीय समाज में घटित होनेवाले अपराधों के कारण अवश्य हैं परन्तु फिर भी श्वेतवस्त्र तथा संगठित अपराधियों के विभिन्न प्रकार उपर्युक्त वर्णित कारणोंवश अपराध नहीं करते हैं। इस प्रकार के अपराधों की व्याख्या का आधार है आधुनिकीकरण, नगरीकरण तथा पाश्चात्यीकरण में उत्पन्न वह नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था जो एक ओर तो व्यक्ति में स्वार्थपरता तथा भौतिकवादी मनोवृत्ति को जन्म देती है और दूसरी ओर अपराध को एक लाभ-दायक व्यवसाय बनाती है। इस प्रकार के अपराधों की व्याख्या सदरलैण्ड के श्वेतवस्त्र अपराध के सिद्धान्त के माध्यम से ही भारत के सन्दर्भ में भी स्पष्ट की जा सकती है।

भारत में अपराध के आँकड़े

केन्द्रीय गृह-मन्त्रालय के तत्वावधान में संचालित ब्यूरो आफ पुलीस रिसर्च डेवलपमेन्ट द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट क्राइम इन इण्डिया, 1962 में अपराध के जो आँकड़े उपलब्ध हैं उनका वर्णन इस प्रकार है :—

भारतीय दण्ड-संहिता के अन्तर्गत किये गये प्रज्ञेय अपराध

वर्ष	संख्या	प्रति एक लाख जनसंख्या पर वृद्धि का प्रतिशत
1961	6,74,466	148–9
1963	6,58,830	143–5
1964	7,59,013	159–6
1965	7,51,615	151–4
1966	7,94,733	159–4
1967	8,81,981	172–5
1968	8,62,016	164–7
1969	8,45,167	157–5
1970	9,55,422	173–7
1971	9,52,581	173–3
1972	9,84,773	175–3
1962 से 1972 तक की वृद्धि का प्रतिशत	46–0	17–7

1972 के अपराधों के प्रकार तथा उनकी संख्या एवं प्रतिशत

अपराध	संख्या	प्रतिशत
हत्या	15,475	1–6
व्यपहरण एवं अपहरण	9,482	1–0
लूट	17,045	1–7
डकैती	10,411	1–1
गृह-अतिचार	1,67,062	17–0
दंगे	65,781	6–7
अपराधिक न्यास भंग	21,004	2–1
धोखा एवं ठगी	12,646	1–3
जाली सिक्के बनाना	670	0–1
भारतीय दण्ड-संहिता के अन्य अपराध	3,18,806	32–4

अपराध-निरोध

अपराध-निरोधक क्रियाओं से तात्पर्य राजकीय संस्थाओं तथा सामाजिक संगठनों द्वारा किये गये उन सभी प्रयत्नों से है जिनका उद्देश्य अपराधिता को पूर्ण रूप से समाप्त करना है। उन सभी प्रयत्नों को हम अपराध-निरोध के क्षेत्र में सम्मिलित करते हैं जिनका तात्पर्य समाज में अपराध की घटनाओं को रोकना तथा उन व्यक्तियों के लिए दण्ड और उपचार की व्यवस्था करना है जो अपराध करते हैं और दूसरे व्यक्तियों को इस प्रकार का व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। एक व्यापक स्तर पर चलाये गये अपराध-निरोधक कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नांकित प्रयत्न सम्मिलित किये जाते हैं :—

(1) घटित अपराधों की जाँच-पड़ताल, अपराधी की खोज तथा उसके अपराधी होने के दोष का साक्ष्य-प्रस्तुतीकरण,

(2) भविष्य में होने वाले तथा वर्तमान में पाये जाने वाले अपराधों तथा अपराधियों को नियंत्रित करना,

(3) उन अपराधों की खोजबीन जिनको करने की तैयारी की जा रही है या जिनके करने के इरादे बनाये जा रहे हैं।

(4) उन कारकों का नियंत्रण तथा उन दशाओं का सुधार जिनके दबाव में आकर व्यक्ति अपराध करता है।

अपराध-नियंत्रण के एक सफल कार्यक्रम के लिए सामान्यतः दो विधियाँ सुझाई तथा प्रयोग में लाई गई हैं। पहली उपचारात्मक विधि उन व्यक्तियों के सुधार एवं चिकित्सा से सम्बन्धित है जो दुबारा अपराध करते हैं। निरोधात्मक विधि उन व्यक्तियों को रोकने से सम्बन्धित है जो पहली बार अपराध करने की सम्भावना रखते हैं। यद्यपि दोनों ही विधियाँ अपराध की रोकथाम का उद्देश्य रखती हैं परन्तु साधारण अर्थों में पहली विधि को सुधारात्मक एवं पुनर्वासात्मक कहा जाता है और दूसरी को निरोधात्मक तथा निवारणात्मक।

जिस समय अपराध की रोकथाम के लिए केवल दण्ड की ही प्रक्रिया लोकप्रिय थी उस समय जेल भेजना अपराधी के सुधार तथा अपराध-निरोध का एक मात्र ढंग था। उस समय लोग यह समझते थे कि कठोर दण्ड-व्यवस्था अपराधियों का सुधार करती है तथा अपराध की घटनाओं को रोकती है। वर्तमान युग में अपराध-निरोध की नीति उपचार की प्रक्रिया पर आधारित है और इस मान्यता को स्वीकार करके चलती है कि सकारात्मक गैर-दण्डात्मक विधियों से अपराधियों का सुधार होना चाहिए और अपराधिता को कम किया जाना चाहिए।

वर्तमान अपराधशास्त्री आम जनता के उस विश्वास को नहीं स्वीकार करते जो इस धारणा पर स्थापित है कि व्यक्तियों में गैर-अपराधी प्रवृत्तियों का विकास केवल दण्ड के ही माध्यम से हो सकता है। उनका कहना है कि दण्ड ही केवल अपराध-निरोध की उत्तम विधि नहीं है। उनके अनुसार अपराध-निरोध के प्रश्न का उत्तर उस प्रकार के कार्यक्रमों में निहित है जो कुछ अपराधियों को जेल में रख कर समाज की रक्षा करते हैं। कुछ को समुदाय में रख कर सुधारना चाहते हैं और कुछ को अपराध करने की मनो-सामाजिक दशाओं से बचाना चाहते हैं।

दण्ड की ही भाँति अपराधी सुधार की विधियाँ अपराधों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने में बहुत बड़ी सीमा तक सफल नहीं हो पाई हैं। उन अपराधियों का सुधार अभी भी सम्भव नहीं हो पाया जो ऐसी दशाओं में रहते हैं जिनमें अपराधी प्रवृत्ति का विकास सरलता से होता है या जिन्हें अपराधशास्त्री अपराध-जनक स्थितियों का संकलन मानते हैं। इसके साथ ही साथ बहुत से ऐसे अपराध समाज में होते रहते हैं जिनमें अपराधी कानून की नजर से बच जाते हैं और जिनके विरुद्ध कोई सरकारी या वैधानिक कार्यवाही सरलता से नहीं सम्भव हो पाती। कुछ अपराधी ऐसे भी शेष रह जाते हैं जिन्हें अपनी आर्थिक तथा

सामाजिक कठिनाइयों के कारण अपराधी-सुधार सेवाओं का लाभ नहीं प्राप्त हो पाता। इस वस्तुस्थिति को देखते हुए अपराध की रोकथाम के लिए एक ऐसी नीति का अनुमोदन किया जाता है जिसमें अपराध के निरोधात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता है। जिस प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में यह माना जाता है कि मर्ज का इलाज करने से अच्छा है कि मर्ज ही न हो, उसी प्रकार से अपराधशास्त्री दण्ड और सुधारात्मक विधियों के प्रयोग के साथ ही साथ इस बात पर बल देते हैं कि यदि समाज में व्याप्त अपराधजनक स्थितियाँ समाप्त कर दी जाएँ तो सम्भवतः अपराध की घटनाएँ बहुत बड़ी सीमा तक कम हो जायेंगी।

रमसे क्लार्क ने अपराध की रोकथाम के सम्बन्ध में इस प्रमुख सुझाव को महत्वपूर्ण माना और कहा कि "हम तब तक अपराध को वास्तविक अर्थों में नियंत्रित नहीं कर पायेंगे जब तक व्यक्ति गन्दी बस्तियों, अज्ञान, हिंसा, भ्रष्टाचार, गरीबी, बेरोजगारी, अपौष्टिक भोजन, बीमारी तथा खराब रहन-सहन की अमानवीय दशाओं का शिकार बना रहेगा। जब लोगों का आत्म-सम्मान सुरक्षित हो सकेगा, उनका स्वास्थ्य बना रहेगा, उन्हें शिक्षा प्राप्त हो सकेगी, उन्हें नौकरी मिल जायेगी, उनके रहन-सहन का स्तर अमानवीय नहीं रहेगा, वे सामाजिक-आर्थिक शोषण का शिकार नहीं होंगे, तब उनमें दूसरे के हितों तथा कल्याण का विचार उत्पन्न होगा और तभी उनमें समाज की व्यवस्था, कानून, नैतिकता तथा सामाजिकता के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो सकेगा। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यदि हमें अपराध को रोकना है तो हमें उन समस्याओं को हल करना पड़ेगा जो अपराधों को जन्म देती हैं।"[1]

अपराध-निरोध के सन्दर्भ में रमसे क्लार्क का दूसरा महत्वपूर्ण सुझाव था कि कोई भी समाज हिंसात्मक तथा अन्य प्रकार के असामाजिक कार्यों की घटनाओं को तब तक रोकने में असफल रहेगा जब तक कि वह उन व्यक्तियों के अपराधों को रोकने में असफल है जो लोग धनी, शक्तिशाली तथा साधन सम्पन्न हैं। अतः अपराध की रोकथाम के लिए आवश्यक है कि सभी प्रकार के तथा समाज के सभी वर्गों के द्वारा किये जाने वाले अपराधों को रोकने के लिए बराबर प्रयत्न किये जाएँ।

उस समाज में भी अपराध बढ़ता है जहाँ पर लोगों में कानून के प्रति आस्था और विश्वास नहीं होता है। लोग यह मान कर चलते हैं कि कानून का

1. रमसे क्लार्क, क्राइम इन अमेरिका, पूर्वोल्लिखित, पृ० 5–7।

फंदा कमजोर है और उसे तोड़ कर बचा भी जा सकता है। इस प्रकार की धारणा उस समय उत्पन्न होती है जब साधारण व्यक्ति यह देखता है कि उच्च वर्ग के लोग (जिनके पास शक्ति, वैभव, तथा साधन हैं) अपराध करते हैं, कानून तोड़ते हैं परन्तु फिर भी पकड़े नहीं जाते या यदि पकड़े भी जाते हैं तो सरलता से छूट जाते हैं, तब उसका विश्वास कानून तथा उसको पालन करानेवाली व्यवस्था से उठ जाता है। वह भी अपराध करने का इरादा बनाता है और मौका पड़ने पर कानून को तोड़ता भी है।

समाज में कुछ अपराधी ऐसे भी होते हैं जो कानून की निष्पक्षता को स्वीकार नहीं करते। वे जानते हैं कि उन्हें न्याय नहीं मिलेगा क्योंकि कानून पालन करानेवाले भ्रष्ट हैं तथा कानून उन लोगों के लिए नहीं है जिन्हें समाज में "बड़ा आदमी" कहा जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति असमानता की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अपने आमालों का बदला अपने आप हासिल करना चाहते हैं। वे पुलिस तथा न्यायपालिका की मदद के लिए नहीं दौड़ते हैं और कानून को अपने हाथों में लेकर ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिन्हें अपराध माना जाता है। अतः इस प्रकार के अपराधों को तभी रोका जा सकता है जबकि लोगों को यह विश्वास हो जाये कि कानून उनकी हिफाजत करेगा, पुलिस उनकी मदद करेगी तथा अदालतें उनके साथ न्याय करेंगी। इस प्रकार का विश्वास साधारण जनता में तभी उत्पन्न हो सकता है जब साधारण नागरिक को यह दिखाई दे कि कानून की नजरें बड़ी पैनी हैं और उनसे कोई बच नहीं सकता, उन्हें यह महसूस हो सके कि कानून, पुलिस तथा न्यायपालिका उनके साथ भेद-भाव न करके उनके जान-माल की रक्षा कर सकेंगी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज में कानून के प्रति आदर की परम्परा का विकास हो और लोग मन से यह स्वीकार करने में समर्थ हो सकें कि कानून का तोड़ना अपराधिक ही नहीं वरन् असामाजिक एवं अनैतिक भी है। इसी परम्परा के विकास से समाज में व्याप्त "दोहरी नैतिकता" का खण्डन सम्भव हो सकेगा और लोग नैतिकता तथा अनैतिकता के वास्तविक भेद को समझने में समर्थ हो सकेंगे।

अपराध की रोकथाम के सामान्य कार्यक्रमों के विश्वव्यापी इतिहास को देखने से यह ज्ञात होता है कि अपराधशास्त्रियों ने आज से ही नहीं वरन् सदियों से समस्या की रोकथाम के लिए अनेक कार्यक्रमों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। बेन्थम ने 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अपराध-निरोध के लिए दण्ड के अतिरिक्त अन्य परोक्ष विधियों की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की थी। उनका

कहना था कि यदि लोगों से जोखिम पहुँचाने की शक्ति छीन ली जाये, उन्हें खतरनाक इच्छाओं पर आधारित व्यवहार के मार्ग से दूर कर दिया जाये, उनमें अपराध करने की लालसा पनपने न दी जाये, समाज में नैतिक आचार-संहिता का निर्माण वैधानिक संहिता की भाँति हो तथा सामान्य शिक्षा के व्यापक प्रयत्न किये जायें तो लोगों में उत्पन्न होनेवाली अपराधी प्रवृत्तियों का विकास रुक जायेगा और समाज में अपराध की घटनाएँ कम हो जायेंगी। इनरिको फेरी ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कहा था कि जब तक एक विशिष्ट प्रकार के अपराधोन्मुख व्यक्ति तथा विशिष्ट प्रकार की अपराध-जनक स्थितियाँ समाज में बनी रहेंगी तब तक अपराध की रोकथाम सम्भव नहीं हो सकती। उन्होंने अपराध की रोकथाम के लिए बताया कि लोगों को व्यवसाय या व्यापार की स्वतन्त्रता देने, उन्हें शराब पीने से रोकने तथा जन-सुरक्षा के कार्यक्रम आयोजित करने से अपराध कम हो सकता है।

बीसवीं शताब्दी के अपराधशास्त्रियों को बेन्थम तथा फेरी के विचार सैद्धान्तिक कल्पना पर आधारित प्रतीत हुए और उन्होंने अपने अपने मान्य अपराधी व्यवहार सिद्धान्तों के अनुरूप अपराध की रोकथाम के सुझाव दिये। जो अपराधशास्त्री यह मानकर चलते थे कि अपराधियों के व्यक्तित्व में अपराधी मनोवृत्ति निहित रहती है उन्होंने नसबन्दी की नीति का अनुमोदन किया और कहा कि अपराधियों को सन्तान न उत्पन्न करने दिया जाये। जो अपराधशास्त्री यह मानकर चलते थे कि व्यक्ति अपने अर्जित व्यक्तिगत दोषों के कारण अपराध करता है उन्होंने अपराध की रोकथाम के लिए शिक्षा के कार्यक्रमों तथा मनश्चिकित्सीय केन्द्रों की स्थापना को महत्ता दी। जो अपराधशास्त्री अपराध को एक ऐसा व्यवहार मानते थे जिसका विकास सामाजिक विघटन की अवस्था में होता है उनके अनुसार अपराध की रोकथाम के लिए सामाजिक संगठन के कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। अपराधिक व्यवहार की व्याख्या के समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय के प्रवर्तकों का कहना था कि यदि हम अपराध की घटनाओं को कम करना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें समुदाय के सामाजिक-आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने पड़ेंगे क्योंकि अपराध बिगड़ी हुई सामाजिक दशाओं का फल है और अपराधी व्यक्ति वह व्यक्ति है जिसको समाज ने ऐसे अवसर प्रदान कर रखे हैं जिनमें वह अपराध की प्रेरणा सरलता से प्राप्त कर लेता है।[1] मैकाइवर ने टैनेनबाम से अपनी सहमति व्यक्त

1. फ्रैंक टैनेनबाम, क्राइम ऐण्ड दि कम्युनिटी (न्यूयार्क : 1957), पृ॰ 25।

करते हुए कहा कि समाज की संस्थाओं, रूढ़ियों तथा नगरीय एवं ग्रामीण जीवन की अपराधजनक दशाओं में बिना क्रान्तिकारी परिवर्तन किये अपराध की रोकथाम नहीं की जा सकती।[1] पीटरसन ने इन सभी सुझावों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपराध की रोकथाम के सभी प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब विशेषज्ञ अपराध के कारणों का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव कर सकने में समर्थ हो जायें और उस ज्ञान के आधार पर अपराध की रोकथाम के सफल कार्यक्रम बना सकें।[2] अपराध-निरोध के क्षेत्र में प्राप्त विश्वव्यापी प्रयत्नों की समीक्षा करते हुए विटमर तथा टाफ्ट्स ने कहा कि ऐसा लगता है कि अपराध-निरोध के सभी प्रयत्न वैज्ञानिक ज्ञान के संग्रह तथा प्रयोग में लाई जानेवाली विधियों के आधार पर अभी केवल शुरू ही हुए हैं और उनका पूर्ण विकास उपलब्ध नहीं हो पाया है।[3]

अपराधशास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य जो भी समाजसेवी नागरिक अपराध-निरोध के क्षेत्र में कार्यशील हैं वे इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि अपराध तथा बाल अपराध जैसी सामाजिक समस्याओं का पूर्ण निराकरण कभी भी सम्भव नहीं हो सकता। केवल वयस्क अपराधियों तथा अपराधियों की संख्या में कमी अवश्य की जा सकती है और उन नागरिकों को समस्या के आघात से बचाया जा सकता है जो स्वयं अपनी रक्षा कर पाने में असमर्थ हैं। अपराध के क्षेत्र में अध्ययन करनेवाले विशेषज्ञों का भी मत है कि जिस प्रकार से अपराधी व्यवहार के कारणों का सही सही ज्ञान आज तक असम्भव प्रतीत होता है ठीक उसी प्रकार से अपराध का सम्पूर्ण निराकरण भी असम्भव है। जिस प्रकार इस पहेली का अकाट्य उत्तर नहीं मिलता कि अपराध क्यों किये जाते हैं, उसी प्रकार उस व्यवहार के निरोध के प्रश्न का उत्तर आज तक नहीं प्राप्त है जिसे समाज अस्वीकार करता है।

---

1. आर० एम० मैकाइवर, फ्रैन्क टैनेनबाम की पूर्वोल्लिखित पुस्तक की प्रस्तावना, पृ० 14।
2. बर्जिल डब्ल्यू० पीटरसन, "फैक्ट्स ऐन्ड फ़ैलसीज इन क्राइम प्रिवेन्शन," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, जनवरी-फरवरी 1948, पृ० 466-474।
3. हैलेन एल० विटमर ऐन्ड इडिथ टाफ्टेट्, दि इफेक्टिवनेस आफ डेलिन्क्वेन्सी प्रोग्राम्स, वाशिंगटन, 1926।

अपराध-निरोध के क्षेत्र में पाई जानेवाली विषम तथा असाध्य स्थितियों के बावजूद समस्या के निदान के हेतु सदैव से ही सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ तथा अन्य प्रबुद्ध समाजसेवी नागरिक जागरूक रहे हैं। अपराध जैसी गम्भीर समस्या के नियन्त्रण के लिए जो भी विभिन्न सुझाव आज तक प्राप्त हैं उनका सूचीगत संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है :—

(1) उन दशाओं का उन्मूलन जो अपराध को जन्म देती हैं अर्थात् गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, आर्थिक एवं सामाजिक अन्याय तथा शोषण की संरचना-निहित शक्तियों का जब तक समाज में उन्मूलन सम्भव नहीं हो पायेगा तब तक पुलिस, न्यायपालिका तथा अपराधी-सुधार की सभी विधियाँ अपराध को नियन्त्रित नहीं कर पायेंगी।

(2) पुलिस को ऐसे साधनों से सज्जित करना जिससे कि वह अपराध की सूचना मिलते ही घटना-स्थल पर तुरन्त पहुँच जाये या उनको अपराधी घटना के घटित होने की पूर्व-सूचना प्राप्त हो सके और उस सूचना के आधार पर वह तुरन्त कार्यवाही कर सके।

(3) पुलिस के कार्य में बाधा पहुँचानेवाले उन वैधानिक अवरोधों को भी दूर करना पड़ेगा जो थाने पर लिए गये बयान को न्यायालय के सम्मुख दिये गये बयान के समक्ष कोई महत्व नहीं प्रदान करते। इस स्थिति में पुलिस द्वारा पकड़े गये व्यक्ति न्यायालयों द्वारा जमानत पर आसानी से छूट जाते हैं। ऐसा होने से लोगों के मन में यह विश्वास बैठ जाता है कि अपराध करने के बाद पुलिस पहले तो उन्हें पकड़ेगी ही नहीं और यदि पकड़ भी लेगी तो उनकी जमानत अदालत से हो जायेगी और उनकी न तो मानहानि होगी और न उनको जेल की यातनाएँ ही सहनी पड़ेंगी। कानून में जमानत पर छूट जाने का प्राविधान रहना आवश्यक है परन्तु अपराध-निरोध की दिशा में न्यायालय का यह योगदान होना आवश्यक है कि वह जमानत पर अपराधियों को छोड़ने में कड़ाई बर्ते और उन्हीं लोगों को जमानत पर छोड़े जिनके निर्दोष होने की अधिक सम्भावना है। ऐसा होने से गैर-अपराधी व्यक्तियों के मन में यह विश्वास उत्पन्न होगा कि कानून की निगाह तथा दाँते दोनों ही बड़े पैने हैं और उनसे बिना आहत हुए बचा नहीं जा सकता है। इस धारणा से जो डर उत्पन्न होगा वह अपराध को कम करने में सहायक सिद्ध होगा।

(4) पुलिस के गुप्तचर विभाग के कर्मचारी उतने ही निष्पक्ष, भ्रष्टाचार-रहित, सतर्क, कुशल एवं प्रवीण होने चाहिए जितना कि घटना-स्थल के आस-

पास स्थित पुलिस के अधिकारी। गुप्तचर विभाग के मजबूत होने का यह असर पड़ेगा कि उस प्रकार के अपराधी अपराध नहीं कर पायेंगे या कम कर पायेंगे जो चतुर हैं तथा जो योजना बना कर इस प्रकार से अपराध करते हैं जिसमें उनके अपराधी होने का सबूत पुलिस को आसानी से नहीं मिलता है।

(5) पुलिस को जनता तथा समुदाय के सम्मानित नागरिकों का निरन्तर सहयोग अपराधियों को पकड़ने तथा उनके विरुद्ध कार्यवाही करने में प्राप्त होना अति आवश्यक है, क्योंकि पुलिस के कर्मचारी कभी कभी समुदाय के सम्मानित नागरिकों के अवांछित हस्तक्षेप करने के कारण अपराधों को रोकने तथा वास्तविक अपराधियों को पकड़ने में हिचकते हैं। पुलिस की इस निष्क्रियता का फल यह होता है कि बिना पकड़े गये एक अपराधी को देख कर दूसरे अन्य व्यक्ति भी अपराधी बनने का सपना देखने लगते हैं।

(6) जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए पुलिस को अपने ओर जबरदस्ती वाले व्यवहार के तरीकों को छोड़ना पड़ेगा तथा उन्हें अपनी निष्पक्षता, कर्त्तव्य-परायणता, निष्ठा एवं कुशलता का सबूत अपने रोजमर्रा के व्यवहार से देना होगा। यदि पुलिस चाहती है कि लोग गवाही देने के लिए सरलता से तैयार हो जायें और सच्ची बात कहने में भयभीत न हों तो पुलिस को इस प्रकार के व्यक्तियों की न केवल जान-माल की रक्षा करनी पड़ेगी वरन् उनके साथ बड़े ही उत्तरदायित्व एवं सौहार्द-पूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन भी करना पड़ेगा। ताली तब बजेगी जब दोनों हाथों का बराबर का ताल-मेल बैठेगा।

(7) अपराधिक न्यायविधि की व्यवस्था को भेदभाव एवं पक्षपात से परे होना तथा उचित न्याय देने की ऐसी परिपाटी का साक्ष्य प्रस्तुत करना जिससे साधारण नागरिक के भी मन में न्याय के प्रति आदर एवं सहयोग प्रदान करने का विचार उत्पन्न हो सके, अत्यन्त आवश्यक है।

(8) अपराधी-सुधार कार्यक्रमों का आयोजन करनेवाली संस्थागत व्यवस्था तथा असंस्थागत व्यवस्था के कार्यक्षेत्र एवं सुधार प्रणाली में व्यापकता तथा स्फूर्ति प्रदान करना जिससे वे वास्तविक अर्थों में अपराधियों का सुधार कर सकें और ऐसी सेवाओं का आयोजन कर सकें जिनसे जेलों से मुक्त तथा परिवीक्षा पर छोड़े गये अपराधी एवं बाल अपराधी समाज में ठीक प्रकार से पुनर्वासित हो सकें।

(9) कारागारों में बन्दियों का वैज्ञानिक वर्गीकरण होना अपराध-निरोध की दिशा में एक आवश्यक कदम होगा, क्योंकि साधारण तथा आकस्मिक अपराधी जेलों में स्वाभाविक अपराधियों तथा उस प्रकार के बन्दियों के सम्पर्क में आकर जेल में रहकर सुधरने के स्थान पर बिगड़ जाते हैं और गम्भीर प्रकार के अपराध करने में महारत हासिल कर लेते हैं। इस प्रकार के अपराध-पारंगत अपराधियों के सम्पर्क में आकर कम आयु तथा गैर-अपराधी मनोवृत्ति के बन्दी अपराध करने में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं।

(10) कारागारों के कार्यक्रमों का वास्तविक अर्थों में सुधारात्मक होना इसलिए अति आवश्यक है क्योंकि कारागारों में कैदियों के रहन-सहन की जो दशाएँ आज के अधिकांश कारागारों में पाई जा रही हैं, उनमें रहकर अपराधी के मन में यह विश्वास नहीं उत्पन्न हो सकता कि कारागार में उसे सुधरने के लिए भेजा गया है। कारागारों की जो कार्यप्रणाली तथा सुधार-व्यवस्था है उसके बारे में यह कहना बड़ी सीमा तक सही है कि जेलें अपराधियों को सुधारने में नहीं बरन् उन्हें बड़ा अपराधी बनाने में मदद करती हैं। जेलों के दूषित वातावरण से छूट कर बहुत से कैदी अपराधी जीवन को अपनी अन्तिम नियति मान लेते हैं और पहले से बड़े अपराध करने लगते हैं।

(11) चूँकि जेलों के दूषित प्रभाव में आकर छोटे-मोटे तथा पहली बार अपराध करनेवाले अपराधी बहुधा गम्भीर अपराधी भी बनते पाये गये हैं अतः परिवीक्षा अधिनियम का प्रयोग इस प्रकार के अधिकांश अपराधियों को जेल से बाहर रखकर सुधारने में किया जा सकता है। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब प्रदेश के उच्च न्यायालयों से जिला न्यायालयों को यह आदेश दिया जाये कि वे परिवीक्षा अधिनियम, 1958 का प्रयोग उदार रूप से उन सभी बाल, किशोर तथा वयस्क अपराधियों के मुकदमों में करें जो बिना किसी डर के जमानत या बान्ड भरा कर परिवीक्षण अधिकारी की देख-रेख में रहने के आश्वासन पर छोड़े जा सकते हैं।

(12) पुलिस, न्याय तथा सुधार की वर्तमान व्यवस्था में कार्यरत अधिकारियों तथा कर्मचारियों को ऐसा प्रशिक्षण प्रदान करना जिससे वे अपने उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक निभा पाने में समर्थ हो सकें।

(13) अपराध-उन्मूलन के क्षेत्र में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से (चाहे वे पुलिस में हों, न्याय-व्यवस्था से सम्बद्ध हों या जेलों, सुधारगृहों तथा परिवीक्षा

एवं उत्तर-रक्षा के कार्यक्रमों से संबद्ध हों) कर्मचारियों को अच्छे वेतन, उपयुक्त सुविधाओं तथा आवश्यक साधनों की उपलब्धि होनी आवश्यक है जिससे अपने काम को गम्भीरतापूर्वक सम्पादन करने की मनोवृत्ति रख सकें।

(14) यद्यपि दण्ड की आधुनिक अवधारणा अपराधी-सुधार के दर्शन पर आधारित है परन्तु फिर भी अपराध की वृद्धि को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि दण्ड के कानूनों की कठोरता बनी रहे जिससे गैर-अपराधी व्यक्तियों को यह आभास होता रहे अपराध से उन्हें लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। दण्डविधि के भयात्मक होने से अपराध करने में लोग डरेंगे और उस डर के कारण बहुत से गैर-अपराधी व्यक्ति ऐसा कार्य करने में संकोच महसूस करेंगे जिनसे अपराधी कानून का उल्लंघन होता है।

(15) जनता को अपराध-निरोध की उन आत्मरक्षा की आधुनिक विधियों के बारे में जनसंचार के साधनों द्वारा अवगत कराना जिससे वह स्वयं अपनी जान तथा माल की रक्षा कर सके। ऐसे बाल क्लबों, युवक क्लबों तथा राइफल क्लबों की स्थापना होना आवश्यक है जिनसे जनता को आत्म-रक्षा की नवीन विधियों की जानकारी तथा प्रशिक्षण प्राप्त हो सके।



अध्याय 4

श्वेतवस्त्र अपराध

प्रस्तावना

अपराध को साधारण अर्थों में प्राचीन काल से ही हत्या, आघात, बलात्कार, चोरी, डकैती तथा उन अन्य अपराधिक कृत्यों के ही रूप में जाना जाता रहा है जिनसे किसी कानून का उल्लंघन होता है। परन्तु वर्तमान समाज में व्यापक स्तर पर होनेवाले सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के कारण अपराध एवं अपराधियों के स्वरूप एवं कार्यप्रणाली में भी बहुत बड़ा परिवर्तन दृष्टिगत होता है। वर्तमान युग में होनेवाले बहुत से अपराध न केवल गम्भीरतम हो गये हैं वरन् निराकरण एवं नियंत्रण की व्यवस्था को देखते हुए दुष्कर भी प्रतीत होते हैं। अपराधशास्त्री तथा कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखने वाले अधिकारीगण एक नवीन प्रकार के अपराधियों को देख पा रहे हैं जो अपराधी व्यवहार की पुरानी मान्यताओं, व्याख्याओं तथा विश्लेषणों के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं।

अपराधशास्त्र के सन्दर्भ में इस प्रकार के अपराधियों का अध्ययन एक विशिष्ट प्रकार से किया जाता है। इस प्रकार के अपराधों को उनके करनेवाले व्यक्तियों के उच्च शैक्षिक, सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर अपराधशास्त्र की शब्दावली में 'श्वेतवस्त्र अपराध' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

श्वेतवस्त्र अपराध का वैज्ञानिक अध्ययन

'श्वेतवस्त्र अपराध' शब्द अमरीकी अपराधशास्त्र की शब्दावली में सबसे पहले 1939 में एडविन एच० सदरलैण्ड के द्वारा प्रयोग में लाया गया था। सदरलैण्ड ने अमरीकन सोशियोलाजिकल सोसायटी के एक अध्यक्षीय भाषण में इस शब्द का प्रयोग तथा इसके अर्थ की व्याख्या की थी। परन्तु आज तक इस शब्द की सरकारी या वैधानिक परिभाषा उपलब्ध नहीं है और इसी कारण-

वस्त्र अपराध के इस स्वरूप का अर्थ आज तक संदिग्धता, स्पष्टता तथा विवाद का विषय बना हुआ है।[1]

सदरलैण्ड के बाद बार्न्स तथा टीटर्स ने 1943 में अपनी पुस्तक (न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी) में श्वेतवस्त्र अपराध की अवधारणा पर चर्चा करते हुए लिखा कि आधुनिक युग में अपराध के स्वभाव में जो क्रान्ति आई है उसके फलस्वरूप इस प्रकार के अपराधों को अपराधशास्त्र के विद्वानों द्वारा बड़ी महत्ता प्रदान की गई है और फलतः अपराधशास्त्र की सभी पाठ्य पुस्तकों में इस प्रकार के अपराध पर विशेष अध्याय लिखे गये हैं। 1945 में सदरलैण्ड ने अपने सहयोगी अपराधशास्त्रियों की आलोचना को ध्यान में रखकर एक लेख प्रकाशित किया और आँकड़ों तथा तथ्यों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि क्या श्वेतवस्त्र अपराध एक अपराध है ?[2] 1949 में उन्होंने इस प्रकार के अपराधों पर एक बृहद् पुस्तक लिखी जो इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक योगदान है।[3] उनकी मृत्यु के उपरान्त 1956 में उनके लेखों, भाषणों तथा टीका-टिप्पणियों को एक अन्य पुस्तक के रूप में सम्पादित किया गया जिसे दि सदरलैण्ड पेपर्स के नाम से जाना जाता है।[4]

सदरलैण्ड ने व्यापार के क्षेत्र में पाई जाने वाली आधुनिक पद्धतियों, प्रथाओं एवं दस्तूरों का पालन करने में व्याप्त अपराधिक दशाओं का विशेष रूप से अध्ययन किया और यह बताया कि अपराध के सरकारी आँकड़ों से अपराधियों का जो चित्र उभरता है वह चित्र उन लोगों का है जो आर्थिक रूप से पिछड़े या दरिद्र हैं। उनके अनुसार यह चित्र समाज में व्याप्त अपराधिता का सही चित्रण नहीं प्रस्तुत करता। अपराधी उच्च आर्थिक-सामाजिक वर्ग के भी होते हैं जिनका अध्ययन 1940 तक के अपराधशास्त्रियों ने नहीं किया है। सदरलैण्ड ने अमरीका के उन उद्योगपतियों तथा उद्योग-संगठनों का नाम गिनाया जो आर्थिक

1. इडविन एच० सदरलैण्ड, "व्हाइट कालर क्रिमिनैलिटी", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, फरवरी 1940, पृ० 1-12।
2. इडविन एच० सदरलैण्ड, "इज व्हाइट कालर क्राइम ए क्राइम", अमेरिकन सोशियालाजिकल रिव्यू, अप्रैल 1945।
3. इडिविन एच० सदरलैण्ड, व्हाइट कालर क्राइम (न्यूयार्क : 1949)।
4. अल्बर्ट कोहेन, अल्फ्रेड लिण्ड स्मिथ ऐण्ड कार्ल शूलर, दि सदरलैण्ड पेपर्स (इन्डियाना : 1956)।

अपराधों के दोषी ठहराये जा सकते थे और जो लोग व्यापार के क्षेत्र में अनेक प्रकार की असामाजिक तथा औद्योगिक धांधलियाँ कर रहे थे। उनके अनुसार श्वेतवस्त्र अपराध के दोषी वे सभी व्यापारी हैं जो छलकपट, बेईमानी तथा धोखाधड़ी करके उन कानूनों तथा नियमों का उल्लंघन करते हैं जो जनहित के लिए बने हैं और जिनकी अवज्ञा में किये गये सभी कार्य व्यक्ति को दंड का भागी बनाते हैं। इस प्रकार के अपराध उन सभी अपराधों से भिन्न हैं जो उच्च वर्ग के अपराधियों के द्वारा साधारण अपराधिक विधि के अन्दर वर्णित हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई उच्च वर्ग का व्यक्ति हत्या, डकैती, बलात्कार, चोरी या अन्य साधारण अपराध करे तो उसे श्वेतवस्त्र अपराधी न मानकर साधारण अपराधी के रूप में माना जायेगा। परन्तु जब यही उच्च वर्ग का व्यक्ति व्यापारिक कानूनों तथा नियमों का उल्लंघन अपनी व्यावसायिक क्षमता से करता है तो उसे श्वेतवस्त्र अपराधी माना जायेगा क्योंकि उससे यह आशा नहीं की जाती है कि वह व्यापार की व्यावसायिक संहिता में वर्णित नियमों का उल्लंघन निजी लाभ-प्राप्ति के लोभ में करेगा और जिनके फलस्वरूप आम जनता को नुकसान पहुँचेगा।

सदरलैण्ड की ही परम्परा में मार्शल बी० क्लिनार्ड का नाम लिया जाता है जिन्होंने 1952 में द्वितीय युद्ध के दौरान राजकीय मूल्य-नियन्त्रण के कार्यक्रम में की जानेवाली बेईमानियों का अध्ययन किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि ब्लैक मार्केट में उन्होंने उन अमरीकी व्यापारियों में काले कारनामों का पर्दाफाश किया जो राज्य के मूल्य-नियन्त्रण कानूनों का उल्लंघन कर रहे थे।[1]

क्लिनार्ड के बाद हारटुंग ने इसी प्रकार के अपराधियों का अध्ययन किया जो मांस के व्यापारी थे।[2] क्रेसी ने श्वेतवस्त्र अपराधियों की सूची में उन व्यक्तियों को भी जोड़ा जो आर्थिक नियमों को भंग करके गबन आदि करते थे।[3] क्वेनी ने श्वेतवस्त्र अपराधियों की सूची को इतना विस्तृत किया कि उनके द्वारा दी गई परिभाषा में वे सभी व्यक्ति श्वेतवस्त्र अपराधी कहलाने योग्य थे जिन्होंने

---

1. मार्शल बी० क्लिनार्ड, दि ब्लैक मार्केट (न्यूयार्क : 1952)।
2. फ्रैंक ई० हारटुंग, "व्हाइट कालर आफेन्सेज इन दि होलसेल मीट इन्डस्ट्री इन डिट्रोय," अमेरिकन जरनल आफ सोशियालोजी, जुलाई 1950, पृ० 25-34।
3. डोनाल्ड आर० क्रेसी, "दि क्रिमिनल वायोलेशन आफ फाइनेन्शियल ट्रस्ट," अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, दिसम्बर 1950, पृ० 738-743।

अपने व्यवसाय के मूल्यों, नियमों तथा अधिनियमों का उल्लंघन किया है।[1] क्लिनार्ड ने बाद में अपनी दूसरी पुस्तक दि सोशियालोजी आफ डेवियेन्ट बिहेवियर में श्वेतवस्त्र अपराधों को ऐसे अपराधिक कृत्य माना जिन्हें उच्च व्यावसायिक स्तर रखनेवाले व्यक्ति अपने व्यावसायिक कार्य सम्पादन में करते हैं। उनके अनुसार इस प्रकार के अपराध व्यापारियों, राजनीतिज्ञों, डाक्टरों, वकीलों तथा सरकारी अफसरों द्वारा किये जाते हैं। काल्डवेल ने कहा कि इस प्रकार के अपराधी निश्चित रूप से उच्च सामूहिक आर्थिक वर्ग के व्यक्ति होते हैं।[2] रमसे क्लार्क ने श्वेतवस्त्र अपराध में उन सभी असामाजिक तथा अवैधानिक कृत्यों को जोड़ा जो उन समृद्ध व्यक्तियों के द्वाराकिये जाते हैं जिन्हें लोग समाज का सम्मानित सदस्य मानते हैं और उनका आदर करते हैं।[3]

श्वेतवस्त्र अपराध की मान्य परिभाषा

वर्तमान अपराधशास्त्री श्वेतवस्त्र अपराध की जिन दो प्रमुख परिभाषाओं को स्वीकार करते हैं वे दोनों ही सदरलैण्ड द्वारा दी गई है :—

(1) श्वेतवस्त्र अपराध उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के व्यक्तियों के द्वारा किये गये उन व्यावसायिक कृत्यों को कहते हैं जिनसे किसी अपराधिक विधि का अतिक्रमण होता है।[4]

(2) श्वेतवस्त्र अपराध प्रतिष्ठित तथा उच्च सामाजिक स्तर के व्यक्तियों द्वारा अपने व्यवसाय के दौरान में किये गये अपराधों का नाम है।[5]

श्वेतवस्त्र अपराध तथा श्वेतवस्त्र अपराधियों की विशेषताएँ

(1) श्वेतवस्त्र अपराध सामान्यतः उन व्यक्तियों के द्वारा किये जाते हैं जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक रूप से सम्पन्न हैं।

---

1. राबर्ट क्वेनी, "दि स्टडी आफ ह्वाइट कालर क्राइम," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, अप्रैल 19५4, पृ० 208-214।
2. इडविन एच० सदरलैण्ड, "क्राइम ऐन्ड बजिनेस," दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकादमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्सेज, सितम्बर 1941, पृ० 112।
3. इडविन एच० सदरलैण्ड, ह्वाइट कालर क्राइम (न्यूयार्क : 1949), पृ० 5।
4. राबर्ट सी० काल्डवेल, "ए रिइक्जामिनेशन आफ दि कान्सेप्ट आफ ह्वाइट कालर क्राइम," फेडरल प्रोबेशन, मार्च 1948, पृ० 34।
5. रमसे क्लार्क, क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1970), पृ० 23।

(2) विभिन्न प्रकार के श्वेतवस्त्र अपराध दीवानी या फौजदारी के साधारण कानूनों के अन्तर्गत तय नहीं किये जाते हैं। उनको तय करने तथा इस प्रकार के अपराधियों को दण्डित करने के लिए एक विशेष प्रकार की न्यायिक व्यवस्था होती है।

(3) श्वेतवस्त्र अपराधों से आहत व्यक्ति साधारणतः दिखाई नहीं देते हैं। इन अपराधों का शिकार सामान्य जनता तथा सरकारी व्यवस्था होती है। अधिकांशतः दरिद्र एवं साधनविहीन व्यक्ति, जिनके पास विरोध करने की शक्ति नहीं है, इस प्रकार के अपराधियों के शिकार होते हैं।

(4) श्वेतवस्त्र अपराधियों को पकड़े जाने के बावजूद भी कोई विशेष मान हानि नहीं होती है। समाज के बहुत से लोग उनको सम्मानित नागरिक ही मानते रहते हैं और उनके अपराधों को भूल जाते हैं।

(5) बहुधा यह पाया गया कि अधिकांश श्वेतवस्त्र अपराधी कानून के फन्दे में फँसने से बच जाते हैं क्योंकि वे कानून को धोखा दे सकते हैं, उनके पास पैसा होता है जिसके कारण वे अधिकारियों को घूस दे सकते हैं और फायदा उठा सकते हैं या उनको बचानेवाले बहुत से राजनीतिज्ञ या अधिकारीगण सदैव ही उनकी सहायता करने के लि· तैयार रहते हैं।

(6) श्वेतवस्त्र अपराधियों के पीछे बहुधा ऐसे संगठित गिरोह पाये जाते हैं जिनका काम अपराध करना तथा अपने गिरोह के सदस्यों को बचाना होता है।

(7) श्वेतवस्त्र अपराधी व्यापार, राजनीति, कानून, चिकित्सा तथा प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन अपराधियों की विभिन्न श्रेणियों में कुछ ऐसे व्यक्ति या अपराधिक संगठन होते हैं जिनका स्वभाव घड़ियाल की भाँति होता है। इस प्रकार के अपराधी प्रमुखतः व्यापार तथा राजनीति के क्षेत्र में पाये जाते हैं। इनका कार्य खाद्य सामग्री की जमाखोरी करना, उनमें मिलावट करना, तस्करी करना, काला बाजारी करना, टैक्स बचाना तथा अन्य प्रकार के देशद्रोही अपराध करना है।

(8) श्वेतवस्त्र अपराधी भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, सरकारी अफसरों, पुलिस के अधिकारियों तथा जजों एवं मजिस्ट्रेटों से सम्बन्ध स्थापित रखते हैं और इन सम्बन्धों के आधार पर वे कई बार पकड़े जाने से बच जाते हैं या पकड़े जाने पर छूट जाते हैं।

(9) श्वेतवस्त्र अपराधियों के कार्य का पता लगाना तथा दण्डित करना कोई सरल कार्य नहीं है। उनके विरुद्ध न तो सरलता से सबूत मिलता है

और न ही उनके अपराधिक कृत्यों के बारे में सूचना उपलब्ध हो पाती है। फल यह होता है कि अधिकांश श्वेतवस्त्र अपराध समाज में बिना जानकारी के होते रहते हैं और अपराधी अपनी सम्माननीयता के आवरण में गुप्त रीति से कार्य किया करते हैं।

(10) श्वेतवस्त्र अपराधी कपटी साधु या दिखाई न देनेवाले साँप की भाँति समाज में रहते हैं जो व्यक्तियों को डसने के बाद भी सरलता से मारे नहीं जाते हैं।

(11) श्वेतवस्त्र अपराधी अपने को अपराधी नहीं मानते हैं और साधारण अपराधियों को तुच्छ व्यक्ति समझते हैं।

(12) श्वेतवस्त्र अपराधों से समाज को बहुत बड़ी आर्थिक हानि होती है। यह हानि निम्न आर्थिक-सामाजिक वर्ग के अपराधियों द्वारा की गई चोरी, डकैती तथा अन्य परम्परागत अपराधों से होनेवाली आर्थिक हानि से कई गुना ज्यादा होती है।

(13) श्वेतवस्त्र अपराधों से होनेवाली आर्थिक हानि वास्तविक अर्थों में उतनी दुःखदायी नहीं होती है जितनी कि इस प्रकार के अपराधों से होनेवाली सामाजिक हानि। सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्र अपराध द्वारा पहुँचाई गई इस प्रकार की हानि का वर्णन करते हुए कहा कि इन अपराधों से पहुँची आर्थिक क्षति के परिणाम उतने गम्भीर नहीं होते हैं जितने कि सामाजिक परिणाम। साधारण अपराधों से जब व्यक्ति या समुदाय दुःखी होता है तब उसके निवारण का प्रयत्न ढूँढ़ता है और कानून एवं व्यवस्था के साधनों को सुदृढ़ बनाता है। इन प्रयत्नों से समाज का मनोबल उसी प्रकार से बढ़ता जैसे शत्रु देश से युद्ध जीतने पर लोगों में देशभक्ति की भावना बढ़ती है। श्वेतवस्त्र अपराध इसके विपरीत आम जनता के मनोबल को कमजोर करके सामाजिक विघटन की दशाओं को बढ़ावा देता है। चूँकि इस प्रकार के अपराध सामान्यतः व्यापारिक तथा व्यावसायिक आस्था एवं विश्वास का उल्लंघन करते हैं अतः उनसे समाज में अविश्वास की भावनाएँ बढ़ती हैं। साधारण जनता का मनोबल इसलिए और भी घटता है कि वह जानती है कि इस प्रकार के अपराधों को रोकनेवाले व्यक्ति बहुत कम हैं क्योंकि इन अपराधों को करनेवाले अपराधी समाज के उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण सरलता के पकड़कर दण्डित नहीं किये जा सकते। परिणाम यह होता है कि आम जनता इस प्रकार के अपराधियों के विरुद्ध आवाज

नहीं उठा पाती तथा उनके अपराधिक कृत्यों की रोकथाम के लिए कोई संगठित प्रयत्न नहीं कर पाती ।

क्या श्वेतवस्त्र अपराध एक अपराध है ?

'श्वेतवस्त्र अपराध' शब्द के प्रचलित हो जाने के बावजूद भी कई वर्षों तक अमरीका के अपराधशास्त्रियों में यह विवाद चलता रहा कि क्या श्वेतवस्त्र अपराध को एक अपराध माना जाये। तपन ने जब श्वेतवस्त्र अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार करने के हेतु सैद्धान्तिक आपत्ति उठाई[1] तब सदरलैण्ड ने इस विवाद पर पुनः एक बार यह कहा कि श्वेतवस्त्र अपराध एक अपराध है क्योंकि : (अ) कानून में इन दुष्कृतियों को जनता के लिए हानिकारक माना गया है, (ब) इन दुष्कृतियों के लिए कानून में दण्ड की विधियाँ निर्धारित की गई हैं, (स) इस प्रकार की दुष्कृतियाँ जान बूझकर तथा इरादा बनाकर की जाती हैं और उन्हें एक आकस्मिक घटना नहीं माना जा सकता है ।

कुइने ने सदरलैण्ड द्वारा प्रतिपादित परिभाषा में संशोधन का प्रस्ताव रखा और कहा कि अपराधी के सामाजिक-आर्थिक स्तर को ध्यान में न रखते हुए उन सभी कार्यों को वैधानिक रूप से अपराध घोषित किया जाना चाहिए जिनसे किसी पेशे में निहित सामाजिक आस्था का उल्लंघन होता है। उन्होंने यह सुझाव दिया कि श्वेतवस्त्र अपराध के स्थान पर "पेशेवर अपराध" शब्द प्रयोग में लाया जाना चाहिए ।[2] हारटुंग ने कहा कि श्वेतवस्त्र अपराध को अन्य प्रकार के अपराधों की ही भाँति समाजशास्त्रीय शब्दावली में अपराध माना जाना चाहिए ।[3] बरजेस ने हारटुंग के कथन पर आपत्ति की और कहा कि चूँकि साधारण जनता और न्यायालय श्वेतवस्त्र अपराधियों को अपराधी की संज्ञा नहीं प्रदान करते हैं और अपराधी भी स्वयं को अपराधी नहीं मानते हैं अतः वैधानिक रूप से इन अपराधियों को अपराधी नहीं कहा जा सकता है। गिलबर्टगीज ने सदरलैण्ड द्वारा प्रतिपादित श्वेतवस्त्र अपराध की अवधारणा पर टिप्पणी करते

---

1. पाल डब्ल्यू० तपन, "हू इज दि क्रिमिनल," अमेरिकन सोशियालाजिकल रिव्यू, फरवरी 1947, पृ० 96-102 ।
2. अर्ल आर० कुइने, "दि स्टडी आफ ह्वाइट कालर क्राइम : टुवर्ड ए रिओरिएनटेशन इन थ्योरी ऐन्ड रिसर्च," दि जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, जनवरी 1964, पृ० 208-212 ।
3. फ्रैंक ई० हारटुंग, पूर्वोल्लिखित, पृ० 29–30 ।

हुए कहा कि व्यापार निगमों द्वारा किये गये अपराधिक कार्यों के हेतु इन निगमों के अधिकारियों (जो इनका कार्यभार चलाते हैं) को श्वेतवस्त्र अपराधी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ये अधिकारी अपने कार्यों को अपराध समझकर कार्य नहीं करते।

इस सैद्धांतिक विवाद के उपरांत भी अधिकांश अपराधशास्त्री सदरलैण्ड के ही मत को स्वीकार करके श्वेतवस्त्र अपराध को वास्तविक अपराध मानते हैं।

भारत में श्वेतवस्त्र अपराध

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत श्वेतवस्त्र अपराध की समस्या एक गंभीर रूप में विकसित हुई और जनजीवन के क्षेत्र में कुछ ऐसे अपराधी दृष्टिगत हुए जो उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के साधन-सम्पन्न व्यक्ति थे। परन्तु इसके बावजूद भारत के अपराधशास्त्रियों ने अपराध के इस नये स्वरूप के अध्ययन का कोई सराहनीय प्रयत्न नहीं किया। बीनू गोपाल राव की 1961 में प्रकाशित पुस्तक **दि फेसेट्स आफ क्राइम इन इण्डिया** संभवतः पहली भारतीय पुस्तक है जिसमें श्वेतवस्त्र अपराध की आधुनिक भारतीय समस्या पर एक अध्याय लिखा मिलता है। इस अध्याय में समस्या का विश्लेषण बिना किन्हीं आंकड़ों के आधार पर किया गया है। राव ने अपने एक लेख "दि स्ट्रैटेजी आफ मीटिंग दि चैलेंज आफ सोशियो-इकोनामिक आफेन्डर्स" में इस प्रकार के अपराधों का विस्तृत वर्णन किया और इस प्रकार के अपराधों के राजकीय आंकड़े एकत्रित किये। यह लेख समस्या के विश्लेषण में एक उपयोगी उपलब्धि है। जस्टिस कृष्णा अय्यर द्वारा 1975 में प्रकाशित पुस्तक **ला, क्राइम ऐण्ड सेन्ज** में श्वेत-वस्त्र अपराध की भारतीय समस्या की गम्भीरता पर अत्यन्त उपयोगी विचार रखे गए। उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त कोई वर्णन आज तक सरलता से उपलब्ध नहीं है। भारतीय अपराधशास्त्रियों का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट न होने के दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। पहला यह कि तथाकथित भारतीय अपराधशास्त्री आज भी उन अमरीकी तथा पाश्चात्य यूरोपीय देशों के उन अपराधशास्त्रीय सिद्धांतों को ही प्रयोग में ला रहे हैं जिनमें अपराध का विश्लेषण अपराधियों के उस वर्ग तक ही सीमित है जो दरिद्र, अशिक्षित तथा गंदी बस्तियों एवं ग्रामों में निवास करते हैं। दूसरा यह कि भारतीय अपराधशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि श्वेतवस्त्र अपराध से सम्बन्धित आंकड़े सरलता से नहीं प्राप्त हो सकते हैं अतः समस्या का वैज्ञानिक अध्ययन संभव ही नहीं है। चूंकि भ्रष्टाचार की समस्या भी श्वेतवस्त्र अपराध की समस्या से सीधे रूप में सम्बद्ध

है अतः सन्थानम कमेटी रिपोर्ट तथा मान्टीरियो की पुस्तक करप्शन (1954) दो ऐसे दस्तावेज हैं जिनसे उच्च वर्ग के अधिकारियों की काली कारतूतों पर प्रकाश पड़ता है। सरकार द्वारा आयोजित कुछ अन्य आयोगों की रिपोर्टें, जो प्रकाशित नहीं की गई हैं, इस समस्या को परोक्ष रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करती हैं।

विधि आयोग (ला कमीशन) की 47वीं रिपोर्ट में श्वेतवस्त्र अपराध की समस्या की गम्भीरता पर विशेष रूप से मत व्यक्त किया गया है। आयोग ने श्वेतवस्त्र अपराध शब्द प्रयोग न करके एक नये शब्द की रचना की। आयोग ने श्वेतवस्त्र अपराध को 'सामाजिक-आर्थिक अपराध' (सोशियो-इकोनामिक आफेन्सेज) की संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार के अपराधों की परिभाषा करते हुए आयोग ने लिखा कि सामाजिक अपराध वे अपराध हैं जिनसे पूरे देश के स्वास्थ्य तथा भौतिक कल्याण को क्षति पहुँचती है। आर्थिक अपराध वे अपराध हैं जिनसे एक व्यक्ति की सम्पत्ति का हनन न होकर सम्पूर्ण देश की सम्पत्ति को क्षति पहुँचती है। समस्या के विस्तार तथा गंभीरता का वर्णन करते हुए आयोग ने लिखा कि इस प्रकार के अपराधों से होने वाली राष्ट्रीय क्षति उन अपराधों से बहुत अधिक है जिन्हें परम्परागत अपराध माना जाता है। परम्परागत अपराधों के विपरीत इस प्रकार के अपराध सीधे-सीधे रूप से आर्थिक तथा सामाजिक क्षति अवश्य नहीं पहुँचाते हैं परन्तु इन अपराधों से न्याय की व्यवस्था में लोगों का विश्वास कम होने लगता है।

श्वेतवस्त्र अपराध के स्वरूप

श्वेतवस्त्र अपराधों का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि यह कह पाना मुश्किल लगता है कि भारतीय जन-जीवन का ऐसा कौन सा हिस्सा है जिसमें इस प्रकार के अपराध न होते हों। संभवतः सभी व्यवसायों में—चाहे वह व्यापार हो, राजनीति हो, कानून हो, या सार्वजनिक प्रशासन हो—कुछ ऐसी अनियमितताएँ पाई जाती हैं जिन्हें इन व्यवसायों में लगे हुए बहुत से व्यक्ति अपने दिन-प्रति-दिन के व्यवहार में करते ही रहते हैं। जिन बेईमानी की विधियों का वर्णन प्रमुख रूप से किया जाता है वे निम्नांकित हैं : घूसखोरी, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, काला-बाजारी, जमाखोरी, मुनाफाखोरी, मिलावट, तस्करी तथा टैक्स बचाना आदि। इन्हीं प्रमुख सामाजिक-आर्थिक अपराधों को श्वेतवस्त्र अपराध मानते हुए विधि आयोग ने इनकी व्यापकता पर चिन्ता व्यक्त की।

भारत में श्वेतवस्त्र अपराध के कारण

समाजशास्त्रीय शब्दों में भारत में श्वेतवस्त्र अपराधी की बढ़ती हुई संख्या की व्याख्या उस प्रक्रिया के आधार पर की जाती है जिसमें परम्परागत समाज शीघ्रता से आधुनिकीकरण के मार्ग पर बढ़ने लगता है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के तुरंत बाद भारत के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन की परम्परा व्यवस्था के मूलभूत तत्वों, मूल्यों, मान्यताओं तथा वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों में इतना बड़ा परिवर्तन आया कि पुराने समय के सभी आदर्श एवं मूल्य पाश्चात्यीकरण की आंधी में ढह गये। जाति की नींव पर बना समाज एकाएक वर्ग-समाज के आधार पर परिवर्तित होने लगा। व्यक्ति के सामाजिक स्तर के निर्धारण के पुराने मापदण्ड टूट गये और लोगों में पैसा कमाकर बड़ा होने की होड़ लग गई। लोगों को विश्वास हो गया कि धन एवं भौतिक भोग-विलास के साधनों के अर्जन मात्र से ही व्यक्ति सामाजिक सम्मान पा सकता है और बड़ा आदमी कहला सकता है। जब लोगों के मन में यह विश्वास बैठ गया कि पैसा, चाहे वह काला हो या सफेद, सही ढंग से पाया गया हो या बेईमानी से, आदमी को आगे बढ़ा सकता है, तब एक ऐसी सामाजिक दौड़ प्रारम्भ हुई जिसमें उचित एवं अनुचित साधनों के बीच की दूरी मिट गई। हर आदमी, चाहे वह व्यापारी हो, प्रशासक हो, राजनीतिक हो या चिकित्सक, वकील, इंजीनियर, बाबू या चपरासी हो, इस फिराक में दौड़ने-धूपने लगा कि जल्दी से जल्दी "अमीर" कैसे बना जा सकता है। इस दौड़ में मारी गई ईमानदारी की बात, चारित्रिक निष्ठा तथा कर्तव्यपरायणता। इस भौतिकवादिता में अपराधिकता को बढ़ावा मिला और भारतीय जनजीवन में एक नये अमीरों का वर्ग सामने आया। यह वह वर्ग है जिसे अपना पेट भरने के लिए दूसरों का पेट काटने में कोई हिचक नहीं होती। यह वह वर्ग है जो धन और सम्पत्ति को गलत और सही दोनों प्रकारों से हड़पना चाहता है। यह वह वर्ग है जिसे न तो जनमत की चिन्ता है और न कानून के पंजों की।

भारत में श्वेतवस्त्र अपराध के आर्थिक कारणों को ढूंढ़ पाना कठिन नहीं है। अपराध के इस स्वरूप के आर्थिक कारण एक तरह से नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के पतन के साथ जुड़े हुए हैं। भौतिकवादिता की कभी तृप्त न होने वाली इच्छा तथा ऐश्वर्य का जीवन बिताने की उत्कट अभिलाषा व्यक्तिगत निष्ठा तथा व्यावसायिक संहिता के मानकों का पालन करके चलने की भावना को ले डूबी। कुछ लोग इसलिए श्वेतवस्त्र अपराध करने लगे कि उनका वेतन इतना

अधिक नहीं था कि भोग-विलास की वस्तुओं को खरीद सकें। दफ्तरों की फाइलें देखने वाला वर्ग घूस देने के लिए आम नागरिक को मजबूर करने लगा और समस्त प्रशासनिक व्यवस्था घूस के पेट्रोल से चलती नजर आने लगी। व्यापारी वर्ग ने प्रशासकों तथा बाबुओं की इस मनोवृत्ति का फायदा उठा कर बेधड़क चोरबाजारी, तस्करी, खाद्य पदार्थों में मिलावट तथा मुनाफाखोरी प्रारंभ कर दी। उनका यह विश्वास ठीक सिद्ध हुआ कि वे अपने पैसे के बल से अधिकांश उच्चस्तरीय प्रशासकों तथा राजनीतिज्ञों को खरीद सकते हैं।

स्वतंत्रता के बाद की राजनीति में बहुत से ऐसे लोग आ गये जो भ्रष्ट कहे जा सकते थे और जिन्हें अपनी स्वार्थ-सिद्धि के अतिरिक्त कुछ और नहीं दिखाई देता था। इस प्रकार के राजनीतिज्ञों तथा उनके चापलूसों के वर्ग ने पूँजीपतियों तथा व्यापारी वर्ग के लोगों से पैसे पाये और अवैधानिक तरीकों से काला व्यापार करने वाले व्यक्तियों की एक खरीदे हुए मजदूर की भाँति सेवा की। कुछ राजनीतिज्ञों ने पूँजीपतियों से पैसे लेकर निर्वाचन लड़े और जीत जाने पर चाकरों की भाँति पैसे देने वाले व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समूह की सेवा राजनैतिक साधनों से करते रहे। कालाबाजार करने वाले व्यापारियों, बड़े तस्करों, पूँजीपतियों, जमींदारों तथा राजे-महाराजों से गठबंधन करके इस प्रकार के कुछ राजनीतिज्ञों ने प्रजातंत्र की परिभाषा बदल डाली। प्रजातंत्र अमीरों की सरकार, अमीरों के द्वारा तथा अमीरों के लिए संकुचित होकर रह गया।

पुलिस; न्यायपालिका तथा कार्यपालिका इस महामारी से न बच सकी। राजनीतिक जोर-दबाव में आकर पुलिस उन लोगों को न पकड़ सकी जिन्होंने साधारण नागरिकों के समाज की सम्पत्ति को हड़प लिया था। न्यायपालिका उन्हें कारागार न भेज सकी क्योंकि कानून को खरीदने की शक्ति के साधन इस प्रकार के अपराधियों के पास बहुतायत से उपलब्ध थे। पैसे तथा राजनैतिक जोर-दबाव में आकर श्वेतवस्त्र के अपराधों की खोज-बीन तथा उनके बारे में कानूनी कार्यवाही करने वाली व्यवस्था शिथिल एवं हतोत्साहित हो गयी।

सामान्य जनता—जिसे आहत व्यक्तियों की एक असंगठित भीड़ कहा जा सकता है—श्वेतवस्त्र अपराधों से हुई क्षति को चुपचाप बिना विरोध किये सहती रही। इसका फल यह हुआ कि श्वेतवस्त्र अपराधी बिना रोक-टोक अपने अपराधिक कार्यों को करते रहे। सामान्य जनता का यह दृष्टिकोण उनकी असहायता तथा उनकी तटस्थता पर आधारित था। साधारण नागरिक यह मान कर चलता रहा कि वह इन अपराधियों के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकता

है क्योंकि इस प्रकार के अपराधों की जड़ें बड़ी गहरी हैं और इनके करने वालों की पहुँच बहुत लम्बी है। इस वस्तुस्थिति में जनता ने वही अपराध देखे, पाये तथा सहे जिनके लिए वह योग्य थी।

भारत में श्वेतवस्त्र अपराध इस प्रकार एक ऐसी सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा प्रशासकीय परिस्थिति में उत्पन्न हुए जो इनकी उत्पत्ति एवं विकास के लिए प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्रदान करती थी। इस प्रकार के अपराध उस सामाजिक व्यवस्था में पनपे जिसमें अपराधिता फायदेमंद सिद्ध हो गई और जिसमें अपराधी कानून एवं दंड के शिकंजों में फँसने से बच गये। श्वेतवस्त्र अपराध भारत में एक ऐसे बरगद के वृक्ष की भाँति बढ़े जिसकी डालें काटने के लिए सशक्त औजार समाज के पास नहीं थे। इस प्रकार के अपराध गुनार मिरडल के उस "कोमल राज्य" की अवस्था में बढ़े जिसके पास इन अपराधों को रोक सकने की न तो प्रबल इच्छा थी और न सशक्त व्यवस्था अथवा साधन।

श्वेतवस्त्र अपराध की चुनौती का सामना करने की कार्ययोजना

किसी भी ऐसे समाज में श्वेतवस्त्र अपराध की चुनौती का सामना सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है जिसमें पुलिस भ्रष्ट हो, न्यायाधीश निष्ठा-पूर्वक अपना कार्य न सम्पादित करते हों और जिसमें जनता उन व्यक्तियों के विरुद्ध आवाज उठाने तथा उन्हें दण्डित कराने का अभियान चलाने से असमर्थ हो जिन्हें श्वेतवस्त्र या संगठित अपराधी कहा जा सकता है। इस प्रकार के अपराध उसी समाज में रोके जा सकते हैं जिसमें कानून एवं व्यवस्था को तोड़नेवालों तथा समाज को सामाजिक तथा आर्थिक रूप से क्षति पहुँचानेवाले सभी व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिया जा सके। कठोर दण्ड की अचूक व्यवस्था ही सम्भवतः इस प्रकार के अपराधों को रोक सकती है। आपातकालीन स्थिति की घोषणा के बाद जो नया माहौल सामने आया है उससे यह भली भाँति सिद्ध हो चुका है कि कठोर दण्ड की व्यवस्था इस प्रकार के अपराधियों से सामना करने की एक सशक्त विधि है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने विधि आयोग की ही भाँति कठोर दण्ड के हथियार को श्वेतवस्त्र अपराधियों के विरुद्ध इधर के करीब दो वर्षों से छिड़े युद्ध का एक प्रमुख आयुध बताया। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने इधर के कुछ निर्णयों में श्वेतवस्त्र अपराध की रोकथाम के लिए निम्नांकित महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये :—

(1) श्वेतवस्त्र अपराधों की लहर को रोक पाने में अभियोजन पक्ष की असमर्थता से न्यायाधीशों की आत्मा क्षुब्ध होनी चाहिए। यद्यपि हम इस बात को

स्वीकार करते हैं कि अपराधियों का सुधार उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए परन्तु फिर भी हमें यह मानना ही पड़ रहा है कि अभ्यासिक रूप से सामाजिक-आर्थिक अपराध करनेवाले व्यक्तियों के लिए कारागार ही एक सशक्त साधन है।

(2) इस प्रकार के अपराधियों के बारे में न्यायपालिका को गम्भीर रूप से विचार करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि ऊँचे ओहदों पर विराजमान व्यक्ति इस देश के कानूनों का मजाक न उड़ा सकें। यदि ऐसा होता रहेगा तो कानून एक ऐसे साँप की भाँति बनकर रह जायगा जिसके मुँह से विषैले दाँत निकाल कर फेंक दिये गये हैं।

(3) कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेतवस्त्र अपराधियों को लम्बी अवधि के लिए कारागार में बन्द करने मात्र से समाज की रक्षा हो सकेगी।

(4) जिस कानून में श्वेतवस्त्र अपराधी पकड़े जाने पर जुर्माना जमा करके जेल जाने से बच जाते हैं, वह कानून एक खिलौना है और ऐसे कानून से कानून का न होना ही अच्छा है।

सर्वोच्च न्यायालय ने श्वेतवस्त्र अपराधियों के लिए एक ऐसी कानूनी व्यवस्था की सिफारिश की जिसमें ऐसी बारीकियाँ न हों जिनका फायदा उठाकर पैसेवाले अपराधी व्यक्ति बच जायें। 26 जून, 1975 को आपातकालीन घोषणा के बाद सरकार का ध्यान विधि आयोग की 1967 में दी गई निम्नलिखित सिफारिशों को कार्यान्वित करने की ओर आकृष्ट हुआ :—

(1) देश के अनेक कानूनों में वर्णित श्वेतवस्त्र अपराधों के लिए निर्धारित दण्ड तथा जुर्मानों की धनराशि को बढ़ाना।

(2) समस्त श्वेतवस्त्र अपराधों के लिए लम्बी अवधि के कठोर कारावास के दण्ड की विधि को स्वीकार करना।

(3) श्वेतवस्त्र अपराधियों के द्वारा अवैधानिक साधनों द्वारा अर्जित सम्पत्ति को जब्त कर लेना।

(4) सामाजिक-आर्थिक अपराध करनेवाले व्यक्तियों की सार्वजनिक रूप से परिनिन्दा करना।

(5) न्यायालयों को यह अधिकार देना कि वे दूसरी बार श्वेतवस्त्र अपराध करनेवाले व्यक्तियों को यह आदेश दे सकें कि उनको अपना वह व्यवसाय करने की अनुमति नहीं होगी जिसके करने में उन्होंने अपराध किया है।

अध्याय 5

बाल अपराध

प्रस्तावना

सामाजिक विघटन की जितनी भी समस्याएँ आधुनिक औद्योगिक नगरीय समाजों को घेरे हुए हैं उनमें बाल तथा किशोर अपराध की समस्या एक गम्भीर विचार का प्रश्न बनी हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आज बाल तथा किशोर अपराध की समस्या अमरीका, इंगलैंड, जापान, जर्मनी, फ्रांस आदि जैसे विकसित देशों की ही समस्या न होकर एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के देशों की भी एक प्रमुख समस्या बनती जा रही है।[1] संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपराध-निरोध तथा अपराधी-सुधार की समस्या पर आयोजित किए गये अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों की रिपोर्टों से स्पष्ट रूप से यह विदित होता है कि बाल अपराध की समस्या की निरन्तर वृद्धि वयस्क अपराध की समस्या को और अधिक भयावह बनाये दे रही है। इस समस्या के निदान एवं निराकरण का प्रश्न सीधे रूप से आधुनिक नगरीय तथा औद्योगिक समुदायों के स्थायित्व के साथ जुड़ा हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ के आर्थिक सामाजिक कार्यों से सम्बन्धित विभाग द्वारा इसी प्रकार की एक रिपोर्ट में कहा गया कि अपराधी व्यवहार के क्षेत्र में जिन समस्याओं को आज अधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है उनमें से बाल अपराध प्रमुख है। जिन सेवाओं का आयोजन इस समस्या की रोकथाम के लिए आज तक किया गया है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी सेवाएँ अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं कर पायी हैं। इस वस्तुस्थिति में उन सभी कारकों का मूल्यांकन एक बड़े परिप्रेक्ष्य में करना पड़ेगा जो इस दृष्टिगत असफलता के लिए

---

1. यूनाइटेड नेशन्स, डिपार्टमेंट आफ सोशल अफेयर्स, **कम्पैरेटिव सर्वे आन जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी**, पार्ट +, एशिया ऐन्ड फार ईस्ट (न्यूयार्क : 1953), पृ० 1–2।

उत्तरदायी हैं और उन विधियों को ढूँढ़ना पड़ेगा जो आज की स्थिति में लाभदायक सिद्ध हों।[1]

बाल अपराध की समस्या के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पहलू पर शोध अध्ययन तथा साहित्य सृजन करनेवाले समाजशास्त्रियों का मत है कि समस्या का नियन्त्रण तथा बाल अपराधियों के सुधार एवं व्यवस्थापन के कार्यक्रमों की सफलता केवल उस ज्ञान पर निर्भर करेगी जिसके द्वारा बाल अपराधी व्यवहार को प्रेरित करनेवाली दशाओं तथा कारकों का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव हो सके। समस्या सम्बन्धी जिस ज्ञान का सृजन आज तक सम्भव हो सका है उसमें से कुछ विशेष निष्कर्ष निम्नांकित हैं :—

(1) आज बाल अपराध की समस्या एक विशेष देश या समाज की समस्या न होकर एक विश्वव्यापी समस्या है।[2]

(2) जिन आदिम तथा उच्च सांस्कृतिक सभ्यता वाले समाजों में यह समस्या अभी तक दृष्टिगत नहीं थी आज वहाँ भी यह समस्या बढ़ती हुई प्रतीत होती है।[3]

(3) बाल अपराध की समस्या प्रमुख रूप से जटिल सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था वाले आधुनिक नगरीय तथा औद्योगिक सभ्यता वाले समाजों में उग्र रूप धारण करती जा रही है।[4]

(4) बाल अपराध एक व्यक्ति अथवा संस्कृति-विशेष की सम्पत्ति न होकर एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सम्पत्ति है जिसमें बाल अपराधी व्यवहार सरल एवं स्वाभाविक रूप से किन्हीं विषम सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होता है।[5]

---

1. रिपोर्ट आन दि सेकेन्ड यूनाइटेड नेशन्स कांग्रेस आन दि प्रिवेन्शन आफ क्राइम ऐन्ड ट्रीटमेंट आफ आफेन्डर्स, न्यू फार्म्स आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी : देयर ओरिजिन, प्रिवेन्शन ऐन्ड ट्रीटमेंट (न्यूयार्क : 1960), पृ० 4–32.
2. मार्टिन एच० न्यूमेयर, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1961) पृ० 5।
3. पाल एच० लैन्डिस, सोशल प्राब्लेम्स (शिकागो : 1959), पृ० 345 :
4. फ्रैन्क टेनेनबाम, "सोशल फोर्सेज इन दि डेवलपमेंट आफ क्राइम" इन क्रिमिनालोजी : ए बुक आफ रीडिंग्स (एडिटेड) न्यूयार्क : 1953, पृ० 220–230।
5. रिचर्ड ए० क्लावर्ड ऐन्ड लायड ई० ओहलिन, डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड अपार-चुनिटी : ए थ्योरी आफ डेलिन्क्वेन्ट गैंग्स (ग्लेनको : 1960) पृ० 211।

(5) बाल अपराध उन घरों के बालकों के व्यवहार-विचलन की समस्या है जो सामाजिक व्यवस्था के पार्श्ववर्ती भूभागों में निवास करते हैं ।[1]

(6) बाल अपराध की समस्या प्रमुख रूप से लड़कों के असामाजिक तथा अवैधानिक व्यवहार-प्रतिमानों का एक स्वरूप है ।[2]

बाल अपराध की परिभाषा

बाल अपराध की सही परिभाषा देने में अधिकांश विद्वान् अपनी असमर्थता व्यक्त करते आये हैं क्योंकि बाल अपराध का अर्थ अनेक व्यक्तियों के मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न करता है । इस विषय पर उपलब्ध साहित्य में कुछ लेखक समस्या के कानूनी पहलू अर्थात् किसी बालक द्वारा अपराधी कानून का उल्लंघन, पुलिस द्वारा उसकी गिरफ्तारी तथा अदालतों अथवा बाल न्यायालयों द्वारा उस बालक की दोष-सिद्धि की प्रामाणिकता को इस शब्द की उचित वैधानिक परिभाषा करने में महत्वपूर्ण समझते हैं । इसके विपरीत समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सक बालकों के असामाजिक व्यवहार के अनेक प्रतिमानों को बाल अपराध की परिभाषा का आधार मानना चाहते हैं और बालकों के उन सभी कृत्यों को परिभाषा का अंग बनाना चाहते हैं जिन्हें लोग दुर्व्यवहार समझते हैं ।

बाल अपराध की वैधानिक परिभाषा

बाल अपराध की वैधानिक परिभाषा पर बल देने वाले लेखक बाल अपराधी को एक निश्चित आयु का व्यक्ति मानते हैं जिसने राज्य के किसी कानून या अध्यादेश का उल्लंघन किया हो और जिसके फलस्वरूप उसके विरुद्ध कोई न्यायिक कार्यवाही की गयी हो । इसके विपरीत बाल अपराध को एक असामाजिक कृत्य मानने वाले लेखक बाल अपराधी को ऐसा व्यक्ति बताते हैं जिसकी व्यवहार-शैली समाज के व्यवहार-नियामक मूल्यों, मान्यताओं तथा सांस्कृतिक रूप से स्वीकार किये गये व्यवहार-मानकों के विरुद्ध है ।

'बाल अपराध' शब्द से जिन कार्यों का बोध होता है उनका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें बालकों के सामाजिक रूप से अस्वीकृत तथा बुरे लगने वाले अनेक ऐसे कार्य सम्मिलित हो जाते हैं जिन्हें अपराध माना जाना समय, स्थान

---

1. हरबर्ट ए० ब्लाच ऐन्ड फ्रैंक फिलन, डेलिन्क्वेन्सी : दि जुवेनाइल आफेन्डर इन अमेरिका टुडे (न्यूयार्क : 1956), पृ० 44 ।
2. अलबर्ट के० कोहेन, डेलिन्क्वेन्ट ब्वायज : दि कल्चर आफ दि गैंग्स (ग्लेनको : 1955), पृ० 44 ।

तथा उन लोगों के दृष्टिकोण पर निर्भर होता है जो कानून का पालन कराने का उत्तरदायित्व सँभालते हैं। परिभाषा-निर्धारण सम्बन्धी इस वैचारिक विभिन्नता के साथ ही साथ उस प्रकार की अनेक परिभाषाएँ बाल अपराधी व्यवहार को तय करने के बारे में पाई जाती हैं जिन्हें कानूनी परिभाषा नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की परिभाषाएँ या व्याख्याएँ उन माता-पिता, शिक्षक, मनो-चिकित्सक, समाज-कार्यकर्ता, धर्मशिक्षा प्रदान करने वाले व्यक्ति एवं समाज-शास्त्रियों के द्वारा दी जाती हैं जो समस्या के निवारण से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बद्ध हैं।

अधिकांश माता-पिता तथा अभिभावकों के मत में वे सभी बालक अप-राधी हैं जो ऐसा व्यवहार करते हैं जिसे असामाजिक माना जाता है और जिसे देखकर लोग उँगली उठाते हैं। वकीलों के मत में वे सभी कम आयुवाले बालक बाल अपराधी हैं जिन्हें उनके अपराध के लिए वैसा दंड नहीं दिया जा सकता है जो उसी प्रकार के अपराध करनेवाले वयस्क व्यक्ति को मिलता है। मनोवैज्ञानिकों के लिए वे बालक बाल अपराधी हैं जिनके व्यवहार प्रतिमान स्वीकृत व्यवहार मानकों से भिन्न हैं। न्यायाधीशों के लिए बाल अपराधी वे अवांछित बालक हैं जिनके माता-पिता उन्हें ठीक से नहीं बढ़ा कर सके और जो उचित नियंत्रण तथा निर्देशन के अभाव में किन्हीं कानूनों के विरुद्ध अपराध कर बैठते हैं। ग्रुसमैन ने उन कार्यों तथा व्यवहार-प्रतिमानों की एक विस्तृत सूची तैयार की जिन्हें बाल अपराध की अनेक परिभाषाओं में सम्मिलित किया जाता है[1] :—

(1) कानून अथवा अध्यादेश का उल्लंघन।
(2) स्वभाव से भागा करना।
(3) जान-बूझकर चोरों, अपराधियों तथा अनैतिक व्यक्तियों के साथ मेल-जोल रखना।
(4) सुधार से परे होना।
(5) माता-पिता तथा अभिभावकों के नियंत्रण में न होना।
(6) आलस्य या अपराध की दशाओं में बड़ा होना।
(7) ऐसा आचरण करना जिससे स्वयं या दूसरों को नुकसान या चोट पहुँचे।
(8) बिना किसी आवश्यक कार्य तथा माता-पिता की अनुमति के घर से बाहर रहना।

---

1. फ्रेडरिक बी० ग्रुसमैन, लॉ आफ जुवेनाइल डेलिंक्वेन्सी : दि लॉ आफ फोर्टी-एट स्टेट्स (न्यूयार्क : 1959), पृ० 21।

(9) अनैतिक अथवा अशिष्ट व्यवहार करना ।
(10) स्वभावतः गन्दी भाषा का प्रयोग तथा गाली गलौज करना ।
(11) जान-बूझकर बदनाम घरों में जाना ।
(12) जुए के अड्डों पर जाना ।
(13) आदतन स्टेशन या रेल की पटरी के आस-पास घूमना ।
(14) चलती गाड़ी से कूदना तथा कारों में बिना अनुमति के घुसना ।
(15) उन जगहों पर जाना जहाँ शराब या मादक द्रव्य पिये या बेचे जाते हैं ।
(16) बिना किसी वैधानिक रूप से स्वीकृत कार्य के रात में सड़कों तथा गलियों में घूमना ।
(17) स्कूल या किसी अन्य स्थान पर अनैतिक आचरण करना ।
(18) अवैधानिक व्यवसाय करना ।
(19) ऐसे व्यापार करना या उन दशाओं में पाया जाना जिनसे खुद को या दूसरों को नुकसान पहुँचे ।
(20) सिगरेट पीना तथा तम्बाकू का किसी अन्य रूप में प्रयोग करना ।
(21) उन स्थानों पर आना जिनका अस्तित्व कानून के खिलाफ है ।
(22) उन स्थानों पर जाना जहाँ जाने के लिए वयस्कों को दंड दिया जा सकता है ।
(23) मादक द्रव्यों का प्रयोग करने की आदत डालना ।
(24) उपद्रवी तथा उत्पाती होना ।
(25) भिक्षावृत्ति करना ।
(26) नशीले रसायनों (अलकोहल आदि) का प्रयोग करना ।
(27) अशिष्ट प्रस्ताव रखना ।
(28) आवारागर्दी करना तथा रात को सड़कों तथा पार्कों में सोना ।
(29) राजकीय अथवा निजी बाल सुधार संस्थाओं से भागना ।
(30) उन स्थानों पर पाया जाना जिन्हें असामाजिक तथा अनैतिक कार्यों के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है ।
(31) नशे में मोटर, स्कूटर तथा साइकिल चलाना ।
(32) बिना कानूनी अनुमति के शादी का प्रयत्न करना ।
(33) यौन अनियमितताओं में रत होना ।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपराध-निरोध तथा अपराधी-सुधार के विषय पर आयोजित द्वितीय अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन ने बाल अपराध की उन सभी परि-

भाषाओं को अस्पष्ट मान कर अस्वीकार कर दिया गया जिनमें बालकों के अशोभनीय, अशिष्ट तथा असामाजिक व्यवहार-प्रतिमानों के समस्त स्वरूपों की विस्तृत सूची तैयार की गयी है। परिभाषा को केवल कानूनी सीमा में ही रखने की सिफारिश करते हुए सम्मेलन ने जिस प्रस्ताव को पारित किया उसमें कहा गया कि बाल अपराध शब्द का प्रयोग अपराधिक कानून के अतिक्रमण तक ही सीमित होना चाहिए और बालकों द्वारा की गयी छोटी-मोटी अनियमितताओं को तब तक अपराध नहीं माना जाना चाहिए जब तक उन्हीं अनियमितताओं के लिए वयस्कों को दोषी न ठहराया जाये। सम्मेलन ने यह भी सुझाव दिया कि बाल अपराध शब्द का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं किया जाना चाहिए और बालकों के हर बुरा लगनेवाले व्यवहार तथा कानून-विरोधी कार्य को अपराध नहीं माना जाना चाहिए। इस प्रकार की सावधानी रखने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत होती है कि बालकों से व्यवहार के उन प्रतिमानों की अपेक्षा करना अवास्तविक है जिन्हें समुदाय ने वयस्कों के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए बनाया है।[1]

इस प्रकार बाल अपराधी व्यवहार की वे ही परिभाषाएँ आज मान्य हैं जिनमें बाल अपराध को एक ऐसा कार्य माना गया है जिससे किसी समाज अथवा समुदाय के हितों की रक्षा करनेवाले कानून या उस देश, राज्य तथा स्थान की अपराधिक संहिता की किसी एक या कई धाराओं का उल्लंघन होता है और जिस उल्लंघन के लिए बालक ही नहीं वरन् वयस्कों के भी विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की व्यवस्था की गयी है।

वाल्टर सी० रेकलेस ने बाल अपराध की परिभाषा करते हुए कहा कि कानूनी शब्दों में बाल अपराध अपराधिक संहिता के द्वारा परिभाषित वह कार्य है जिसे ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया जाता है जिसकी अवस्था 18 वर्ष से कम है।[2] सिरिल बर्ट के मतानुसार एक बालक को अपराधी तभी माना जायेगा जबकि उसकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ इतना गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं कि उसके विरुद्ध सरकारी कार्यवाही करना आवश्यक हो जाता है।[3] एच० एच० लाऊ के

---

1. सेकेन्ड यूनाइटेड नेशन्स कांग्रेस आन दि प्रिवेन्शन आफ क्राइम ऐन्ड ट्रीटमेंट आफ आफेन्डर्स, लन्दन 1960, रिपोर्ट आन न्यू फार्म्स आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी, देयर ओरिजिन, प्रिवेन्शन ऐन्ड ट्रीटमेंट, पृ० 61।
2. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम (बम्बई : 1970), पृ० 169।
3. सिरिल बर्ट, दि यंग डेलिन्क्वेन्ट (लन्दन : 1938), पृ० 15।

अनुसार बाल अपराध किसी ऐसे बालक द्वारा किया गया विधि-विरोधी कार्य है जिसकी अवस्था कानून में बाल अवस्था की सीमा में रखी गयी है और जिसके लिए कानूनी कार्यवाही तथा दण्ड-व्यवस्था वयस्कों से भिन्न है।[1] शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक्स ने बाल अपराध की संज्ञा में उन सभी कार्यों को रखा जो कानून के विरुद्ध हैं और जिन्हें बाल न्यायालय तथा बाल अधिनियमों में निर्धारित 16 या 18 वर्ष तक की अवस्था वाले बालकों के द्वारा किया जाता है।[2] शेफर तथा न्यूडेन ने उन अपराधों को बाल अपराध माना जो 7 वर्ष से लेकर 16 वर्ष तक की आयु वाले बालकों के द्वारा किये जाते हैं और जिन्हें साधारणतः वयस्क अपराधियों के कार्यों से भिन्न माना जाता है।[3] संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इसी विषय पर प्रकाशित एक रिपोर्ट में यह कहा गया कि बाल अपराध अवयस्कों द्वारा किया गया अपराधी कानूनों के उल्लंघन का कार्य है।[4] सोल रुबिन ने बाल अपराध के कानूनी अर्थ को एक पंक्ति में व्यक्त करते हुए लिखा कि कानून जिस कार्य को बाल अपराध मानता है वही बाल अपराध है।[5]

बाल अपराध की परिभाषा

बाल अपराध की उपर्युक्त वर्णित परिभाषाएँ इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करती हैं कि बाल अपराधी कौन है और इन्हीं परिभाषाओं को आधार मानकर बाल अपराधी बालक की परिभाषाएँ दी गयीं हैं। केवन ने बाल अपराधी की परिभाषा कानूनी शब्दों से हटकर की। उनके अनुसार बाल अपराधी वह बालक है जिसका व्यवहार सामाजिक मान्यताओं, मूल्यों तथा परिपाटियों से बहुत भिन्न है और जिसके कार्य समाज के हितों के प्रतिकूल हैं। चूँकि इस प्रकार की परिभाषाओं को आज के अपराधशास्त्री अधिक महत्व नहीं प्रदान करते हैं अतः

---

1. एच० एच० लाऊ, जुवेनाइल कोर्ट्स इन दि युनाइटेड स्टेट्स (वाशिंगटन : 1930), पृ० 53-54।
2. शेल्डन ऐन्ड इलीनर ग्लुक्स, अनरैवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (कैम्ब्रिज : 1957), पृ० 13।
3. स्टीफेन शेफर ऐन्ड रिचर्ड डी० न्यूडेन, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी : इन इन्ट्रोडक्शन (न्यूयार्क : 1970), पृ० 13।
4. यूनाइटेड नेशन्स, कम्पेरेटिव सर्वे आन जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1953), पृ० 1।
5. सोल रुबिन, "दि लीगल कैरेक्टर आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी," दि ऐनल्स, जनवरी 1949, पृ० 1।

बाल अपराधी की वे ही परिभाषाएँ मान्य हैं जो कानूनों में वर्णित हैं। अमरीका के अनेक राज्यों के बाल न्यायालयों के अधिनियमों में उन सभी बालकों को बाल अपराधी माना गया है जो किसी राज्य के कानून या स्थानीय अध्यादेश की धाराओं का उल्लंघन करते हैं, जो आवारा, सुधार से परे तथा स्वभाव से अनाज्ञाकारी हैं, जो चोरों, अपराधियों, वेश्याओं, आवारों तथा व्यसनी व्यक्तियों की संगत में रहते हैं, जो अवांछनीय स्थानों या घरों पर जाते हैं तथा जो अभद्र, अश्लील तथा बुरा लगनेवाला व्यवहार करते हैं। इस प्रकार की परिभाषाओं के सार को संक्षेप में व्यक्त करते हुए शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक ने लिखा कि वे सभी बालक बाल अपराधी हैं जिन्होंने किसी भी अवैधानिक कार्य को किया है।[1] न्यूयार्क के फैमिली कोर्ट ऐक्ट में बाल अपराधी की परिभाषा करते हुए कहा गया कि वे सभी व्यक्ति बाल अपराधी की श्रेणी में आते हैं जिनकी अवस्था 7 वर्ष से ऊपर तथा 16 वर्ष से कम है और जिन्होंने कोई ऐसा कार्य किया है जिसे यदि कोई वयस्क व्यक्ति करे तो उसे दण्ड मिले।[2] संयुक्त राज्य अमरीका के स्टैन्डर्ड जुवेनाइल कोर्ट ऐक्ट के अनुसार बाल अपराधी वह बालक है जिसने राज्य के किसी कानून अथवा म्यूनिसिपैलिटी के किसी अध्यादेश का उल्लंघन किया है।[3] बाल अपराधी की संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दी गयी परिभाषा अपनी स्पष्टता के कारण सर्वाधिक मान्य है। इस परिभाषा के अनुसार बाल अपराधी से अर्थ है उस युवा व्यक्ति से जिसकी अवस्था एक निश्चित आयु-वर्ग में आती है और जिसे अपराधिक कार्य करने के लिए सामान्य अथवा विशिष्ट न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और जहाँ उसको दण्ड मिलने के साथ ही साथ उपचार तथा पुनर्वासन के अवसर भी प्रदान किये जाते हैं।[4]

बाल अपराध के कारण

बाल अपराध के कारणों की वैज्ञानिक व्याख्या सदैव की ही भाँति आज भी अपराधशास्त्रियों के लिए एक कठिन एवं दुर्गम प्रश्न बनी हुई है।

---

1. शेल्डन ऐन्ड इलीनर ग्लुक, अनरैवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (कैम्ब्रिज : 1951), पृ० 13।
2. ज्वाइन्ट लेजिस्लेशन कमेटी आन कोर्ट रिआर्गनाइजेशन, दि फैमिली कोर्ट ऐक्ट, न्यूयार्क स्टेट, पृ० 6।
3. स्टैन्डर्ड जुवेनाइल कोर्ट ऐक्ट (1943), पृ० 10।
4. यूनाइटेड नेशन्स, प्रिवेन्शन आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी इन सेलेक्टेड यूरोपियन कन्ट्रीज (1955), पृ० 3।

बाल अपराध के कारणों से सम्बन्धित ढेर सारे साहित्य के उपार्जन के बावजूद अपराधशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि अपराध तथा बाल अपराध के कारणों की व्याख्या से सम्बन्धित अनुसन्धान अभी अधूरा है और उसमें सहमति तथा वैज्ञानिकता का अभाव है। बाल अपराधी व्यवहार एक जटिल पहेली है जिसका उत्तर उस समय तक नहीं दिया जा सकता है जब तक कि मानव व्यवहार का कोई शास्त्रीय एवं सामाजिक विज्ञान उपलब्ध न हो जाये। वर्तमान मानव-व्यवहार-शास्त्री अपने सीमित ज्ञान की अवस्था में केवल अटकल पच्चियाँ ही लगा सकते हैं। कारणों तथा परिणामों के मध्य स्थित सम्बन्धों का वैज्ञानिक तथा तार्किक ज्ञान फिलहाल अभी समाज विज्ञानों में प्राप्त नहीं है। मानव व्यवहार सम्बन्धी परिकल्पनाओं के परीक्षण से प्राप्त निष्कर्षों के ही आधार पर आज के समाजशास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा मनश्चिकित्सक अपराध तथा बाल अपराध जैसे व्यवहार-विचलनों का विश्लेषण करते हैं। अपराध के क्षेत्र में शोध कार्य करने वाले विद्वान् उन समस्त महत्वपूर्ण शक्तियों तथा उन अन्तःसम्बन्धों को नहीं जानते हैं जो अपराधी व्यवहार को जन्म देते हैं या किसी एक व्यक्ति या समूह को अपराधी बनाते हैं। अपने ज्ञान की इस सीमितता के बावजूद अपराधशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों तथा विधि-विशेषज्ञों ने बाल अपराध के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया है। इन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों को उनकी व्याख्या के प्रमुख आधार पर विभक्त किया जाता है तथा उनकी सत्यता का परीक्षण एक वैज्ञानिक ढंग से करने का प्रयत्न किया जाता है। इन सभी सिद्धान्तों में वर्णित बाल अपराधी व्यवहार की व्याख्या के कारणों को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है :—

(1) शारीरिक तथा आनुवंशिक कारण।
(2) मनोवैज्ञानिक तथा मनश्चिकित्सीय कारण।
(3) परिस्थिति सम्बन्धी कारण।
(4) सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण सम्बन्धी कारण।
(5) शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी कारण।

(1) शारीरिक तथा आनुवंशिक कारण

जिन विद्वानों ने अपराध तथा बाल अपराध के कारणों की व्याख्या अपराधिक कार्य की प्रेरक शक्तियों से हटकर अपराधी के व्यक्तित्व की संरचना के आधार पर करने का प्रयत्न किया उनमें सबसे पहला नाम सिजारे लाम्ब्रोसो का है। लाम्ब्रोसो का विश्वास था कि उन्होंने अपराधियों की शारीरिक बनावट

का वैज्ञानिक अध्ययन करके एक ऐसे अपराधी प्रकार को ढूँढ़ निकाला है जिसमें अपराध करने की प्रवृत्तियाँ अपराधी व्यक्ति के शरीर में ही निहित रहती हैं। लाम्ब्रोसो द्वारा वर्णित इस अपराधी प्रकार में यह कहा गया था कि अपराधी अपने शरीर की बनावट के आधार पर गैर-अपराधी व्यक्तियों से भिन्न होते हैं और उन्हें उनकी नाक, कान, आँखें, दाँत, जबड़े, माथा, केश, हाथ और पैर की विचित्र संरचना के आधार पर पहचाना जा सकता है। इन व्यक्तियों के शारीरिक दोष उन्हें अपराधी बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। लाम्ब्रोसो के शिष्य तथा अनुयायी विद्वान् फेरी तथा गारफैलो ने अपने गुरु की बात को पूर्ण रूप से तो सही नहीं माना परन्तु इतना अवश्य कहा कि चोरों, डकैतों तथा हत्यारों की शारीरिक बनावट अन्य प्रकार के अपराधियों से भिन्न होती है और उनमें वे शारीरिक दोष पाये जाते हैं जिनका वर्णन लाम्ब्रोसो ने अपने अपराधी शारीरिक प्रकार में किया था।

इंगलैंड के अपराधशास्त्री चार्ल्स गोरिंग ने लाम्ब्रोसो तथा उनके अनुयायी विद्वानों के द्वारा वर्णित मान्यताओं का वैज्ञानिक परीक्षण 3 हजार से अधिक इंगलैंड के बन्दियों पर किया और यह पाया कि इन बन्दियों तथा अन्य व्यक्तियों (जिन्होंने अपराध नहीं किया था) की शारीरिक बनावट में कोई विशेष भेद नहीं था। भेद केवल बुद्धि लब्धिमान का था।

हिटलर के पूर्व की जर्मनी के एक विद्वान् अरनेस्ट क्रेशमर ने शरीर की बनावट तथा मानसिक दिशा में सम्बन्ध निर्धारण करने के लिए जिस परिकल्पना को स्वीकार किया था उसका आधार था व्यक्ति के शरीर की संरचना से उसके चरित्र, व्यवहार तथा स्वभाव का पता लगाया जा सकता है।[1] क्रेशमर की इस परिकल्पना का मूल्यांकन विलियम शेल्डन[2], हूटन[3] तथा ग्लुक्स[4] ने अपने अपने अपराध तथा बाल अपराध सम्बन्धी अध्ययनों में किया।

शेल्डन ने कहा कि मेसोमारफिक प्रकार के व्यक्तित्व रखनेवाले लोग अर्थात् मांस-पेशीय प्रकार के हृष्ट-पुष्ट शरीरवाले व्यक्ति, ऐक्टोमारफिक (संवेदन-

---

1. अरनेस्ट क्रेशमर, फिजीक ऐन्ड कैरेक्टर (न्यूयार्क : 1925)।
2. विलियम एच० शेल्डन, वैराइटीज आफ डेलिन्क्वेन्ट बिहेवियर (न्यूयार्क : 1949)।
3. अरनेस्ट ए० हूटन, दि अमेरिकन क्रिमिनल (कैम्ब्रिज : 1939)।
4. शेल्डन ऐन्ड इलीनर ग्लुक्स, अनरैवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1950)।

शील और छोटे चेहरे, नुकीली नाक तथा कोमल बालवाले व्यक्ति) तथा इन्डो-मारफिक (गोल-मटोल, मोटे तथा पुलपुले शरीरवाले व्यक्ति) इस प्रकार के व्यक्तियों से कहीं ज्यादा अपराध करने की क्षमता रखते हैं। मेसोमार्फ या सोमेटोटानिक प्रकार के व्यक्ति कार्यशील तथा फुर्तीले होते हैं जबकि इन्डोमार्फ या विसरेटानिक प्रकार के व्यक्ति हंसमुख होते हैं जो शीघ्र उत्तेजित नहीं होते तथा ऐक्टोमारफिक व्यक्तियों से भिन्न होते हैं जो अन्तर्मुखी होते हैं और अपनी बात अपने में ही छिपाये रखते हैं।

ऐश्ले माल्टेगू ने क्रेशमर तथा शेल्डन के विचारों से असहमति प्रकट की और कहा कि मानव व्यवहार की शारीरिक संरचना सम्बन्धी व्याख्या करनेवाले विद्वान् इस बात को ध्यान में नहीं रखते हैं कि भोजन तथा पर्यावरण की दशाओं का शरीर की वृद्धि में बड़ा प्रभाव पड़ता है।[1]

1920 के आसपास अपराधी तथा बाल अपराधी व्यवहार के लिए शरीर की अंतःस्रावी ग्रन्थियों (इन्डोक्राइन ग्लैन्ड्स) में होने वाली गड़बड़ी को दोषी ठहराया गया।[2] 1924 में श्लैप तथा स्मिथ द्वारा किए गये एक अन्य अध्ययन में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि हत्या तथा चोरी करने वाले अपराधी जिस संवेगात्मक अस्थिरता से पीड़ित होते हैं उसका जन्म अंत:-स्रावी ग्रंथियों की गड़बड़ी से होता है।[3] इन विद्वानों के विचारों से मतभेद व्यक्त करने वाले विद्वानों ने कहा कि इन्डोक्रिनालोजी को अपराधी व्यवहार की व्याख्या का सिद्धान्त मानने वाले व्यक्तियों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि संकट की स्थिति में व्यक्ति के शरीर में अनेक प्रकार की हलचलें (जैसे पसीना छूटना, चेहरे का रंग बदल जाना, कांपना, पेट में दर्द होना आदि) स्वाभाविक क्रम से उत्पन्न हो जाती हैं जो स्वयं में अपराध के कारण नहीं हैं वरन् उस संकट की दशा का परिणाम हैं।

अपराधी तथा बाल अपराधी व्यवहार के स्रोत को आनुवंशिक बताने

---

1. ऐश्ले माल्टेगू, "दि बायलोजिस्ट लुक्स ऐट क्राइम", दि ऐनल्स, नं० 217 (1941), पृ० 46–58।
2. ऐलेन डब्ल्यू० रो ऐन्ड मिरियम ब्रेन वाटर्स, "फिजिकल ऐसोसियेशन्स ऐन्ड बिहेवियर प्राब्लेम्स", इन्डोक्रिनालोजी वाल्यूम 19(1925), पृ० 129-143।
3. एम० जी० श्लैप ऐन्ड ई० एच० स्मिथ, दि न्यू क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1928)।

वाले विद्वानों में गोडार्ड[1], डगडेल[2] तथा डेवेनपोर्ट[3] के नाम प्रमुख रूप से लिये जाते हैं। गोडार्ड ने कैलीकाक परिवार तथा डगडेल ने ज्यूक्स पर जो अध्ययन किए उनमें यह पाया कि इन परिवारों में पाये जाने वाले अपराधियों ने अपनी अपराधिता अपनी पैतृकता एवं आनुवंशिकता की एक देन के रूप में धारण की थी। सदरलैंड तथा बीसवीं शताब्दी के अन्य प्रख्यात अपराधशास्त्रियों ने अपराधी व्यवहार की आनुवंशिक व्याख्या को अवैज्ञानिक तथा असत्य सिद्ध किया और यह कहा कि व्यक्ति अपने रंग, रूप तथा शरीर के अंगों की बनावट को तो अपने माता पिता से बहुत सीमा तक प्राप्त करता है परन्तु व्यवहार के प्रतिमानों को वह पैदा होने के बाद सीखता है; उन्हें वह वंशानुक्रमण के आधार पर नहीं ग्रहण करता।

(2) मनोवैज्ञानिक तथा मनोचिकित्सकीय कारण

सदियों से जिन मनोवैज्ञानिक विषमताओं को अपराध तथा बाल अपराध का कारण माना जा रहा है उनमें अल्प-बुद्धिता प्रमुख है। अपराध शास्त्र के नवशास्त्रीय सम्प्रदाय में बेकारिया ने जिस मुक्त इच्छा का वर्णन किया था उसे मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार करके जो अध्ययन अपराधी व्यक्तियों पर किए उनसे यह ज्ञात हुआ कि अधिकांश अपराधी (प्रमुख रूप से बाल अपराधी) अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति थे जिनमें अपने अपराधी कृत्यों के परिणामों को सोचने समझने की मानसिक क्षमता ही नहीं थी। 1914 में गोडार्ड ने अपराधियों पर किए गये एक अध्ययन से यह परिणाम निकाला कि अपराधी तथा बाल अपराधी व्यवहार निम्न स्तर की बुद्धिमत्ता का एक फल है और इस प्रकार के अधिकांश व्यक्ति मूढ़, कम बुद्धि वाले तथा बुद्धिहीन होते हैं।[4] डा० विलियम हीली तथा डा० चार्ल्स गोरिंग ने भी गोडार्ड के ही मत को स्वीकार किया और बुद्धि-विकृति को अपराध का एक प्रमुख कारण माना।

---

1. हेनरी एच० गोडार्ड, दि कैलीकाक फैमिली (न्यूयार्क : 1919)।
2. रिचर्ड एल० डगडेल, दि ज्यूक्स, ए स्टडी इन क्राइम, पापरिज्म डिजीज ऐन्ड हेरीडिटी (न्यूयार्क : 1877)।
3. चार्ल्स बी० डेवेनपोर्ट, हेरीडिटी इन रिलेशन टु यूजेनिक्स (न्यूयार्क : 1911)।
4. हेनरी एच० गोडार्ड, फीबिल माइन्डेडनेसः इट्स काजेज ऐन्ड कान्सीक्वेन्सेज (न्यूयार्क : 1914) पृ० 514।

सिरिल बर्ट[1], शेल्डन एवं इलीनर ग्लुक्स[2], मेबेल ए० इलिएट[3] आदि विद्वानों ने बाल अपराधियों के बुद्धि-लब्धिमान की तुलना उन बालकों से की जो अपराधी नहीं थे और यह सिद्ध किया कि हेनरी गोडार्ड जैसे मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों का यह कहना गलत है कि अल्प-बुद्धिता तथा नैतिक मूढ़ता अपराध के प्रमुख कारण हैं और अधिकांश बाल अपराधी निम्न बुद्धिस्तर के बालक होते हैं।

सिगमन्ड फ्रायड के विचारों से प्रभावित होकर अपराध तथा बाल अपराध के कारणों की खोज करनेवाले मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जिस प्रकार से सामान्य मानवीय व्यवहार मन की अचेतन शक्तियों से निर्देशित होता है उसी प्रकार से अपराधी व्यवहार भी उन मानवीय प्रेरणाओं, संवेगों तथा दृष्टिकोणों पर आधारित होता है जो उसके सम्पूर्ण व्यवहार की शैली को प्रभावित करते हैं। ऐचोर्न ने 1920 में वियना के आक्रमणशील बाल अपराधियों के एक अध्ययन में फ्रायड के व्यवहार-सिद्धान्त का प्रयोग किया और यह पाया कि अधिकांशतः बाल अपराधी नियन्त्रण या नियन्त्रण करनेवाले व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे।[4] केट फ्रायड-लैन्डर ने मनोविश्लेषण उपागम का प्रयोग बाल अपराधियों के व्यवहार के एक अध्ययन में किया और यह पाया कि आक्रमणकारी प्रवृत्तिवाले बाल तथा किशोर अपराधी परिवार के नियन्त्रण के प्रति विद्रोह की भावना रखने के कारण उन कार्यों (जैसे घर से भागना, आवारागर्दी करना, चोरी करना आदि) को अपने अहं की सन्तुष्टि के लिए करते थे।[5] इसलर ने बाल अपराध को एक असामान्य व्यवहार माना और यह कहा कि इस असामान्यता का कारण है मान्य सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था के प्रति विद्रोह करना तथा उनको न मानकर उनके विरुद्ध व्यवहार करना।[6] लीवी ने आक्रमणकारी बाल अपराधियों को तीन वर्गों में विभाजित किया। पहले वर्ग में उन्होंने उस प्रकार के बालकों को रखा जो अपने

---

1. सिरिल बर्ट, दि यंग डेलिन्क्वेन्ट (न्यूयार्क : 1925)।
2. शेल्डन ऐन्ड इलीनर ग्लुक्स, वन थाउजेन्ड डेलिन्क्वेन्ट्स (कैम्ब्रिज : 1934)।
3. मेबेल ए० इलिएट, प्राब्लेम्स आफ चाइल्ड डेलिन्क्वेन्सी (बोस्टन : 1947)।
4. आगस्त ऐचोर्न, वेवर्ड यूथ (न्यूयार्क : 1935)।
5. केट फ्रायडलैन्डर, दि साइकालोजिकल एप्रोच टु जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1947)।
6. कुर्ट आर० इसलर, सर्चलाइट्स आन डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1947)।

पर्यावरण में निहित असामाजिक शक्तियों से प्रेरित होकर ऐसा व्यवहार करते थे जिन्हें सभ्य समुदाय में बुरा समझा जाता है। दूसरे वर्ग में उन्होंने उन बालकों को रखा जो अपने माता-पिता तथा अभिभावकों से असन्तोषजनक सम्बन्ध रखते थे। तीसरे वर्ग में उन्होंने उन बालकों को रखा जो अपने व्यक्तित्व में अन्तर्निहित असामाजिक प्रेरणाओं से ग्रस्त होकर अपराधी व्यवहार करते थे।[1]

स्लासन[2] तथा कार[3] ने संवेगात्मक दशाओं तथा मानसिक संघर्षों को बाल अपराधी व्यवहार का कारण माना और कहा कि बाल अपराध बालक की उन मानसिक असन्तुलन तथा मानसिक संघर्ष की दशा का फल है जो उसकी इच्छाओं की पूर्ति में मनोवैज्ञानिक प्रकार के व्यवधान उपस्थित होने से उत्पन्न होती है। हैविट तथा जेन्किन्स ने बाल अपराधियों के व्यवहार में निम्नलिखित प्रकार की मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ पाईं—(1) आक्रामक प्रवृत्तियाँ, मनोदशा-प्रदर्शन, धमकाना, सताना, बदला लेने की प्रवृत्ति तथा अधिकार-सत्ता का विरोध; (2) गिरोह सम्बन्धी क्रियाएँ, मिल-जुलकर चोरी करना, डरा धमका कर चीज छीन लेना या उठा ले जाना, रात को देर तक घर से बाहर रहना, आवारागर्दी करना तथा (3) अति-संवेदनशीलता तथा भावुकता, एकान्तवास, गर्म मिजाज, ईर्ष्या आदि।[4] हीली तथा ब्रोनर के अनुसार बाल तथा किशोर अपराधी के लिए उसका अपराधिक कृत्य निम्नलिखित प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रयत्नों का फल होता है—(1) तनावपूर्ण तथा अरुचिकर दशा से दूर भागना, (2) उत्तेजनात्मक तथा रोमांचकारी अनुभव प्राप्त करना, (3) सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करना, (4) माता-पिता तथा समाज के विरुद्ध बदला लेने की भावना, (5) दूसरों पर अपने आपको निर्भर न रहनेवाला व्यक्ति प्रदर्शित करना तथा (6) अपने में निहित चेतन तथा अचेतन दोष-भावना को दूर करने के लिए दण्ड-प्राप्ति का मार्ग ढूँढ़ना।[5]

---

1. डेविड एम० लीवी, "आन दि प्राब्लेम आफ डेलिन्क्वेन्सी," इयर बुक आफ नैशनल प्रोबेशन ऐसोसिएशन (न्यूयार्क : 1932)।
2. जान वी० स्लासन, दि डेलिन्क्वेन्ट ब्यायेज (बोस्टन : 1926)।
3. लावेल जे० कार, डेलिन्क्वेन्सी कन्ट्रोल (न्यूयार्क : 1926)।
4. लैस्टर ई० हेविट ऐन्ड रिचर्ड एल० जेन्किन्स, फन्डामेन्टल पैटर्न्स आफ मैल अडजस्टमेंट (इलोन्वाय : 1947)।
5. विलियम हीली तथा आगस्टा एफ० ब्रोनर, दि डलिंक्वेन्ट्स डेलिन्क्वेन्ट (बोस्टन : 1915)।

(3) परिस्थिति सम्बन्धी कारण

पार्क, बर्जेस तथा मेकेन्जी के परिस्थितिशास्त्र सम्बन्धी वैज्ञानिक अध्ययनों[1] से प्रभावित होकर जो समाजशास्त्री अपराध तथा बाल अपराध का कारण भौगोलिक तथा परिस्थितीय दशाओं में ढूंढने का प्रयत्न करते आये हैं उनमें ब्रेकेनरिज तथा ऐबट के नाम सर्वप्रथम हैं। उन्होंने अमरीका के शिकागो नगर के बाल अपराधियों पर किये गये अपने अध्ययन में यह पाया कि अधिकांश बाल अपराधी उन मुहल्लों तथा समुदायों में रहते थे जिन्हें अपराधी समुदाय माना जा सकता था।[2]

सन् 1920 में अपराध को शिकागो नगर की घटनाओं के भौगोलिक क्षेत्र के सिद्धान्त पर क्लिफर्ड आर० शा ने एक अध्ययन किया और यह पाया कि बाल अपराध की घटनाएँ शहर के केन्द्रीय क्षेत्रों में अधिक संख्या में पाई जाती हैं क्योंकि वहाँ पर जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है और वहीं से नगर का व्यापारिक जीवन चलता है।[3] शा का निष्कर्ष था कि हर शहर के केन्द्रीय भाग से ज्यों ज्यों दूर चला जायेगा अपराध तथा बाल अपराध की घटनाएँ कम होती जायेंगी तथा इसके विपरीत शहर के सीमावर्ती क्षेत्र से केन्द्रीय क्षेत्र की ओर जब आया जायेगा तब अपराधी व्यवहार की घटनाएँ बढ़ती जायेंगी।[4] शा तथा मेके ने 20 नगरों तथा 10 हजार बाल अपराधियों पर किए गये एक अन्य अध्ययन के आधार पर यह मत व्यक्त किया कि अपराध तथा बाल अपराध की अधिकांश घटनाएँ प्रत्येक नगर की गन्दी बस्ती वाले उन क्षेत्रों में पाई जाती हैं जहाँ अशिक्षा, गरीबी, रहन सहन की खराब दशाएँ तथा

---

1. राबर्ट ई० पार्क, अरनेस्ट डब्ल्यू० बर्जेस ऐण्ड राडेरिक डी० मैकेन्जी, दि इकोलाजिकल ऐप्रोच टु दि स्टडी आफ दि ह्यूमन कम्युनिटी (शिकागो : 1925)।
2. सोफोनिस्बा पी० ब्रेकेनरिज ऐन्ड एडिथ ऐबट, दि डेलिन्क्वेन्ट चाइल्ड ऐन्ड होम (न्यूयार्क : 1912)।
3. क्लिफर्ड आर० शा, डेलिन्क्वेन्सी एरियाज (शिकागो : 1929)।
4. क्लिफर्ड आर० शा तथा हेनरी डि मेके, "सोशल फैक्टर्स इन जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी" इन रिपोर्ट आन दि काजेज आफ क्राइम, वाल्यूम 2, नम्बर 13, नेशनल कमीशन आन ला आबजरवेन्स ऐन्ड एनफोर्समेंट आफ जस्टिस (वाशिंगटन : 1931)।

असामाजिकता एवं अनैतिकता का बोझ बाका पाया जाता है।[1] बर्नार्ड लैन्डर ने बाल्टीमोर शहर की गन्दी बस्ती वाले क्षेत्रों के एक अध्ययन के माध्यम से दुरखीम के प्रमापविहीनता के प्रत्यय में वर्णित सभी विशेषताओं को इन क्षेत्रों में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया और यह पाया कि इन क्षेत्रों में व्याप्त सामाजिक विघटन तथा अव्यवस्था की दशाएँ अपराध का प्रमुख स्रोत बन जाती हैं।[2] ह्वाइट ने अपने इसी प्रकार के एक अध्ययन में लैन्डर के विचारों को गलत बताया और यह कहा कि यह मान कर चलना कि गन्दी बस्तियों में संगठन की शक्तियों का अभाव होता है, सही नहीं है क्योंकि इन गन्दी बस्तियों में निवास करने वाले लोग सहमति तथा आपसी सम्बन्धों में निहित एकता की भावना के वशीभूत होकर ऐसे कार्य नहीं करते जो वहाँ के संगठन के मूल्यों के विपरीत हों।[3]

(4) सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण सम्बन्धी कारण

समाजशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों ने बाल अपराध के कारणों की व्याख्या सामाजिक तथा आर्थिक कारकों के आधार पर की और उन असंतोषजनक सामाजिक एवं सामुदायिक शक्तियों को अपराध तथा बाल अपराध जैसी सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति के लिए दोषी ठहराया जो उसी समाज तथा समुदाय की सामाजिक तथा आर्थिक दशा में निहित हैं। कार ने इन दशाओं को व्यवहार पर दबाव डालने वाली उन स्थितियों के रूप में स्वीकार किया जिनसे व्यक्ति की संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है और जिस बाधा के फलस्वरूप व्यक्ति के समायोजन का प्रतिमान असामाजिकता की ओर मुड़ जाता है।[4] सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण सम्बन्धी जिन प्रमुख कारकों का वर्णन बाल अपराध की समस्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किया जाता है उनकी व्याख्या निम्नांकित प्रकार से की जाती है :—

(क) पारिवारिक दशाएँ

शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक्स ने बाल अपराधी व्यवहार के निर्माण में

---

1. क्लिफर्ड आर० शा ऐन्ड हेनरी डि मेके, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड अरबन एरियाज (शिकागो : 1942)।
2. बर्नार्ड लैन्डर, टुवर्ड्स ऐन अन्डरस्टैन्डिंग आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1954)।
3. विलियम फुट ह्वाइट, स्ट्रीट कार्नर सोसाइटी : दि सोशल स्ट्रक्चर आफ ऐन इटैलियन स्लम (शिकागो : 1955)।
4. लावेल जे० कार, डेलिन्क्वेन्सी कन्ट्रोल (न्यूयार्क : 1940)।

परिवार के योगदान को स्पष्ट करते हुए लिखा कि घर की दशा तथा बाल अपराध में सीधा सम्बन्ध है। उनके मतानुसार उन घरों में बाल अपराध की घटनाएँ अधिक पायी जाती हैं जिनमें पिता का नियन्त्रण माता की देख-रेख तथा माता-पिता दोनों का बालक के प्रति लाड़ प्यार अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त होता है। बालकों के अच्छे व्यक्तित्व के विकास के लिए ऐसे घरों की आवश्यकता है जहाँ संरचनात्मक सम्पूर्णता, एकमतता, आर्थिक सुरक्षा, नैतिक कर्तव्यपालन, भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक सामान्यता एवं कार्यपरता प्राप्त हो। इसी प्रकार के घरों में बालक की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो सकेंगी।

एक अच्छे परिवार की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए मिरियम वैन वाटर्स ने बताया कि एक अच्छे परिवार का कर्तव्य है कि वह बालक के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ उपलब्ध करे : (अ) आरामपूर्वक रहने, खाने की सुविधाएँ जिनके अभाव के कारण बालकों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त होकर उन सामाजिक आदर्शों को अपनाने में असमर्थ हो जाते हैं जिनपर आदर्श नागरिकता की नींव बाल्य-काल से ही पड़ती है, (ब) उन मानवीय दशाओं को ठीक से नियन्त्रित करना जिनसे बालक डर, क्रोध, निराशा, तिरस्कार तथा अवांछनीयता की भावनाओं का शिकार हो जाता है, (स) उस जीवन-शैली को अपनाने के लिए सामाजिक विधियाँ ढूंढ़ना जिनसे मिल-जुलकर रहने तथा प्रेम, निष्ठा एवं एक दूसरे के प्रति आदर की भावना का विकास हो सके, (द) उस प्रकार के पारिवारिक वातावरण को उपलब्ध कराना जिनमें बालक स्वावलम्बी तथा आत्म-संयमी बन सकें। वैन वाटर्स ने बाल अपराध के सम्बन्ध में यह भी कहा कि जिन घरों में इस प्रकार का वातावरण उपलब्ध नहीं है उन्हें विघटित परिवार की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। इन घरों को भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक रूप से भग्न गृह भी माना जाता है। भौतिक रूप से भग्न गृह का अर्थ है उस परिवार से जिसमें माता-पिता दोनों या दोनों में से एक की मृत्यु हो चुकी है। मनोवैज्ञानिक रूप से भग्न गृहों का तात्पर्य है उन घरों से जहाँ माता तथा पिता दोनों जीवित हैं परन्तु उनका नियंत्रण तथा निदेशन इतना अनुपयुक्त है या सम्पूर्ण परिवार का सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण ऐसा है जिनमें बालक में अच्छे गुणों का विकास हो ही नहीं सकता।[1]

1. मिरियम वैन वाटर्स, यूथ इन कानफ्लिक्ट (न्यूयार्क : 1955), पृ० 64।

(ख) भग्न गृह

भग्न गृह तथा बाल अपराध में सम्बन्ध प्रदर्शित करनेवाले शोध अध्ययन इस बात पर बल देते हैं कि अधिकांशतः बाल अपराधी उन घरों से सम्बद्ध होते हैं जिनमें परिवार के वयस्क सदस्य (मुख्य रूप से माता तथा पिता दोनों में एक या दोनों) की या तो मृत्यु हो चुकी होती है या उनके बीच तलाक तथा परित्याग की घटना घटित हो चुकी है। ब्रेकेनरिज तथा ऐबट ने 13,000 बाल अपराधियों पर किए गये एक अध्ययन में यह पाया कि 34 प्रतिशत बाल अपराधी भग्न गृहों से आये थे।[1] हीली तथा ब्रोनर ने 4,000 बाल अपराधियों के अपने एक अध्ययन यह पाया कि करीब-करीब 50 प्रतिशत बाल अपराधी भग्न गृहों से सम्बद्ध थे।[2] सुलेन्जर ने 1,135 बाल अपराधियों के एक अध्ययन में यह पाया कि 51 प्रतिशत बालक भग्न गृहों से आये थे।[3] मोनाहन ने 9,000 बाल अपराधियों की पारिवारिक पृष्ठभूमि पर किए गये एक अध्ययन में यह बात सिद्ध की कि भग्न परिवारों से सम्बद्ध बालकों में बाल अपराधी प्रवृत्तियों के पनपने की अधिक सम्भावना बनी रहती है।[4] 341 अपराधी लड़कियों के ऊपर आधारित एक अध्ययन में जूलिया मैथ्यूज ने यह पाया कि आधे से भी ज्यादा लड़कियाँ भग्न गृहों में पली थीं।[5] अमरीका में तथा अन्य पाश्चात्य देशों के नगरों में किए गये अनेक अध्ययनों से भी यही बात ज्ञात हुई कि बाल अपराधियों का बहुत बड़ा भाग भग्न गृहों से आया था।[6] शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक ने 1,000 बाल अप-

---

1. सोफोनिस्बा ब्रेकेनरिज तथा एडिथ ऐबट, दि डेलिन्क्वेन्ट चाइल्ड ऐन्ड दि होम (न्यूयार्क : 1912), पृ० 91–92।
2. विलियम हीली ऐन्ड आगस्ता एफ० ब्रोनर, डेलिन्क्वेन्ट्स ऐन्ड क्रिमिनल : देयर मेकिंग ऐन्ड अनमेकिंग (न्यूयार्क : 1929), पृ० 121–125।
3. टी० ई० सुलेन्जर, सोशल डिटरमिनेन्ट्स आफ जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (नेब्रास्का : 1930)।
4. थामस पी० मोनहन, "डेलिन्क्वेन्ट चाइल्ड ऐन्ड होम", पेपर प्रेजेन्टेड ऐट दि मीटिंग आफ दि ईस्टर्न सोशियोलाजिकल सोसाइटी, न्यूयार्क, मार्च 25, 1956।
5. जूलिया मैथ्यूज, "ए सर्वे आफ 341 डेलिन्क्वेन्ट गर्ल्स इन कैलिफोर्निया", जरनल आफ डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 8, 1923, पृ० 169–231।
6. रिपोर्ट आफ दि गवर्नर्स कमेटी आन यूथ, दि वेलफेयर रिपोर्टर, सितम्बर, 1950, पृ० 8।

राधियों पर किए गये एक अध्ययन में यह पाया कि बाल अपराधी बनाने में उन परिवारों का योगदान अधिक है जिनमें बालकों पर पर्याप्त निरीक्षण का अभाव होता है और जिन्हें भग्न गृह कहा जा सकता है।[1] व्हाइट हाउस कान्फरेन्स की एक रिपोर्ट में यह कहा गया कि 20 से लेकर 50 प्रतिशत बाल अपराधी भग्न गृहों में पले थे।[2]

आधुनिक युग के अपराधशास्त्री बाल अपराधियों पर किये गये पुराने अध्ययनों द्वारा सिद्ध किये गये उस मत का खण्डन करने लगे हैं जिसमें कहा गया था कि बाल अपराधी बनाने में भग्न परिवारों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनके विचार में इस प्रकार के अध्ययन उन बाल अपराधियों पर निर्भर थे जो गरीब घरों से आये हुए थे। समृद्ध घरों से सम्बद्ध बाल अपराधियों के आँकड़े उनके पास उपलब्ध नहीं थे। वास्तविकता यह है कि बाल अपराधी व्यवहार के निर्माण में भग्न गृहों का उतना ही योगदान है जितना कि उन घरों का जिन्हें हम भग्न गृह नहीं मानते हैं।[3] इस आलोचना के बाद भी वर्तमान अपराधशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि बाल अपराध की समस्या की उत्पत्ति में उन परिवारों का विशेष योगदान है जिनमें निम्नलिखित विशेषताएँ पायी जाती हैं[4] :—

(अ) अपराधिक व्यवहार प्रतिमान वाले परिवार।

(ब) असन्तोषजनक वैयक्तिक सम्बन्ध रखनेवाले घर के आपसी सम्बन्ध कठोर अनुशासन, भेदभाव, उपेक्षा, अनादर, तिरस्कार, ईर्ष्या तथा द्वेष के कारण बिगड़ जाते हैं।

(स) वे परिवार जिनमें माता-पिता शारीरिक तथा मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं।

---

1. दि डेलिन्क्वेन्ट चाइल्ड, रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन सोशली हैन्डीकैप्ड चिल्ड्रेन (न्यूयार्क : 1932), पृ० 351।
2. दि डेलिन्क्वेन्ट चाइल्ड, रिपोर्ट आफ दि कमेटी आन दि सोशली हैंडीकेप्ड चिल्ड्रेन (न्यूयार्क : 1932), पृ० 351।
3. रिचर्ड एस० स्टर्न, डेलिन्क्वेन्ट कन्डक्ट ऐन्ड ब्रोकेन होम : ए स्टडी आफ 1,050 ब्वायेज (कनेक्टीकट : 1964), पृ० 61।
4. चार्ल्स डब्ल्यू० कूल्टर, "फैमिली डिसआर्गनाइजेशन ऐज ए काजल फैक्टर इन डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 12, नम्बर 3, सितम्बर 1948, पृ० 13-17।

(द) वे परिवार जिनमें सामाजिक तथा नैतिक असामंजस्य की समस्याएँ पाई जाती हैं।

(य) इस प्रकार के परिवार जिनकी दशा आर्थिक दबावों (बेकारी, गरीबी कम आमदनी) के कारण बिगड़ी हुई है।

(ग) नौकरी करनेवाली माताएँ

शेल्डन तथा इलीनर ग्लुक ने अपराधी तथा गैर-अपराधी बालकों के एक तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि उन परिवारों में बाल अपराधी अधिक संख्या में पाये जायेंगे जिनमें माता नौकरी करने के लिए दिन के अधिकांश भाग तक घर से बाहर चली जाती है और बच्चों की देखरेख करनेवाला कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं रह जाता है।[1] मेकोबी ने अपने एक अध्ययन द्वारा शेल्डन तथा ग्लुक के मत को विशेष महत्व नहीं दिया। उनका कहना था कि घर में माता की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति से बाल अपराध का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उन माताओं (जो घर में रहकर भी बालक की उचित देखरेख नहीं कर पाती) की अपेक्षा वे माताएँ अच्छी हैं जो नौकरी करने के बावजूद अपने बच्चों की देखरेख का उत्तम प्रबन्ध बनाये रहती हैं।[2]

(घ) दरिद्रता

दरिद्रता बाल अपराध का बड़ा ही लोकप्रिय कारण रही है।[3] सिरिल बर्ट ने बाल अपराध एवं दरिद्रता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा कि उनके लन्दन में किये गये एक अध्ययन में सम्मिलित बाल अपराधियों का आधा भाग उन बालकों से निर्मित था जो गरीब घरों से आये थे। परन्तु उन्होंने साथ में यह भी कहा कि दरिद्रता अपराध तथा बाल अपराध का एक अकेला कारण नहीं है और गरीब होने मात्र से ही व्यक्ति अपराधी नहीं बनता है। अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि यद्यपि अधिकांश गरीब घरों के जरूरतमन्द बालक अपराधी बन जाते हैं परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला

1. शेल्डन ऐण्ड इलीनर ग्लुक, "वर्किंग मदर्स ऐण्ड डेलिन्क्वेन्सी," मेन्टल हाईजीन, वाल्यूम 41, नम्बर 3, जुलाई 1970, पृ० 327-352।
2. इलीनर ई० मेकोबी, "चिल्ड्रेन ऐण्ड वर्किंग मदर्स," दि चाइल्ड, वाल्यूम 5, नम्बर 3, मई-जून 1958, पृ० 83-89।
3. अरनेस्ट डब्ल्यू० बर्जेस, "दि इकोनामिक फैक्टर इन जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी," जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 43, नम्बर 1 (मई-जून : 1952), पृ० 29-42।

जा सकता है कि जरूरतमन्द होना बाल अपराध का कारण है।[1] गरीब घरों के ऐसे बहुत से जरूरतमन्द बालक हैं जो अपराधी नहीं बनते हैं। हीली ने अमरीका के बाल अपराधियों के एक अध्ययन में पाया कि 5 प्रतिशत बाल अपराधी बड़े ही गरीब घरों से आये थे और दरिद्रता उनके बाल अपराधी होने का प्रमुख कारण थी। 7.1 प्रतिशत बाल अपराधी वे थे जिनके अपराधी बनने में दरिद्रता एक गौण स्थान रखती थी।[2] हीली ने अपनी पत्नी आगस्ता ब्रोनर के साथ किये गये एक दूसरे अध्ययन में यह सिद्ध किया कि गरीबी से कहीं अधिक प्रभाव उन पास-पड़ोस, रहन-सहन तथा मेल-जोल की दशाओं का पड़ता है जिनमें उस प्रकार के परिवार निवास करते हैं जिन्हें गरीब समझा जाता है। उनके मत में गरीब घरों के बालक गरीबी के कारण नहीं वरन् इस प्रकार के घरों की जीवन-शैली के कारण अपराधी बनते हैं।[3]

आधुनिक अपराधशास्त्री उन सभी निष्कर्षों का विरोध करते हैं जिनमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि बाल अपराधी अधिकांशतः वे बालक हैं जो गरीबी की दशाओं में पलते तथा बड़े होते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि बाल अपराध की समस्या निम्न आर्थिक-सामाजिक वर्ग के बालकों की समस्या न होकर उन बालकों की भी समस्या है जो उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के परिवारों से सम्बद्ध हैं। समृद्ध घरों के बालकों में भी अपराधी व्यवहार की प्रवृत्तियाँ उतनी ही सरलता से जन्म लेती हैं जितनी गरीब घरों के बालकों में। अन्तर केवल इतना है कि समृद्ध घरों के बालकों के अपराधी व्यवहार की घटनाएँ पहले तो पुलिस की नजर में ही नहीं आतीं और यदि आती भी हैं तो साधारणतः इन्हें पुलिस की कार्यवाही होने से पहले ही रफा-दफा कर दिया जाता है। इस प्रकार समृद्ध घरों के बाल अपराधी गुप्त रहते हैं।

(ङ) गिरोह

फ्रेडरिक एम० थ्रेशर[4] तथा अलबर्ट के० कोहेन[5] आदि विद्वानों ने बाल

---

1. सिरिल बर्ट, दि यंग डेलिन्क्वेन्ट (लन्दन : 1932), पृ० 68-69।
2. विलियम हीली, दि इनडिवीजुवल डेलिन्क्वेन्ट (बोस्टन : 1915), पृ० 134।
3. विलियम हीली ऐन्ड आगस्ता ब्रोनर, न्यू लाइट्स आन डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड इट्स ट्रीटमेन्ट (येल : 1936), पृ० 301।
4. फ्रेडरिक एम० थ्रेशर, दि गैंग (शिकागो : 1927)।
5. अलबर्ट के कोहेन, डेलिन्क्वेन्ट ब्वायेज : दि कल्चर आफ दि गैंग (इलीनाय : 1955)।

अपराधी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देनेवाली सामाजिक अवस्थाओं में गिरोहों की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। बड़े शहरों में पाये जानेवाले बालकों के गिरोह तोड़-फोड़, मार-पीट, चोरी तथा लोगों को छेड़ने एवं सताने के कार्य करते पाये जाते हैं। इन गिरोहों का सदस्य बनकर बालक उन सभी असामाजिक व्यवहार-प्रतिमानों को अपनी जीवन-शैली का अभिन्न अंग बना लेता है जो उस गिरोह के अन्य सदस्यों द्वारा अनुमोदित हैं। इन गिरोहों में रहनेवाले बालक अपराधी व्यवहार एक दूसरे से सीखते हैं और अकेले या गिरोह के अन्य सदस्यों के साथ अपराधी कार्य करने में लगे रहते हैं। इन गिरोहों की सदस्यता वे बालक स्वीकार करते हैं जो निम्न आर्थिक-सामाजिक स्तर के परिवारों से सम्बद्ध होते हैं और जिनकी शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति परिवारों में सम्भव नहीं हो पाती। इस प्रकार के अधिकांश बालक माता-पिता तथा अभिभावकों के नियन्त्रण से परे होते हैं। इस प्रकार के अपराधी बालकों के गिरोहों की संख्या बड़े नगरों में बढ़ती जा रही है और पुलिस तथा उन अधिकारियों के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है जो समाज में कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व सँभाले हुए हैं।

शिक्षा तथा मनोरंजन सम्बन्धी कारण

बाल अपराध की समस्या के विकास में शिक्षण संस्थाओं तथा जनसंचार के मनोरंजन सम्बन्धी माध्यमों का वर्णन विशेष रूप से किया जाता है, क्योंकि स्कूल तथा मनोरंजन के सामुदायिक साधनों का चरित्र के निर्माण में बड़ा महत्व-पूर्ण योगदान है।

स्कूल

बालकों में सुचरित्रता उत्पन्न करने तथा दुश्चरित्रता को घटाने में स्कूल जैसी संस्था का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। स्कूल के ही माध्यम से बालक नागरिकता के प्रमुख आचारों तथा विचारों से अवगत होता है।[1] बाल अपराध और स्कूल के मध्य सम्बन्ध खोजने वाले अध्ययनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बहुत से बाल अपराधी ऐसे होते हैं जो स्कूल के परिवेश में अपना सामंजस्य स्थापित न कर पाने की स्थिति में स्कूल छोड़कर इधर-उधर बाहर घूमने लगते हैं और बुरी आदतों तथा बुरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आ जाते हैं। जिन आचारों

---

1. ऐनी बेसेन्ट, दि स्कूल ब्वायेज ऐज ए सिटीजन, (मद्रास : 1942), पृ० 3।

पर स्कूलों को बाल अपराध की समस्या के सम्बन्ध में दोषी ठहराया जाता है वे निम्नलिखित हैं[1] :—

(1) स्कूलों का अनुशासन ढीला है।
(2) स्कूलों में बालकों को ठीक से शिक्षा नहीं दी जाती है।
(3) बालकों की स्कूल की कक्षाओं को छोड़कर भाग जाने की समस्या बाल अपराधी बनने की पहली दशा है।

बाल अपराध को उत्पन्न करने में जिस प्रकार के स्कूलों का वर्णन किया जाता है वे स्कूल घनी आबादी वाले बाजारू क्षेत्रों में स्थापित होते हैं, उनमें उचित प्रकार की भवन-व्यवस्था, शिक्षा तथा खेल कूद की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं रहतीं तथा उनमें अधिकांश शिक्षक कम योग्यता तथा कम वेतन पाने वाले अप्रशिक्षत व्यक्ति होते हैं जो शिक्षा कार्य में रुचि न लेने के साथ ही साथ बालकों की व्यावहारिक समस्याओं को देखने, समझ सकने तथा उन्हें दूर करने में असमर्थ होते हैं। इस प्रकार के स्कूलों का सम्पूर्ण वातावरण बालकों में उन प्रवृत्तियों का विकास नहीं कर सकता जो उन्हें अच्छे एवं चरित्रवान् नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध हों।

स्कूल तथा बाल अपराधी समस्या पर विचार करने वाले समस्त साहित्य के मूल्यांकन के बाद वर्तमान अपराधशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स्कूलों का ढीला अनुशासन (जिसमें बच्चों को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता है) तथा उनकी शिक्षण व्यवस्था में जो दोष विद्यमान हैं वे विचारणीय हैं परन्तु यह कहना कि स्कूलों का बाल अपराध की समस्या में अकेला योगदान है, सही नहीं है।

(ख) जनसंचार के मनोरंजन सम्बन्धी साधन

कुछ समय से थोड़े से समाजशास्त्री यह जानने को उत्सुक हैं कि जनसंचार के साधनों, अखबार, फिल्म, टेलीविजन आदि का बालकों के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है। पाल डोलैन्ड के विचार में अखबारों में छपने वाली अपराध सम्बन्धी सनसनीखेज खबरें बाल अपराध को बढ़ावा देती हैं क्योंकि इस प्रकार की खबरें उन बालकों तथा वयस्कों के मन को छू जाती हैं जिनमें सोचने

---

1. सोफिया एम० राबिन्सन, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी : इट्स नेचर ऐन्ड कन्ट्रोल (न्यूयार्क : 1960), पृ० 146।

विचारने की क्षमता का अभाव होता है।[1] मार्शल बी० क्लिनार्ड ने बाल अपराध के द्वितीयक सामुदायिक प्रभावों की व्याख्या करते हुए अखबारों, चलचित्रों, रेडियो, टेलीविजन तथा अश्लील साहित्य की भूमिका पर प्रकाश डाला।[2]

ब्लूमर तथा हासर ने बड़ी ही सावधानी से किए गये एक वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से यह सिद्ध किया कि अखबारों, चल-चित्रों तथा टेलिविजन का बाल अपराध की समस्या से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने अन्तिम निष्कर्ष में यह भी कहा कि हमारे पास कोई ऐसा वैज्ञानिक साक्ष्य आज तक उपलब्ध नहीं है जिससे यह तय हो पाये कि विद्वानों द्वारा गिनाये गये मनोरंजन सम्बन्धी द्वितीयक सामुदायिक प्रभावों का बालकों के अपराधी व्यवहार को बढ़ाने में कोई विशेष योगदान है।[3] इस सम्बन्ध में राबिन्सन का निर्णय था कि विद्वानों में उस प्रश्न पर एकमतता नहीं है जिसमें कहा जाता है कि जनसंचार के साधनों का बाल अपराध से सीधा सम्बन्ध है।[4]

बाल अपराध की समस्या का नियंत्रण

बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण सम्बन्धी समस्त विश्वव्यापी कार्यक्रमों की सफलता के मूल्यांकन से सम्बन्धित शोध अध्ययनों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया है कि समस्या के निवारण का कोई सीधा-साधा सरल रास्ता अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। समस्या के नियन्त्रण के लिए जो प्रभावोत्पादक योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं उनको चलाने के लिए बड़े आर्थिक साधनों, समय, लगन तथा परिश्रम को आवश्यकता पड़ेगी। सही बात तो यह है कि आज तक हमारे पास पर्याप्त आर्थिक साधनों का ही अभाव है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर विलियम सी० कवेरेसियस ने लिखा कि बाल अपराध नियंत्रण के कार्यक्रमों के बारे में हमारा उस समय तक कुछ सोचना ही व्यर्थ है जब तक

---

1. पाल डीलैंड, "क्राइम न्यूज इनकरेजेज डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 11, नम्बर 2, अप्रैल-जून 1947 पृ० 3–5।
2. मार्शल बी० क्लिनार्ड, "सेकेन्ड्री कम्युनिटी इनफ्लुयेन्सेज ऐन्ड जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी" दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन एकेडेमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्सेज, वाल्यूम 261, जनवरी 1949, पृ० 4।
3. हरबर्ट ब्लूमर ऐन्ड फिलिप एम० हासर, मूवी, डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1933), पृ० 35–37।
4. सोफिया एम० राबिन्सन, पूर्वोल्लिखित, पृ० 160।

हमें यह आभास न हो जाये कि हमें पर्याप्त आर्थिक साधन उपलब्ध होंगे, उचित संख्या में प्रशिक्षित कार्यकर्ता मिल जायेंगे, जनता का अधिकतम सहयोग प्राप्त होगा तथा अपने कार्यक्रम को चलाने के लिए हमें वे सभी सुविधाएँ सरकार, समाज तथा समुदाय से प्राप्त हो सकेंगी जिनकी आवश्यकता हमें समय समय पर पड़ती रहेगी।[1]

तपन ने इसी बात को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा कि बाल अपराध की समस्या के निरोध के हेतु किये गये आज तक के समस्त प्रयत्नों से यह कहीं नहीं प्रतीत होता कि समस्या-निरोध के कार्यक्रम और विधियाँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति सफलतापूर्वक कर पाई हैं। बाल अपराध के आँकड़े इस बात को स्पष्ट करते हैं कि समस्या घटने के स्थान पर बढ़ती जा रही है और हमारे प्रयत्न असफल हो रहे हैं। इस वस्तुस्थिति को देखते हुए समस्या के निदान एवं निराकरण का प्रश्न हमारे लिए चिंता का विषय बना हुआ है। अपराधशास्त्री जब अपनी इस असफलता पर विचार करते हैं तो उनकी पहली शिकायत यह होती है कि जो भी कार्यक्रम बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण के हेतु चलाये गये हैं उनमें साधनों का अभाव है, उनके चलाने के लिए योग्य व्यक्ति नहीं उपलब्ध हैं तथा उनमें न तो जनता का विश्वास है और न सहयोग ही।[2]

उपर्युक्त वर्णित वस्तुस्थिति के बावजूद भी समस्या के निवारण तथा नियंत्रण के लिए लगातार सुझाव दिये जा रहे हैं। इन सुझावों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

राबिन्सन के अनुसार बाल अपराध की समस्या के नियन्त्रण के दो पक्ष हो सकते हैं—(1) बाल अपराधियों का सुधार जिससे वे अपने आगे के जीवन में अपराधी प्रवृत्तियों को त्याग सकें और वयस्क अपराधी न बनें तथा (2) उन बालकों का उचित निर्देशात्मक नियन्त्रण जिनमें व्यावहारिक असामंजस्य की समस्याएँ तथा चारित्रिक दोषों का जन्म हो रहा है और जो पूर्व-बालअपराध की अवस्था से होकर गुजर रहे हैं। राबिन्सन ने इन्हीं दोनों पक्षों को संक्षेप में वर्णित करते हुए कहा कि बाल अपराध के निरोध के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं—(1) अपराधी कृत्यों को घटित होने से रोकना, तथा (2) अपराधी

1. विलियम सी० कवेरेसियस, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी : ए प्राब्लेम फार दि माडर्न वर्ल्ड, यूनेस्को प्रकाशन (पेरिस : 1964), पृ० 65।
2. पाल डब्ल्यू० तपन, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1949)।

बालकों के असामाजिक व्यवहार-प्रतिमानों को सुधारना। उनके अनुसार पहली व्यवस्था नियन्त्रण की है और दूसरी सुधार की।[1]

राबिन्सन ने बाल अपराध निरोध के चार प्रमुख उपागमों का वर्णन किया।[2] पहला उपागम उन व्यक्तियों के विचारों का फल है जिनका विश्वास है कि बालक तथा उसके माता-पिता अपने भाग्य के स्वामी हैं (अर्थात् अपने भाग्य को बनाने तथा बिगाड़ने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उन्हीं पर है) अतः उनको अपराधी कार्यों के लिए दण्ड मिलना आवश्यक है। इस प्रकार की विचारधारा से उत्पन्न बाल अपराध की समस्या के निदान एवं निराकरण का उपागम सामाजिक नियंत्रण तथा लोक-विधि के पालन की कठोरतम विधियों की सिफारिश करता है। दूसरा उपागम पहले उपागम के विपरीत बाल अपराध को समुदाय की कमियों की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया मानता है और ऐसे प्रयत्नों को लागू करने की सिफारिश करता है जो समुदाय के उत्तम संगठन से सम्बद्ध हैं, अर्थात् सामुदायिक संगठन के माध्यम से समुदाय के निवासियों को ऐसी सेवाएँ उपलब्ध कराना जिससे अपराध की घटनाएँ कम हो जायें। तीसरा उपागम बाल अपराध को मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों, विषमताओं तथा संघर्षों का फल मानकर मनोचिकित्सकीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रकार की नैदानिक सेवाओं के आयोजन की सिफारिश करता है। चौथा उपागम बाल अपराध की समस्या को सामाजिक एवं सामुदायिक संरचना में निहित असामाजिक व्यवहार की शक्तियों का फल मानता है और ऐसी व्यवस्था को जन्म देने की सिफारिश करता है जिससे असामाजिक व्यवहार की प्रवृत्तियाँ बड़ी सीमा तक समाप्त हो जायें।

बाल अपराध की समस्या के निवारण अथवा नियन्त्रण के हेतु जो प्रमुख सुझाव विद्वानों द्वारा दिये गये हैं उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

(1) दमन तथा कठोर नियन्त्रण के कार्यक्रमों का आयोजन

जो लोग समाचारपत्रों में बाल अपराध सम्बन्धी सनसनीखेज खबरें पढ़कर इस समस्या के निरोध के साधनों को खोजने का प्रयत्न करते हैं उनके मन

---

1. सोफिया एम० राबिन्सन, जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी : इट्स नेचर ऐण्ड कन्ट्रोल (न्यूयार्क : 1960), पृ० 456।
2. वही, पृ० 465।

हमें यह आभास न हो जाये कि हमें पर्याप्त आर्थिक साधन उपलब्ध होंगे, उचित संख्या में प्रशिक्षित कार्यकर्ता मिल जायेंगे, जनता का अधिकतम सहयोग प्राप्त होगा तथा अपने कार्यक्रम को चलाने के लिए हमें वे सभी सुविधाएँ सरकार, समाज तथा समुदाय से प्राप्त हो सकेंगी जिनकी आवश्यकता हमें समय समय पर पड़ती रहेगी।[1]

तपन ने इसी बात को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा कि बाल अपराध की समस्या के निरोध के हेतु किये गये आज तक के समस्त प्रयत्नों से यह कहीं नहीं प्रतीत होता कि समस्या-निरोध के कार्यक्रम और विधियाँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति सफलतापूर्वक कर पाई हैं। बाल अपराध के आँकड़े इस बात को स्पष्ट करते हैं कि समस्या घटने के स्थान पर बढ़ती जा रही है और हमारे प्रयत्न असफल हो रहे हैं। इस वस्तुस्थिति को देखते हुए समस्या के निदान एवं निराकरण का प्रश्न हमारे लिए चिंता का विषय बना हुआ है। अपराधशास्त्री जब अपनी इस असफलता पर विचार करते हैं तो उनकी पहली शिकायत यह होती है कि जो भी कार्यक्रम बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण के हेतु चलाये गये हैं उनमें साधनों का अभाव है, उनके चलाने के लिए योग्य व्यक्ति नहीं उपलब्ध हैं तथा उनमें न तो जनता का विश्वास है और न सहयोग ही।[2]

उपर्युक्त वर्णित वस्तुस्थिति के बावजूद भी समस्या के निवारण तथा नियंत्रण के लिए लगातार सुझाव दिये जा रहे हैं। इन सुझावों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :

राबिन्सन के अनुसार बाल अपराध की समस्या के नियन्त्रण के दो पक्ष हो सकते हैं—(1) बाल अपराधियों का सुधार जिससे वे अपने आगे के जीवन में अपराधी प्रवृत्तियों को त्याग सकें और वयस्क अपराधी न बनें तथा (2) उन बालकों का उचित निर्देशात्मक नियन्त्रण जिनमें व्यावहारिक असामंजस्य की समस्याएँ तथा चारित्रिक दोषों का जन्म हो रहा है और जो पूर्व-बालअपराध की अवस्था से होकर गुजर रहे हैं। राबिन्सन ने इन्हीं दोनों पक्षों को संक्षेप में वर्णित करते हुए कहा कि बाल अपराध के निरोध के लिए दो प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं—(1) अपराधी कृत्यों को घटित होने से रोकना, तथा (2) अपराधी

---

1. विलियम सी० कवेरेसियस, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी : ए प्राब्लेम फार दि माडर्न वर्ल्ड, यूनेस्को प्रकाशन (पेरिस : 1964), पृ० 65।
2. पाल डब्ल्यू० तपन, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1949)।

बालकों के असामाजिक व्यवहार-प्रतिमानों को सुधारना। उनके अनुसार पहली व्यवस्था नियन्त्रण की है और दूसरी सुधार की।[1]

राबिन्सन ने बाल अपराध निरोध के चार प्रमुख उपागमों का वर्णन किया।[2] पहला उपागम उन व्यक्तियों के विचारों का फल है जिनका विश्वास है कि बालक तथा उसके माता-पिता अपने भाग्य के स्वामी हैं (अर्थात् अपने भाग्य को बनाने तथा बिगाड़ने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उन्हीं पर है) अतः उनको अपराधी कार्यों के लिए दण्ड मिलना आवश्यक है। इस प्रकार की विचारधारा से उत्पन्न बाल अपराध की समस्या के निदान एवं निराकरण का उपागम सामाजिक नियंत्रण तथा लोक-विधि के पालन की कठोरतम विधियों की सिफारिश करता है। दूसरा उपागम पहले उपागम के विपरीत बाल अपराध को समुदाय की कमियों की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया मानता है और ऐसे प्रयत्नों को लागू करने की सिफारिश करता है जो समुदाय के उत्तम संगठन से सम्बद्ध हैं, अर्थात् सामुदायिक संगठन के माध्यम से समुदाय के निवासियों को ऐसी सेवाएँ उपलब्ध कराना जिससे अपराध की घटनाएँ कम हो जायें। तीसरा उपागम बाल अपराध को मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों, विषमताओं तथा संघर्षों का फल मानकर मनोचिकित्सकीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रकार की नैदानिक सेवाओं के आयोजन की सिफारिश करता है। चौथा उपागम बाल अपराध की समस्या को सामाजिक एवं सामुदायिक संरचना में निहित असामाजिक व्यवहार की शक्तियों का फल मानता है और ऐसी व्यवस्था को जन्म देने की सिफारिश करता है जिससे असामाजिक व्यवहार की प्रवृत्तियाँ बड़ी सीमा तक समाप्त हो जायें।

बाल अपराध की समस्या के निवारण अथवा नियन्त्रण के हेतु जो प्रमुख सुझाव विद्वानों द्वारा दिये गये हैं उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

(1) दमन तथा कठोर नियन्त्रण के कार्यक्रमों का आयोजन

जो लोग समाचारपत्रों में बाल अपराध सम्बन्धी सनसनीखेज खबरें पढ़ कर इस समस्या के निरोध के साधनों को खोजने का प्रयत्न करते हैं उनके मन

1. सोफिया एम० राबिन्सन, जुवेनाइल डेलिंक्वेन्सी : इट्स नेचर ऐण्ड कन्ट्रोल (न्यूयार्क : 1960), पृ० 456।
2. वही, पृ० 465।

में सबसे पहले यही भावना उत्पन्न होती है कि कठोर दण्ड की व्यवस्था तथा पुलिस के दमनात्मक साधनों द्वारा ही बाल अपराध जैसी गम्भीर समस्या हल की जा सकती है। इसी प्रकार के जनप्रिय सुझावों की सूची में वह सुझाव भी रखा जा सकता है जिसमें कहा जाता है कि बाल अपराध की समस्या तब तक नहीं रुकेगी जब तक इस प्रकार के बालकों के माता-पिता तथा अभिभावकों पर जुर्माना नहीं किया जायगा तथा उन्हें सजा नहीं दी जायगी। इसी सूची में एक अन्य लोकप्रिय सुझाव भी रखा जाता है जिसमें यह विश्वास निहित है कि यदि बालक की पीठ से मार कर डंडा हटा लिया जायेगा तो उसके बिगड़ने की पूरी-पूरी सम्भावना बनी रहेगी, अतः बालकों को नियन्त्रित करके रखने का सबसे अच्छा तरीका कठोर अनुशासन है जिसमें उन्हें मार-पीटकर अच्छे प्रकार के व्यवहार-प्रतिमानों का पालन करने के लिए तैयार किया जा सकता है।

लूकास ने बाल अपराध नियन्त्रण की इस प्रकार की समस्त परम्परागत विधियों की सीमितताओं का वर्णन करते हुए लिखा कि इस प्रकार की विधियाँ न तो अपराध की घटनाओं को ही कम कर पाई हैं और न ही उन अपराधियों को अपराध से विमुक्त कर पाई हैं जो जेल-यातना भोग चुके हैं।[1]

(2) अपराध उत्पन्न करने वाली सामूहिक दशाओं में परिवर्तन

वर्तमान अपराधशास्त्री इस बात पर एकमत हैं कि अपराध या बाल अपराध जैसी विषम समस्याओं का नियन्त्रण उस समय तक सम्भव नहीं हो पायेगा जब तक उन समुदायों की आर्थिक जीवन-दशा नहीं सुधरेगी जिनमें अपराध या बाल अराध की समस्याएँ स्वतः पनपती रहती हैं और जहाँ अपराधी व्यवहार लोगों की जीवन-शैली बन गया है। इस मान्यता को स्वीकार करने के बाद अपराधशास्त्री यह सुझाव देते हैं कि उपर्युक्त प्रकार के समुदायों में रहने वाले व्यक्तियों के लिए आर्थिक सुरक्षा के कार्यक्रम नियोजित किये जायें, उनके जीवन-स्तर को बढ़ाया जाये, और उनकी गरीबी, अशिक्षा, बेकारी, भूख तथा आवास की समस्याएँ सुलझाई जायें। जब तक ऐसा सम्भव नहीं हो सकेगा, इन समुदायों में रहने वाले लोग कानून तोड़ते रहेंगे और उनमें कानून तथा सामाजिक एवं आर्थिक नैतिकता के प्रति आदर की भावना नहीं विकसित होगी।

इसी प्रकार का विचार रखने वाले कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि दिशाविहीन औद्योगीकरण तथा नगरीकरण से गन्दी बस्तियों तथा बेरोजगारी

---

1. ऐडविन जे० लूकास, "लिमिटेशन्स इन दि ट्रैडिशनल ऐप्रोच टु डेलिन्क्वेन्सी" नेशनल प्रोबेशन ऐण्ड परोल ईयरबुक (न्यूयार्क : 1951) पृ० 159–160।

की समस्या को जो बढ़ावा मिलता है वह स्वयं में अपराध तथा बाल अपराध पैदा करने वाला एक सक्षम कारक है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि समाज तथा समुदायों की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के उन पहलुओं को सुधारा जाये जो समस्या को न केवल उत्पन्न करते हैं वरन् उसे विकसित होने का बड़ा भारी अवसर प्रदान करते हैं।

(3) स्थानिक समुदायों में अपराध-विरोधी समूहों तथा संगठनों का आयोजन

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे असामाजिक व्यक्ति, समूह तथा गिरोह पाये जाते हैं जिनके सम्पर्क में आकर बहुत से बालक अपराधी कार्यों को सीख जाते हैं, अतः अपराध तथा बाल अपराध के नियन्त्रण के लिए एक ऐसी नीति की आवश्यकता बताई जा रही है जिसके माध्यम से स्थानिक समुदायों में ऐसे कार्यक्रम संगठित किये जाएँ जिनका उद्देश्य उन वैयक्तिक समूहों का समाप्त करना हो (या उनकी गतिविधियों को रोकना हो) जो अपने असामाजिक व्यवहार की प्रवृत्तियों को फैलाते हैं। स्कूलों, धार्मिक संस्थाओं, पुलिस, कल्याणकारी सेवा संगठनों तथा समाज-सेवियों के सक्रिय सहयोग से इस प्रकार के अपराधी समूहों तथा कुख्यात गिरोहों का विनाश किया जा सकता है। प्रत्येक समुदाय में अपराध तथा बाल अपराध के नियन्त्रण के हेतु इस प्रकार की सेवाएँ संगठित रूप से उपलब्ध होनी चाहिए। वहाँ के प्रबुद्ध नागरिकों को इस प्रकार के सेवा-कार्यक्रमों से सम्बद्ध करना पहला आवश्यक चरण होगा क्योंकि उन्हीं के प्रयत्नों से अपराध एवं बाल अपराध विरोधी सेवाएँ सफल हो सकती हैं।

अपराध-विरोधी अभियान सामुदायिक स्तर पर आयोजित करने की आवश्यकता इसलिए समझी जाती है कि केवल सरकारी प्रयत्नों से ही अपराधी व्यवहार की समस्याओं का निदान सम्भव नहीं हो सकता। जनता का सहयोग इस क्षेत्र में अति आवश्यक है। बाहर के व्यक्तियों अथवा पुलिस के द्वारा उन समस्याओं का निदान सम्भव नहीं हो सकता जो किसी समुदाय-विशेष में पनपती हुई पाई जाती हैं। इस प्रकार की समस्याएँ उन्हीं समुदायों के प्रमुख नागरिकों के सहयोग से सुलझाई जा सकती हैं जिन्हें समुदाय के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त है। समुदाय के प्रबुद्ध नागरिक उन विकास-मण्डलों की स्थापना करने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं जिनका उद्देश्य समुदाय के जीवन में विकास करना है तथा उस प्रकार के सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना है जिनसे अपराध तथा बाल अपराध की समस्या प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बढ़ती है।

(4) प्रत्येक समुदाय में वैयक्तिक सेवा कार्य तथा मनश्चिकित्सकीय सेवाओं की पर्याप्त उपलब्धता

प्रत्येक समुदाय में ऐसी सुधारात्मक तथा चिकित्सकीय सेवाओं का उपलब्ध होना उन बालकों के लिए आवश्यक समझा जाता है जो बाल अपराधी नहीं हैं परन्तु यदि उनमें पनपनेवाली अपराधी प्रवृत्तियों को रोका न गया तो वे आगे चलकर अपराधी या बाल अपराधी भी बन जाते हैं। वैयक्तिक कार्य तथा मनश्चिकित्सकीय सेवाएँ सामुदायिक स्तर पर प्राप्त होने से उन बालकों को अपराधी बनने से रोका जा सकता है जो वैयक्तिक असमायोजन की अनेक समस्याओं से ग्रस्त हैं और जिन्हें मार्ग-निर्देशन की कोई भी सुविधा उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार की सेवाओं का आयोजन ऐसे बाल-परामर्श-केन्द्रों की स्थापना के द्वारा हो सकता है जिनमें मनोवैज्ञानिक, मनश्चिकित्सकों तथा समाजशास्त्रियों का सक्रिय योगदान प्राप्त हो।

(5) समन्वय परिषदों तथा क्षेत्रीय परियोजनाओं की स्थापना

सामुदायिक संगठन के जिन कार्यक्रमों का वर्णन बाल अपराध की समस्या की रोकथाम के लिए किया जाता है उनमें समन्वय परिषदों तथा क्षेत्रीय परियोजनाओं के नाम बड़े ही महत्वपूर्ण ढंग से लिये जाते हैं। 1924 के आस-पास अमरीका में इन परिषदों तथा परियोजनाओं को सफलतापूर्वक नगरों के उन क्षेत्रों में स्थापित किया गया जहाँ बाल अपराध तथा अपराध की समस्या बड़े ही उग्र रूप में व्याप्त थी। इस प्रकार की परिषदों को 1940 तक इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो गई कि प्रत्येक नगर में ऐसी परिषदों की स्थापना के प्रयत्न किये जाने लगे। इस प्रकार की परिषदों का कार्य समस्त समाज-सेवी संस्थाओं के कार्यक्रमों को समन्वित करना था और उस समन्वय के आधार पर समुदाय की उन सभी समस्याओं का निदान ढूंढ़ना था जो उस समुदाय में चिन्ता का विषय बनी हुई थीं।[1] अमरीका में स्थापित इस प्रकार की समन्वय परिषदों की सफलता को देख कर अन्य देशों के अपराधशास्त्री भी इस प्रकार के सामुदायिक संगठन के कार्यक्रम आयोजित करने की सिफारिश करने लगे हैं। जिन अन्य यूरोपीय देशों में इस प्रकार की परिषदें स्थापित की गई हैं उनसे प्राप्त परिणाम अत्यन्त संतोषजनक रहे हैं।

---

1. केनयन जे० सूडर, "दि कोआरडिनेटिंग काउन्सिल्स ऐट वर्क", इयर बुक, नैशनल प्रोबेशन ऐसोसियेशन (वाशिंगटन 1936), पृ० 67–77।

बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण की दूसरी सामुदायिक संगठन सम्बन्धी विधि क्षेत्रीय परियोजनाओं (एरिया प्रोजेक्ट्स) की स्थापना से सम्बद्ध है। इस प्रकार की परियोजनाएँ शहर तथा किसी विशिष्ट समुदाय के उन भागों में कार्यान्वित की जा सकती हैं जिनमें विघटन की शक्तियाँ प्रचुर मात्रा में व्याप्त हैं और जहाँ बाल अपराध तथा अपराध की घटनाएँ रोज ही घटती रहती हैं। इस प्रकार के समुदायों तथा शहरी क्षेत्रों में गरीबी, अशिक्षा तथा अज्ञान से संतप्त लोग निवास करते हैं और जहाँ का वातावरण भौतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से गंदा होता है। उन समुदायों तथा क्षेत्रों में व्यवहार-विचलन तथा सामाजिक व्याधिकी की समस्याएँ स्वतः जन्म लेती हैं और बिना रोक टोक बढ़ती रहती हैं। बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण एवं निरोध के उत्तरदायित्व को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ जोड़कर देखने वाले समुदाय के प्रबुद्ध नागरिकों तथा समाज-सेवियों का यह मत था कि यदि इन सामुदायिक क्षेत्रों में बाल मनोरंजन, बाल निर्देशन तथा बाल प्रशिक्षण की सुविधाएँ प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं, मनोवैज्ञानिकों तथा मनोचिकित्सकों के द्वारा उपलब्ध की जा सकें तो यह आशा की जा सकती है कि बाल अपराध जैसी समस्याओं को बड़ी सीमा तक रोका जा सकता है। इस विचारधारा को रखकर अमरीका के शिकागो नगर में एक परियोजना प्रारम्भ की गई थी। इस योजना से प्राप्त निष्कर्षों की सफलता को देख कर अमरीका के अन्य नगरों में नागरिकों के सम्मिलित प्रयत्न से इसी परियोजना के अनुरूप योजनाएँ निर्मित तथा कार्यान्वित की गईं। इन योजनाओं में निहित कमियों के बावजूद इस प्रकार की परियोजनाओं की महत्ता को आज भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

(6) सुनियोजित मनोरंजन की व्यवस्था

बाल अपराध के कारणों की व्याख्या में यह स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि मनोरंजन के उचित साधनों के अभाव में बहुत से गरीब घरों के बच्चे अपने मनोरंजन के लिए उन विधियों को चुनते हैं जो उनमें असामाजिक तथा अपराधिक प्रवृत्तियों के विकास में सहायक होते हैं। ट्रूकसल द्वारा न्यूयार्क नगर के अनेक क्षेत्रों में उपलब्ध मनोरंजन की सुविधाओं की पर्याप्तता तथा अपर्याप्तता पर किये गये एक अध्ययन में यह पाया गया कि बाल अपराध की घटनाओं की संख्या उन

---

1. सालोमन कोब्रिन, "दि शिकागो एरिया प्रोजेक्ट : ए ट्वेंटीफाइव इयर असेसमेन्ट", दि ऐनल्स, नं॰ 322, मार्च 1959, पृ॰ 19–21।

क्षेत्रों में अधिक थी जहाँ मनोरंजन की पर्याप्त सुविधाओं का अभाव था।[1] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए बाल अपराध की रोक-थाम में रुचि रखनेवाले विशेषज्ञ सुनियोजित मनोरंजन की व्यवस्था की महत्ता पर बल देते आये हैं। उनका सुझाव है कि प्रत्येक नगर के उन क्षेत्रों तथा समुदायों में बालकों के उत्तम मनोरंजन की सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए जिनमें बाल अपराध की घटनाएँ रोज ही होती रहती हैं। इन समुदायों से सामुदायिक मनोरंजन की संस्थाओं, पार्कों, खेल के मैदानों, युवा तथा बाल क्लबों की व्यवस्था की जा सकती है जहाँ सामूहिक सेवा-कार्य में निपुण समाज-कार्यकर्ताओं के योगदान से बालकों की मनोरंजन-विधियों को चरित्र-निर्माणक बनाया जा सकता है। इस प्रकार की मनोरंजन-सुविधाओं की योजना को एक ऐसे सामुदायिक संगठन की योजना का अभिन्न अंग होना चाहिए जिसमें बाल अपराधियों के परिवारों, समुदाय के स्कूलों, समाज-सेवा संस्थाओं तथा समाज के नैतिक उत्थान से सम्बद्ध व्यक्तियों का सक्रिय योगदान प्राप्त हो।

विटमर ने बाल अपराध निरोध के सम्बन्ध में मनोरंजन सुविधाओं के विस्तार सम्बन्धी सुझाव का मूल्यांकन थ्रेशर,[2] शानाज एवं डर्निग[3] तथा इलरी रीड[4] द्वारा बाल मनोरंजन सम्बन्धी निष्कर्षों के आधार पर किया। उनका मत था कि यद्यपि बाल मनोरंजन केन्द्रों में भाग लेनेवाले अपराधी तथा गैर-अपराधी बालकों पर किये गये सभी अध्ययन मनोरंजन तथा बाल अपराधी व्यवहार में सुधार के प्रश्न पर कोई ऐसी बात नहीं सिद्ध कर पाये हैं जिससे यह ज्ञात हो कि मनोरंजन की सुविधाओं को बढ़ाने में बाल अपराध की समस्या घटेगी, परन्तु प्रत्येक समुदाय में उन बालकों के मनोरंजन के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध

1. ऐंड्र्यू जी० ट्रुकसल, आउटडोर रीक्रिएशन लेजिस्लेशन ऐन्ड इट्स इफेक्टिवेनस (न्यूयार्क : 1929)।
2. फ्रेडरिक एम० थ्रेशर, "दि ब्यायेज क्लब ऐन्ड जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 42, जुलाई 1936, पृ० 66–80।
3. इथेल शानाज ऐन्ड कैथरीन डर्निग, रीक्रियेशन ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (शिकागो : 1952)।
4. इलरी रीड, "हाउ इफेक्टिव आर ग्रुपवर्क एजेन्सीज इन प्रिवेन्टिंग डेलिन्क्वेन्सी", सोशल सर्विस रिव्यू, वाल्यूम 22, सितम्बर, 1948, पृ० 340–348।

होनी ही चाहिए जिनके माता-पिता उनके मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराने में असमर्थ हैं ।[1]

(7) पारिवारिक कल्याण सेवा-केन्द्रों की स्थापना

यह बात स्पष्ट है कि अधिकांशतः बाल अपराधी उन घरों से सम्बद्ध होते हैं जिनका वातावरण दूषित है, जिनमें माता-पिता का नियंत्रण एवं देख-रेख उत्तम बाल-व्यक्तित्व के विकास में बाधक है और जहाँ माता-पिता या अन्य अभिभावक अतिव्यस्त या अशिक्षित हैं। इन परिवारों के बालकों द्वारा तथा उनके माता-पिता के लिए विशेषकर उन समुदायों में पारिवारिक कल्याण एवं पारिवारिक जीवन परामर्श-केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए जिनमें अधिकांशतः गरीब तथा अशिक्षित लोग बसते हैं और जहाँ अनैतिकता तथा असामाजिकता का दूषित वातावरण वहाँ के लोगों के जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। इन केन्द्रों में उन इच्छुक व्यक्तियों को पारिवारिक जीवन सम्बन्धी परामर्श प्रदान किए जा सकते हैं जो अपने पारिवारिक सम्बन्धों की बिगड़ती हुई दशा से चिंतित हैं या वे यह नहीं जानते कि उनका उत्तरदायित्व क्या है और वे अपने पितृत्व तथा मातृत्व के कर्तव्यों को किस प्रकार पूरा कर सकते हैं।

(8) बाल एवं युवा कल्याण सेवाओं का विस्तार

बाल अपराध की समस्या के नियंत्रण के हेतु आवश्यकता इस बात की है कि देश में व्यापक स्तर पर बाल एवं युवा कल्याण के ऐसे विशेषीकृत कार्यक्रमों का आयोजन किया जाये जिनमें उन समस्त प्रकार के बालकों एवं युवकों का सुधार उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सम्भव हो सके जो बाल अपराधी तथा किशोर अपराधी व्यवहार-प्रतिमानों को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार की सेवाओं में वे सभी कार्यक्रम सम्मिलित होने चाहिए जिनमें नवयुवकों को राष्ट्रीय हित में आयोजित रचनात्मक एवं समाज-उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रमों में लगाया जा सके। ऐसा होने से देश के नवयुवकों को इस बात का आभास हो सकेगा कि उनका भी समाज को बनाने में उतना ही स्थान है जितना कि वयस्कों तथा वृद्धों का। इस प्रकार के कार्यक्रमों के संचालन से युवकों की तोड़-फोड़ सम्बन्धी असामाजिक प्रवृत्तियों को एक नया मोड़ दिया जा सकता है। इन कार्यक्रमों की प्रमुख विशेषता यह होनी चाहिए कि देश के समस्त युवकों को

---

1. हेलेन एल० विटमर ऐन्ड एडिथ टफ्टस, दि इफेक्टिवनेस आफ डेलिन्क्वेन्सी प्रिवेन्शन प्रोग्राम (वाशिंगटन : यू० एस० चिल्ड्रेन ब्यूरो, 1954)।

बिना भेदभाव के अपने विकास के लिए उचित शिक्षा तथा रोजगार के समान अवसर प्राप्त हों। शहर के गंदी बस्ती वाले, दरिद्रता तथा अज्ञान में रहने वाले नवयुवकों के स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास के लिए मनोरंजन, शिक्षा, आवास तथा रोजगार के विशेष कार्यक्रमों का आयोजन इसलिए आवश्यक है कि जब तक इस वर्ग के बालक एवं युवा व्यक्ति अपराधी वातावरण में पलते रहेंगे, बाल तथा युवा अपराध की समस्या कम से कम इन क्षेत्रों में तो बनी ही रहेगी।

(9) उन स्कूलों के वातावरण तथा शिक्षा-पद्धति में सुधार जहाँ निम्न तथा मध्यम वर्ग के लोगों के बच्चे अपनी प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करते हैं

बाल अपराध विशेषज्ञों का कथन है कि बाल अपराध की समस्या को रोकने के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि हमारे स्कूलों का वातावरण क्या उत्तम चरित्र के निर्माण में सक्षम है ? यदि ऐसा नहीं है तो स्कूलों की शिक्षा-पद्धति में सुधार करना पड़ेगा। प्राथमिक शिक्षा को बालकों के हेतु रुचिकर बनाना होगा, योग्य, सुशिक्षित तथा संतुष्ट शिक्षक नियुक्त करने पड़ेंगे, प्रत्येक स्कूल में "स्कूल समाज कार्य" की विधियों में निपुण समाज-कार्यकर्ताओं तथा समाजकार्य एवं बाल-मनोविज्ञान में दक्ष अध्यापकों को रखना पड़ेगा जो विद्यार्थियों के शैक्षिक असमायोजन तथा व्यावहारिक एवं चारित्रिक त्रुटियों को विद्यार्थियों के माता-पिता तथा अभिभावकों के सक्रिय सहयोग से दूर कर पाने में समर्थ हों। इसके साथ ही साथ विद्यार्थियों के माता-पिता तथा शिक्षकों के संघ प्रत्येक स्कूल में स्थापित होने चाहिए। इन संघों की प्रति मास मीटिंग बुला कर स्कूल में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की समस्त समस्याओं पर संयुक्त रूप से विचार किया जा सकता है और विद्यार्थियों के माता-पिता तथा अभिभावकों को उन समस्याओं से अवगत कराया जा सकता है जिनको केवल सतर्क माता-पिता या अभिभावक ही दूर कर सकते हैं। इन मीटिंगों में उन विधियों पर भी विचार विमर्श हो सकता है जिनका प्रयोग बाल असमायोजन की समस्याओं के सुलझाने में आजकल सफलतापूर्वक बहुत से अच्छे स्कूलों में किया जा रहा है।

यदि बालकों को शिक्षण संस्थाओं से यह आशा की जा रही है कि वे बालकों के सुलभ चरित्र निर्माण में कोई महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करें तो आवश्यकता इस बात की भी होगी कि स्कूलों के शैक्षिक कार्यक्रमों को एक वैज्ञानिक विधि से नियोजित किया जाये जिससे कि प्रत्येक शिक्षार्थी की सम्पूर्ण व्यावहारिक आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जा सके, स्कूल का वातावरण बालकों के लिए आकर्षक बन सके, उनमें शिक्षा प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न हो

सके, वे अन्य बालकों के साथ सहज एवं मधुर सम्बन्ध स्थापित कर सकें तथा उनमें उन प्रवृत्तियों का विकास सम्भव हो सके जो सामाजिक तथा आदर्श नागरिक बनने में सहायक हों। जब स्कूलों का ऐसा वातावरण बन सकेगा तब स्वाभाविक है कि बाल भगेड़ूपन तथा बाल आवारापन जैसी समस्याएँ बड़ी सीमा तक हल हो सकेंगी।

(10) अपराधी प्रवृत्ति रखनेवाले बालकों का लेखा तथा उनके सुधार के लिए उचित कार्यक्रमों का आयोजन

प्रत्येक नगर में कम से कम एक ऐसी संस्था की स्थापना करना आवश्यक है जिसका प्रमुख कार्य उन सभी बालकों, उनके परिवारों तथा समुदाय के साथ सम्पर्क स्थापित करके ऐसे सर्वेक्षण करना हो जिनसे यह बात ज्ञात हो सके कि कितने बालक ऐसे हैं जो उन पारिवारिक तथा सामुदायिक परिस्थितियों में रह रहे हैं जिनमें अपराधी प्रवृत्तियों का विकास सरलता से हो सकता है। इसके साथ ही साथ इस प्रकार के सर्वेक्षणों से उन सभी बालकों के बारे में सूचना एकत्रित की जा सकती है जिनमें अपराधी प्रवृत्तियों का विकास हो चुका है। इन दोनों वर्गों के बालकों के मार्ग-निर्देशन तथा सुधार के लिए उनके व्यक्तित्व के अनुरूप सुधार तथा व्यवस्था-सेवाओं का आयोजन इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये ही सब बालक आगे चलकर अपराधी बन सकते हैं।

बाल अपराधियों का सुधार

बाल अपराधियों के सुधार की आवश्यकता तथा इसके महत्व का प्रश्न दण्ड के आधुनिक सुधारवादी दर्शन के सिद्धान्तों एवं विधियों के अभ्युदय के साथ जुड़ा हुआ है। दण्ड के प्राचीन सिद्धान्तों एवं विधियों में अपराधियों (चाहे वे बालक हों या वयस्क) को कठोरतम दण्ड देने का भाव सन्निहित था क्योंकि उस युग की स्वीकृत मान्यता यह थी कि समाज अपराधी के प्रति प्रतिशोधात्मक दृष्टिकोण रखने का हकदार है और अपराधियों को कठोर दण्ड देकर ही समाज गैर अपराधी व्यक्तियों में कानून का भयपूर्वक पालन करने की आदत डाल सकता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही दण्ड के प्रतिशोधात्मक तथा भयात्मक उद्देश्यों की उपयोगिता पर शंका व्यक्त की जाने लगी और मानववादी दर्शन को स्वीकार करने वाले अपराधशास्त्री यह मानकर चलने लगे कि दण्ड का उद्देश्य समाज की रक्षा ही नहीं वरन् अपराधियों का सुधार करना भी है। बीसवीं शताब्दी में दण्ड के सुधारवादी सिद्धांत को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया गया और अपराधियों तथा बाल अपराधियों के लिए ऐसी कारागार-प्रशासन की व्यवस्था

को कार्यान्वित करने के लिए भरसक प्रयत्न किये जाने लगे जिसमें उनकी शिक्षा, औद्योगिक प्रशिक्षण तथा मनोगत सुधार की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हों।

बाल अपराधियों के सुधार की व्यवस्था के महत्व को समझने में बाल अपराध विशेषज्ञों को अधिक प्रयत्न नहीं करने पड़े क्योंकि अधिकांश व्यक्ति इस बात पर सहमति व्यक्त करते थे कि बाल अपराधी ऐसी मनोवृत्ति के नहीं होते जिसमें अपराधी व्यवहार उनके स्वभाव तथा जीवन-शैली का अभिन्न अंग बन जाता है। समाज के अधिकांश प्रबुद्ध नागरिक यह सरलता से स्वीकार करने के लिए पहले से ही तत्पर थे कि बाल अपराधी पारिवारिक तथासामाजिक परिस्थितियों का शिकार हो जाते हैं और उनकी अपराधिकता आकस्मिक होने के साथ ही साथ उनकी अपरिपक्व बुद्धि, कानून के परिणामों के प्रति अज्ञान तथा अपराधी कार्य करने की योजना के अभाव का प्रदर्शन मात्र है। इन परिस्थितियों में उनके लिए दण्ड की ऐसी व्यवस्था का होना अनिवार्य है जिसका प्रमुख उद्देश्य उनका सुधार तथा चारित्रिक पुनर्गठन करना हो। इसी विश्वास पर आधारित मान्यताओं को स्वीकार करके आधुनिक युग में बाल अपराधियों के लिए वयस्क अपराधियों से भिन्न प्रकार की बाल सुधार संस्थाओं की स्थापना की गई। बाल अपराधियों के सुधार की दिशा में जो भी अन्तरराष्ट्रीय प्रगतियाँ हुई उनमें बाल न्यायालयों की स्थापना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम है।

बाल न्यायालय

बाल न्यायालयों की स्थापना बाल अपराधियों के सुधार के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी चेतना का प्रतीक है। यद्यपि विश्व में सबसे पहला बाल न्यायालय अमरीका के शिकागो नगर में 1899 में स्थापित हुआ था परन्तु उसके पूर्व भी इंगलैण्ड, आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा स्विटजरलैंड में ऐसे कानून पारित किये जा चुके थे जिनमें बाल अपराधियों के लिए न्यायिक व्यवस्था वयस्क अपराधियों से भिन्न थी। इंगलैण्ड में इस प्रकार की विशेषीकृत न्यायविधि का इतिहास बड़ा लम्बा है। 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तथा 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक वहाँ के बालकों को उनके द्वारा किये गये छोटे-मोटे अपराधों के सिलसिले में कठोर दण्ड दिया जाता था। एच० एच० लाउ ने एक दृष्टांत देते हुए कहा कि 1833 में एक बालक को किसी दूकान में शीशा तोड़कर दो पेन्स का पेन्ट चुराने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया गया था।[1]

---

1. एच०एच० लाउ, जुवेनाइल कोर्ट इन यूनाइटेड स्टेट्स (नार्थ कैरोलिना : 1927), पृ० 14।

1870 में अमरीका के बोस्टन नगर में न्यायालयों की कार्यपद्धति में संशोधन लाने के लिए एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें कहा गया कि बाल अपराधियों के मुकदमों की सुनवाई भिन्न प्रकार से होनी चाहिये। 1877 में न्यूयार्क में स्थापित सोसाइटी फार दि प्रिवेन्शन आफ क्रूयल्टी टु चिल्ड्रेन ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि 16 वर्ष के बालकों को न तो वयस्क अपराधियों के साथ जेल में रखा जाए और न उन्हें न्यायकक्ष में पुलिस की हिरासत में हथकड़ी डाल कर उपस्थित किया जाए। इस प्रकार के अनेक प्रस्तावों ने बाल अपराधियों के हेतु एक भिन्न प्रकार की विशेषीकृत न्यायिक प्रणाली की महत्ता को स्वीकार कराने में बड़ी मदद की और शीघ्र ही लगभग 20 वर्ष के अंतराल में अमरीका के अनेक नगरों में बाल न्यायालयों की स्थापना की गई। अमरीका में जन्मी यह परम्परा विश्व के अन्य देशों में भी अपनी महत्ता के आधार पर शीघ्र ही स्वीकार की गयी और बालन्यायालयों की स्थापना का एक आंदोलन सा छिड़ गया।

बाल न्यायालय बाल कल्याण तथा बालहितों के संतुलन को बनाये रखने के दर्शन को साकार करने की एक ऐसी वैधानिक प्रणाली है जो अपनी न्यायिक कार्यवाही में निहित नम्रता, अभिभावक प्रेरणा तथा संरक्षण प्रवृत्ति द्वारा बालकों की रक्षा करने की विशेषताओं के आधार पर उन साधारण न्यायालयों से भिन्न है जिनमें न्यायविधि की कठोरता तथा दण्ड देने की प्रक्रिया पर बल दिया जाता है। यह उस वैधानिक चेतना का फल है जिसमें राज्य को उन बालकों का माता-पिता, अभिभावक तथा संरक्षक माना जाता है जो मन्दबुद्धिता, शारीरिक विकलांगता, परित्यक्तता, अनाथपन तथा उचित प्रकार की देखरेख के बिना जीवन बिता रहे हैं। इस प्रकार के न्यायालय अपना न्यायिक उत्तरदायित्व दण्ड के माध्यम से नहीं वरन् सुधार, रक्षा तथा शिक्षा द्वारा सम्पादित करते हैं।

अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विधि-विशेषज्ञ रास्कोपाउण्ड के मत में बाल अपराध उन सामाजिक हितों को ध्यान में रखने वाले न्यायाधीशों का प्रयत्न है जो कानून को एक सामाजिक संस्था के रूप में देखते हैं और उस न्यायविधि का विरोध करते हैं जिनमें प्रतिकर तथा प्रतिशोध की भावना निहित है। उनके मत से कानून का उत्तरदायित्व है कि वह अपराध के सामाजिक कारणों तथा दशाओं को ध्यान में रखकर चले।[1]

---

1. रास्को पाउंड, इंटरप्रिटेशन आफ लीगल हिस्ट्री (न्यूयार्क: 1923), पृ० 135।

बाल न्यायालय की परिभाषा करने के प्रयत्न में निहित कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए लाउ ने लिखा कि बाल न्यायालय का वर्णन इसकी परिभाषा करने से कहीं अधिक सरल है। केवल न्यायालय कहने मात्र से ही बाल न्यायालय न्यायालय नहीं हो जाता है, या किसी विशेष न्यायकक्ष में स्थापित होने से यह न्यायालय नहीं बनता है। यह एक साधारण न्यायालय तथा सामान्य विधि पर आधारित न्यायालय नहीं है—यह एक वैधानिक न्यायालय है अतः उसकी विधि-संगत परिभाषा राज्य के उन प्रस्तावों के द्वारा की जाती है जिनके आधार पर इसका निर्माण होता है तथा इसकी कार्यप्रणाली निर्धारित की जाती है। सामान्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि बाल न्यायालय एक ऐसा न्यायालय है जिसका विशेषाधिकार अपराधी तथा तिरस्कृत बालकों के ऊपर एक पैतृक प्रकार का है। यह साधारण अदालत नहीं है जिसमें छोटे-मोटे अपराध करने वाले बालकों के मुकदमे सुने जाते हैं। इस प्रकार के न्यायालयों में हम अपराधी के प्रति सदियों से चली आने वाली ईर्ष्या, घृणा तथा विद्रोह की भावनाओं को त्याग कर न्याय देने की ऐसी पद्धति की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें न्याय, सत्य, सहिष्णुता तथा अपराधी के चरित्र, व्यवहार तथा जीवन की दशाओं को ध्यान में रखकर न्याय प्रदान किया जाता है।[1]

बाल न्यायालयों की विशेषताएँ

अपनी निम्नलिखित विशेषताओं के आधार पर इस प्रकार के न्यायालय उन न्यायालयों से भिन्न होते हैं जहाँ पर वयस्क व्यक्तियों के अपराधिक मुकदमों की सुनवाई की जाती है :—

(1) बाल न्यायालय उस प्रकार का न्यायालय है जिसमें बालक तथा तरुण आयु के युवकों के मुकदमों की सुनवाई एक विशेष विधि से की जाती है।

(2) इन न्यायालयों में उस प्रकार के बालकों (जिनकी अवस्था 7 वर्ष से लेकर 16, 18 या 21 वर्ष तक की है) के अपराधी व्यवहार एवं अन्य असामाजिक कृत्यों से सम्बन्धित मामलों का निर्णय एक विशेष कानून (बाल अधिनियम) की धाराओं के आधार पर किया जाता है जो या तो पूर्व बाल अपराध की अवस्था से गुजर रहे हैं या उनमें अपराधी प्रवृत्तियों का विकास हो रहा है या वे कोई अपराधी कार्य कर चुके हैं।

(3) इस प्रकार के न्यायालय वयस्क अपराधियों के न्यायालयों से अपनी

1. एच० एच० लाउ, पूर्वोल्लिखित, पृ० 32–33।

कार्यपद्धति में निम्नलिखित प्रकार से भिन्न होते हैं : (1) इन न्यायालयों की न्याय करने की प्रणाली में उस प्रकार के मानव सुधारवादी दर्शन को स्वीकार किया जाता है जिसकी प्रमुख मान्यता है कि गलती तथा असामाजिक एवं अवैधानिक प्रकार का व्यवहार करने वाले बालकों के प्रति राज्य का कर्तव्य है कि वह उनकी रक्षा, सुधार तथा पुनर्वासन के कार्यक्रम आयोजित करने के साथ ही साथ उनके लिए पृथक् प्रकार की न्यायिक अदालतों की स्थापना करे। (2) इन न्यायालयों में न्याय प्रदान करने की विधि अनौपचारिक प्रकार की होती है तथा न्यायालय का सम्पूर्ण वातावरण साधारणतः उन न्यायालयों से भिन्न होता है जहाँ ऊँचा मंच, कटघरा, वर्दी में पुलिस तथा काला कोट पहने हुए न्यायाधीशों तथा वकीलों की भीड़ लगी रहती है। (3) इन न्यायालयों में न्याया-धीशों के लिए कानून में डिग्री प्राप्त किये हुए होना जरूरी नहीं है। (4) इन न्यायालयों में वादी तथा प्रतिवादी की तरफ से उत्तेजनापूर्ण बहसें करने के लिए वकीलों की मुठभेड़ें नहीं होती हैं और सामान्य परिस्थिति में वकीलों को यहाँ उपस्थित होने की आवश्यकता नहीं है। (5) इन न्यायालयों में दर्शकों की भीड़ भाड़ नहीं इकट्ठी होने दी जाती है और केवल अभियुक्त बालक के माता-पिता तथा अभिभावक ही यहाँ पर उपस्थित रहते हैं। (6) इन न्यायालयों के न्यायाधीश, परिवीक्षा अधिकारी तथा पुलिस के कर्मचारी साधारणतः अपनी सादी वर्दी में रहते हैं। (7) इन न्यायालयों में दोषी बालकों को हथकड़ी लगाकर कठघरे में नहीं खड़ा किया जाता है। (8) इन न्यायालयों की समस्त कार्यवाही गुप्त रहती है तथा इनके निर्णयों को समाचारपत्रों में नहीं प्रकाशित किया जाता है।

(4) इन न्यायालयों के मजिस्ट्रेटों (चाहे वह स्टाइपेन्डरी हों या आनरेरी) से यह आशा की जाती है कि वे अपने सामने प्रस्तुत किये गये बालकों के लिए मार्गदर्शक, मित्र तथा दार्शनिक की भूमिका अदा करें।

(5) इन न्यायालयों में मजिस्ट्रेट नियुक्त होने के लिए यह आवश्यक नहीं माना जाता है कि वह बड़े भारी विधि-विशेषज्ञ हों। नियुक्ति उन व्यक्तियों की होती है जो कानून का पर्याप्त ज्ञान रखने के साथ साथ मानव स्वभाव तथा मानव समायोजन की समस्याओं की उत्पत्ति सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धांतों से भली भाँति अवगत हों तथा उन्हें बाल कल्याण के क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव तथा दक्षता प्राप्त हो।

(6) इन न्यायालयों में यह आवश्यक नहीं है कि दोषी ठहराये गये बालकों को दंड ही दिया जाये; इसके विपरीत इन न्यायालयों से यह आशा की जाती है कि वे बालकों के सुधार के लिए सेवाएँ आयोजित करने में सहायक सिद्ध होंगे तथा उन बालकों के देख-रेख, सुरक्षा, कल्याण तथा शिक्षा सम्बन्धी संस्थागत तथा असंस्थागत कार्यक्रमों की उपलब्धि संभव करा सकेंगे जो उपेक्षित हैं या जिनके माता-पिता तथा अभिभावक उनकी उचित देख-रेख कर पाने में असमर्थ हैं ।

(7) इन न्यायालयों में अपराधी तथा असामाजिक व्यवहार-प्रतिमान प्रदर्शित करने वाले बालकों से सम्बन्धित शिकायतों का निर्णय पुलिस की रिपोर्ट के आधार पर नहीं किया जाता है । पूरी वैधानिक, उपचारात्मक तथा सुधारात्मक कार्यवाही का आधार होती है परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट जो बालक के सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा पारिवारिक वातावरण सम्बन्धी कारकों के अध्ययन, निरीक्षण तथा मूल्यांकन पर बड़ी ही सावधानी तथा व्यावहारिक कुशलता के द्वारा निर्मित की जाती है ।

(8) जिस अवधि तक बालक के बारे में सामाजिक खोज-बीन परिवीक्षा अधिकारी के द्वारा होती रहती है उस अवधि तक उसे जेल में न रखकर उन प्रतिप्रेषण तथा पर्यवेक्षण गृहों में रखा जाता है जहाँ उसकी सुरक्षा के अतिरिक्त उसे स्वच्छ वातावरण तथा स्वास्थ्यकर रहन-सहन का अवसर मिलता है ।

(9) इन न्यायालयों को अपने निर्णय देने में बड़ा भारी विवेकाधिकार प्राप्त होता है । न्यायालय मुकदमें को रद्द कर सकता है, बालक तथा उसके माता-पिता को चेतावनी दे सकता है, उन पर जुर्माना कर सकता है, उन्हें परिवीक्षा पर रिहा कर सकता है, उन्हें किसी सुधार कार्य करने वाली संस्था की देख-रेख में रहने का आदेश दे सकता है, या उन्हें बाल सुधार संस्थाओं में रखे जाने का निर्णय दे सकता है ।

बाल संरोध (जुवेनाइल डिटेन्शन)

बाल अपराध के सुधारवादी दर्शन को स्वीकार करने तथा बाल न्यायालयों की स्थापना के साथ ही साथ जो भी विशिष्ट प्रकार के अपराधिक अधिनियम उनके मुकदमों की सुनवाई करने के लिए इंगलैण्ड, अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में पारित हुए उनमें यह प्राविधान किया गया कि इस प्रकार के अपराधियों को उनके संशोधन काल में वयस्क अपराधियों के साथ न रखा जाये तथा उनके संशोधन की संस्थाएं भिन्न प्रकार की हों । जिन संस्थाओं की

स्थापना करने की सिफारिश इस सम्बन्ध में की गई उन्हें प्रतिप्रेषण गृह या पर्यवेक्षण गृह कहा गया। ये संस्थाएँ वयस्क अपराधियों की हवालातों से भिन्न थीं और इनका वातावरण एक ऐसे घर जैसा था जिसमें अपराधी बालक यह महसूस कर सकता था कि वह एक अच्छे घर और अच्छे वातावरण में आ गया है। इन गृहों में अपराधी बालकों को उस अवधि तक रखे जाने का प्राविधान बनाया गया जब तक कि बाल न्यायालय द्वारा उनके बारे में अंतिम निर्णय न हो सके। साधारणतः इन गृहों में बालकों को तीन मास तक रखने का प्राविधान बनाया गया और बाल न्यायालयों को यह आदेश दिया गया कि वे इस निर्धारित अवधि के समाप्त होने से पूर्व ही अपना निर्णय घोषित कर दें।

इन संस्थाओं में रहने के बाद अपराधी बालकों को उन सुधार संस्थाओं में भेजे जाने की व्यवस्था की गई जिनमें उनको उनके जीवन की भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध हों, उन्हें अपने स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कल्याण के अवसर प्राप्त हों, उन्हें घर जैसा प्यार, सहानुभूति, स्वीकृति और सुरक्षा प्राप्त हो तथा उन्हें एक ऐसा वातावरण मिल सके जिससे वे सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं नियमों का पालन करने का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। इन सुधारगृहों को निम्नांकित उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए स्थापित किया गया :—

(1) बाल अपराधियों के उत्तम समायोजन के लिए उनके जीवन के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना।

(2) उनको वे समस्त सुविधाएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध कराना जिनसे उनमें वैयक्तिक क्षमताएँ बढ़ें और वे आत्मनिर्भर बन सकें।

(3) उनका चारित्रिक पुनर्गठन हो सके।

इंगलैण्ड के 1854 के रिफारमेटरी स्कूल ऐक्ट में बाल अपराधियों के सुधार के लिए जिन संस्थात्मक कार्यक्रमों की स्थापना की गई उनका प्रभाव विश्व के समस्त देशों पर पड़ा और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बाल अपराधियों के लिए एक विशिष्ट न्याय तथा सुधार व्यवस्था के कार्यान्वयन के प्रयत्न किये जाने लगे।

भारत में बाल अपराधियों के सुधार की व्यवस्था

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी देशों में सुधारवादी विचारों को मूर्त रूप देने का जो अभियान चला, भारत उस अभियान के प्रभाव से बच न सका। 1850 में ऐप्रेन्टिस ऐक्ट पारित किया गया जो प्रमुख रूप से एक दण्डात्मक अधिनियम होने के बावजूद 10 से 18 वर्ष तक की आयु के बालकों के

कल्याण की बात कहता था। 1876 में इस अधिनियम को रिफारमेटरी स्कूल ऐक्ट (जिसका संशोधन 1897 में हुआ) द्वारा बदल दिया गया। इस अधिनियम में किशोर अपराधियों के मामलों पर निर्णय लेने के लिए एक पृथक् संगठन की व्यवस्था की गई और न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया गया कि यदि वे उचित समझें तो किशोर अपराधियों को कारागार भेजने के स्थान पर तीन से सात वर्ष तक के लिए सुधार विद्यालयों (रिफारमेटरी स्कूल्स) में नजरबंद कर सकते हैं। इस अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत रिफारमेटरी स्कूल के अधीक्षक को यह अधिकार दिया गया कि वह दर्शक समिति (विजिटर्स कमेटी) की अनुमति से 14 वर्ष की आयु वाले संवासी बालक को लाइसेंस के अन्तर्गत किसी विश्वासपात्र तथा सम्मानित व्यक्ति अथवा किसी सरकारी या नगरपालिका के अधिकारी के साथ रहने की अनुमति प्रदान कर सकता है।

1884 के अधिनियम तथा 1898 में संशोधित दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 29(8)/399 एवं 562 के अन्तर्गत 21 वर्ष से कम आयु के बालकों के निपटारे की व्यवस्था है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 29 (ख) के अन्तर्गत रिफारमेटरी स्कूल अधिनियम, 1897 के अन्तर्गत कोई भी सक्षम अधिकारी 15 वर्ष से कम आयु के बालकों का मुकदमा तय कर सकता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 309 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि यदि फौजदारी अदालत 15 वर्ष से कम आयु के किसी बालक को कारावास की सजा देती है तो अदालत यह आदेश दे सकती है कि ऐसे दोषसिद्ध बालक को कारागार में न रखकर सरकार द्वारा स्थापित किसी सुधार विद्यालय में रखा जाये जहाँ वह शिक्षा तथा उपयुक्त व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सके। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 561(1) में इस बात की भी विशेष व्यवस्था की गई है कि 21 वर्ष से कम आयु के बालकों को किन्हीं विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कारावास की सजा न देकर अच्छे आचरण के लिए परिवीक्षा पर मुक्त किया जा सकता है।

भारतीय कारागार समिति की सिफारिशों को ध्यान में रखकर मद्रास, बंगाल तथा बम्बई प्रान्तों में क्रमशः 1920, 1922 और 1924 में बाल अधिनियम पारित किये गये। इन अधिनियमों को पुराने अधिनियमों में सुधार लाने के उद्देश्य तथा बाल अपराधियों के अभिरक्षण, परीक्षण तथा उनके दण्ड एवं संरक्षण की एक सुधारवादी व्यवस्था को जन्म देने के लक्ष्य से पारित किया गया था। इन अधिनियमों के कुछ वर्ष बाद मध्य प्रदेश तथा ट्रावनकोर आदि राज्यों

में इसी प्रकार के बाल अधिनियम पारित किये गये। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सौराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद और मैसूर में भी ऐसे ही अधिनियम लागू किये गये।

भारत सरकार ने 1960 में केन्द्र-शासित प्रदेशों के लिए एक केन्द्रीय बाल अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम को एक आदर्श बाल अधिनियम मान कर आज देश के अनेक प्रान्तों में इसे लागू किया जा रहा है। इस अधिनियम के प्रमुख उपबन्ध निम्नांकित हैं :—

(1) इस अधिनियम के अन्तर्गत बालक से मतलब है ऐसा लड़का जिसने 16 वर्ष की आयु पूरी नहीं की है या ऐसी लड़की जिसने 18 वर्ष की आयु प्राप्त नहीं की है। 'अपराधी बालक' से मतलब है ऐसा बालक जिसे अपराध करने का दोषी ठहराया गया है। उपेक्षित बालक से मतलब एक ऐसे बालक से है जो भीख मांगता पाया जाता है, अथवा जिसके बारे में यह पाया जाता है कि उसका कोई घर या निश्चित निवास-स्थान या जीवन-निर्वाह के प्रत्यक्ष साधन नहीं हैं या जो निराश्रित पाया जाता है, चाहे वह अनाथ हो या नहीं, अथवा जो वेश्यागृह में या वेश्या के साथ रहता है या बहुधा ऐसे स्थान पर जाता है जो वेश्यावृत्ति के प्रयोजनार्थ उपयोग में लाया जाता है या जिसके बारे में यह पाया जाता है कि वह किसी वेश्या का या किसी अन्य ऐसे व्यक्ति का साथ करता है जो अनैतिक, भ्रष्ट या दुराचारी जीवन व्यतीत करता है।

(2) बाल कल्याण बोर्ड की स्थापना—उपेक्षित बालकों के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन एक बाल कल्याण बोर्ड के गठन का प्राविधान है जो एक अध्यक्ष तथा ऐसे सदस्यों से मिलकर बनेगा जिन्हें मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्रदान की जायेंगी। बोर्ड के सदस्यों में एक महिला सदस्य भी होगी।

(3) बालक न्यायालय का गठन :—अपराधी बालकों के सम्बन्ध में इस अधिनियम के अधीन एक बालक न्यायालय का गठन प्रत्येक जिले में किया जायेगा जिसके ज्येष्ठ मजिस्ट्रेट को प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट की शक्तियाँ प्राप्त होंगी। कोई भी व्यक्ति बाल कल्याण बोर्ड के सदस्य अथवा बालक न्यायालय में मजिस्ट्रेट के रूप में तब तक नियुक्त नहीं किया जायेगा जब तक वह प्रशासक की राय से बाल-मनोविज्ञान तथा बाल कल्याण का विशेष ज्ञान न रखता हो।

(4) **बालक गृहों की स्थापना**—इस अधिनियम के अधीन बालक गृहों की स्थापना पर्याप्त संख्या में आवश्यकतानुकूल की जाने का प्राविधान है। इन बालक गृहों में उपेक्षित बालकों के लिए आवास, सुविधा, भरण-पोषण, चिकित्सकीय परीक्षा तथा उपचार की सुविधाओं की व्यवस्था के अतिरिक्त उपयोगी उपजीविका की सुविधाओं की व्यवस्था भी की जायेगी।

(5) **उपेक्षित बालकों का बाल कल्याण बोर्डों के समक्ष पेश किया जाना**—यदि किसी पुलिस अधिकारी की या अन्य ऐसे व्यक्ति की, जो प्रशासक के साधारण या विशेष आदेश द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किया गया हो, यह राय हो कि कोई व्यक्ति दृश्यमानतः उपेक्षित बालक है तो ऐसा पुलिस अधिकारी या अन्य प्राधिकृत व्यक्ति उस बालक को बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है। यदि बोर्ड ठीक समझता है तो वह धारा 15 की उपधारा (2) के अधीन बालक को बालगृह भेजने के स्थान पर बालक के माता-पिता, संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति की देख-रेख में रखने का आदेश बालक के सदाचार और उसकी भलाई के लिए और ऐसी शर्तों के अनुपालन के लिए, जिन्हें अधिरोपित करना बोर्ड ठीक समझे, उत्तरदायी होने पर प्रतिभू सहित या रहित बन्ध-पत्र ऐसे माता-पिता, संरक्षक या योग्य व्यक्ति द्वारा निष्पादित किये जाने पर, कर सकेगा। यदि किसी समय बोर्ड को परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट प्राप्त होने पर या अन्यथा यह प्रतीत हो कि बालक के बारे में उसके द्वारा अधिरोपित शर्तों में किसी का उल्लंघन हुआ है तो वह आवश्यक जाँच करने के पश्चात् यह आदेश कर सकेगा कि बालक को बालक गृह में भेजा जाय। यदि बालक के माता-पिता या संरक्षक बोर्ड से यह शिकायत करें कि वे बालक की उचित देखरेख करने और उस पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हैं तो बोर्ड आवश्यक कार्यवाही के उपरान्त उस बालक को संप्रेक्षण गृह में भेज सकने का अधिकारी होगा।

(6) **अपचारी बालकों की जमानत और अभिरक्षा**—जब कोई बालक जमानतीय या अजमानतीय अपराध का अभियुक्त हो, गिरफ्तार या निरुद्ध किया जाये अथवा बालक न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाये तब दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1898 में या अन्य किसी तत्समय लागू विधि में अन्तर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी उस बालक को प्रतिभू सहित या रहित जमानत पर छोड़ दिया जायेगा। किन्तु उसे उस समय नहीं छोड़ा

जायेगा जबकि यह सम्भावना हो कि उसका संग किसी कुख्यात अपराधी से होगा या वह पुनः नैतिक खतरे में पड़ जायेगा और मुक्ति के न्यायिक उद्देश्य विफल हो जायेंगे।

(7) **अपचारी बालकों के बारे में बालक न्यायालय द्वारा जाँच एवं आदेश**—बालक न्यायालय अपने समक्ष उपस्थित किए गए बालकों के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच करने के उपरांत (1) बालक को उपदेश या भर्त्सना के पश्चात् घर जाने दे सकेगा, (2) बालक को सदाचरण की परिवीक्षा पर छोड़ने और माता-पिता, संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति की देखरेख में रहने का आदेश, बालक के सदाचार और उसकी भलाई के लिए प्रतिभू सहित या रहित तीन वर्ष से अधिक की कालावधि के लिए बंध-पत्र ऐसे माता-पिता, संरक्षक या अन्य योग्य व्यक्ति द्वारा निष्पादित किए जाने पर, कर सकेगा, (3) बालक को निम्नलिखित समय के लिए विशेष विद्यालय में भेजने का निदेश देने वाला आदेश कर सकेगा :

(अ) चौदह वर्ष से अधिक आयु के लड़के या सोलह वर्ष से अधिक आयु की लड़की की दशा में तीन वर्ष से कम कालावधि के लिए।

(ब) किसी अन्य बालक की दशा में तब तक के लिए जब तक वह बालक न रह जाये।

(8) **अधिकारियों की नियुक्ति**—प्रशासक उतनी संख्या में परिवीक्षा अधिकारी तथा विशेष विद्यालयों, बालक गृहों, सम्प्रेक्षण गृहों और पश्चाद्-वर्ती देख-रेख संगठनों के निरीक्षण के लिए अधिकारी तथा जो अन्य ऐसे अधिकारी इस अधिनियम के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक समझे, नियुक्त कर सकेगा।

(9) **बाल परिवीक्षा अधिकारियों के कर्तव्य**—इन अधिकारियों के निम्न-लिखित कर्तव्य होंगे—(क) अपराध के अभियुक्त किसी बालक के पूर्ववृत्त और कौटुम्बिक इतिहास की जाँच सक्षम अधिकारी के निर्देशा-नुसार इस दृष्टि से करना कि उस प्राधिकारी को जाँच करने में सहायता हो, (ख) उपेक्षित और अपचारी बालकों को ऐसे अन्तरालों पर जाकर देखते रहना जैसा परिवीक्षा अधिकारी ठीक समझें, (ग) किसी उपेक्षित या अपचारी बालक के व्यवहार के बारे में सक्षम प्राधिकारी को रिपोर्ट देना, (घ) उपेक्षित या अपचारी बालक को आदेश और सहायता प्रदान करना और यदि आवश्यक हो तो उसके लिए उपयुक्त नियोजन का पता लगाने का प्रयास करना, (ङ) जहाँ कोई उपेक्षित या अपचारी बालक

किसी व्यक्ति की देख-रेख में किन्हीं शर्तों पर रखा जाये वहाँ यह देखना कि क्या उन शर्तों का अनुपालन किया जा रहा है तथा (च) अन्य ऐसे कर्तव्यों का पालन करना जो विहित किये जायें।

केन्द्रीय बाल अधिनियम, 1960 से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ

केन्द्रीय बाल अधिनियम, 1960 के लागू होने के बाद से लेकर आज तक के अनुभवों के आधार पर कुछ मूलभूत समस्याएँ उपस्थित हुई हैं। इनमें से प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं :

(1) जिन राज्यों में केन्द्रीय बाल अधिनियम, 1960 लागू किया गया है उनमें से बहुत से राज्यों में बालक का तात्पर्य 16 वर्ष से कम आयु के लड़के या लड़की से है। बाल अधिनियम के अनुसार लड़की की आयु 18 वर्ष से कम की निर्धारित की गई है।

(2) अधिकांश राज्यों में उपेक्षित, अपराधी तथा पीड़ित बालकों के मामलों को निपटाने के लिए एक ही संस्था बाल न्यायालय है। केन्द्रीय बाल अधिनियम में उपेक्षित तथा अपराधी बालकों के निपटारे की पृथक् व्यवस्था की गई है। बाल कल्याण मंडल उपेक्षित बालकों की देख-रेख करता है और बाल न्यायालय अपराधी बालकों के मामले तय करता है।

(3) यद्यपि बाल कल्याण मंडल एक अनौपचारिक संस्था है परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि जिन राज्यों में यह संस्था बनी है, वहाँ पर यह संस्था साधारणतः औपचारिकता के साथ कार्य करती है।

(4) बाल न्यायालयों की कार्यवाही में वकीलों को भाग लेने की अनुमति नहीं प्रदान की गई है। यह प्राविधान मानव अधिकारों तथा संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का उल्लंघन है।

(5) अधिकांश राज्यों के प्रत्येक जिले में बाल न्यायालयों की स्थापना आज तक नहीं की जा सकी है अतः बाल अपराधी साधारणतः फौजदारी की अदालतों में प्रस्तुत किये जाते हैं।

(6) देश भर में बाल न्यायालयों की संख्या सौ से भी कम है।

(7) देश के अधिकांश राज्यों में बाल सहायता पुलिस की टुकड़ियों (जुवेनाइल ऐड पुलिस यूनिट) की स्थापना नहीं हुई है अतः बाल अपराधियों के विषय में कार्यवाही साधारण पुलिस के कर्मचारियों द्वारा ही की जाती है। इन पुलिस के कर्मचारियों की कार्यप्रणाली सहानुभूति एवं सद्भावना

पर आधारित न होकर मार-पीट, डाँट-डपट पर आधारित होती है। पुलिस आज भी बाल अपराधियों के प्रति अपने पुराने तौर-तरीके से कार्य करती है।

(8) पुलिस के द्वारा आज भी बाल अपराधी हथकड़ी डालकर फौजदारी के मुकदमे सुनने वाले मजिस्ट्रेटों की अदालतों में प्रस्तुत किये जाते हैं। पुलिस की यह कार्यविधि केन्द्रीय बाल अधिनियम के प्राविधान के विरुद्ध है।

(9) बहुधा देखने में आता है कि पुलिस दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 107, 108 तथा 109 के अंतर्गत उन बालकों को कारागार भेज देती है जिन्हें किसी निजी स्थान, मोहल्ले तथा सार्वजनिक क्षेत्र में शांति भंग करने, न्यूसेंस कारित करने अथवा अवारागर्दी करते पाया जाता है और जिनका कोई जमानतदार नहीं होता। चूँकि इन बालकों के बारे में पुलिस द्वारा कोई आरोपपत्र (चार्जशीट) नहीं प्रस्तुत किया जाता है अतः इस तरह से पकड़े गये अधिकांश बालक कारागार में महीनों तक सड़ा करते हैं।

(10) जिन राज्यों में बाल न्यायालयों की स्थापना नहीं हुई है उनमें बाल अपराधियों के मामलों को निपटाने का उत्तरदायित्व जुडीशियल मजिस्ट्रेट को सौंपा गया है। फौजदारी के मुकदमे सुनने वाले इस प्रकार के मजिस्ट्रेट बाल अपराधियों के मामलों को भी वयस्क अपराधियों की ही भाँति सुनते हैं। इस प्रकार की न्यायिक कार्यविधि बाल न्यायलयों की अनौपचारिक कार्यविधि की भाँति न होकर औपचारिकता पर बल देती है। इस प्रकार के मजिस्ट्रेट बाल-मनोविज्ञान तथा बाल कल्याण की आधुनिक चिकित्सात्मक विधियों से अनभिज्ञ होने के कारण बाल सुधार के दर्शन को न्यायिक स्वरूप प्रदान कर सकने में असमर्थ रहते हैं।

(11) बहुधा बाल न्यायालयों तथा जुडीशियल मैजिस्ट्रेटों को परिवीक्षा अधिकारियों की सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं। इस स्थिति में बाल अपराधियों के मामलों पर दिये जाने वाले निर्णय परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट को बिना प्राप्त किये दिये जाते हैं। इस प्रकार की न्यायिक कार्यविधि बाल अधिनियमों में वर्णित न्यायिक कार्यविधि के विपरीत है।

प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदन की भूमिका एवं कार्य

बाल अधिनियमों के अंतर्गत उस समय तक, जब तक कि मामले पर अदालत द्वारा विचार किया जा रहा है, बालक को प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदन में सुरक्षा के दृष्टिकोण से रखा जाता है। इस प्रकार के सदनों की स्थापना का प्राविधान बालकों को विचाराधीन कैदियों वाले कारागार में न रखने के लिए किया गया है। इन सदनों का उद्देश्य बाल अपराधियों को वयस्क अपराधियों के कुत्सित प्रभाव से बचाना तथा उन्हें भौतिक सुरक्षा, स्वच्छ वातावरण और स्वास्थ्यकर रहन-सहन का अवसर प्रदान करना है। इन सदनों का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य बालकों का अवलोकन तथा उनके परिवार एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना भी है।

पुलिस जैसे ही किसी अपराधी बालक को पकड़ती है या परिवीक्षा अधिकारी अथवा कोई अन्य अधिकृत व्यक्ति बालक के अपराधी होने की शिकायत करता है, उसे तुरंत बाल न्यायालय के सन्मुख प्रस्तुत किया जाता है। बाल न्यायालय बालक के मामले की सुनवाई करने के बाद बालक के हित को ध्यान में रख कर उसे या तो जमानत पर छोड़ सकता है या उसे किसी प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदन की देखरेख में रखने का आदेश दे सकता है। बाल अधिनियमों के अंतर्गत पुलिस का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह बालक को गिरफ्तार करने के 24 घंटे के भीतर परिवीक्षा अधिकारी को इसकी सूचना दे दे। यह व्यवस्था इसलिए की गई है कि परिवीक्षा अधिकारी को उस बालक का सम्पूर्ण विवरण, नाम और पता अपनी सामाजिक जांच के कार्य को पूरा कर सकने के लिए उपलब्ध हो सके। पुलिस द्वारा इस सूचना को प्राप्त करने के उपरांत परिवीक्षा अधिकारी बालक के जीवन-वृत्त और उस सामाजिक पृष्ठभूमि का पता लगाता है जो उस बालक की वर्तमान अवस्था का कारण हो सकती है। वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधि पर आधारित यह अध्ययन इस विश्वास पर किया जाता है कि बहुधा अधिकांश बाल अपराधी बालक, पारिवारिक, घर, पड़ोस अथवा स्कूल के कटु अनुभवों के कारण अपराधी या आवारा बनते हुए पाये जाते हैं। यह सामाजिक अध्ययन इस मान्यता को स्वीकार करके किया जाता है कि बाल अधिनियम एक दंडात्मक अधिनियम न होकर बालक की रक्षा तथा उसके सुधार का अधिनियम है।

प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदन में बालक के रहने की अवधि में उसकी समस्त कार्य-विधियों को सावधानी से देखा और समझा जाता है तथा उसका रोग-निर्णय

किया जाता है। इस कार्य में वैयक्तिक सेवा-कार्यकर्ताओं, मनोवैज्ञानिकों, मनो-चिकित्सकों तथा बाल कल्याण के विशेषज्ञों की भी सहायता लेने का प्रयत्न किया जाता है। प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदन में रहने की अवधि में, जो कुछ सप्ताह से लेकर तीन मास तक की हो सकती है बालक को उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता को देखते हुए किसी न किसी उपयोगी कार्य में व्यस्त रखा जाता है। चूँकि पर्यवेक्षण सदन में बालक केवल उतनी ही अवधि तक रखा जाता है जब तक उसका मामला बाल न्यायालय के समक्ष विचाराधीन रहता है, अतः इन सदनों में बालकों को शिक्षा अथवा दस्तकारी की दीर्घकालीन सुविधाएँ नहीं प्रदान की जातीं।

प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदनों की कमियाँ

देश के विभिन्न राज्यों में बाल नियमों के अंतर्गत जिन प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदनों की स्थापना की गई है उनकी कार्यविधियों में निम्नांकित कमियाँ पाई जाती हैं :

(1) देश के समस्त प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदनों में अपचारी, तिरस्कृत, अनाथ या निराश्रित बालकों को एक ही साथ रखा जाता है। चूँकि इन समस्त प्रकार के बालकों की समस्याएँ भिन्न भिन्न होती हैं अतः बालकों का वैयक्तिक रोग-निर्णय, पृथक्करण की सुविधाओं के अभाव में, ठीक से नहीं हो पाता।

(2) अधिकांश प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदनों में स्थानाभाव पाया जाता है जिसके कारण इन सदनों में सदैव ही भीड़-भाड़ का वातावरण बना रहता है। इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि इस प्रकार के सदन उस प्रकार की पुरानी इमारतों में स्थापित किये गये हैं जिनमें रोशनी, धूप तथा क्रीड़ा के साधनों की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकती।

(3) अधिकांश प्रतिप्रेषण/पर्यवेक्षण सदनों में न्यायालय द्वारा भेजे गये बालकों का वैज्ञानिक वर्गीकरण इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि इनमें परिवीक्षा अधिकारियों, मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों, शिक्षाविदों तथा दस्तकारी अध्यापकों की सेवाएँ उचित मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पातीं। इस स्थिति में ये सदन केवल सुरक्षा सदनों की भाँति काम करते हैं।

प्रमाणित स्कूलों/स्वीकृत स्कूलों की भूमिका एवं कार्य

अपराधी बालकों के सुधार एवं पुनर्वासन के हेतु देश के विभिन्न बाल अधिनियमों के अन्तर्गत प्रमाणित स्कूलों/स्वीकृत स्कूलों की स्थापना का प्राविधान

उनके दीर्घकालीन उपचार और प्रशिक्षिण के हेतु निर्मित किया जाता है। इन स्कूलों में बालकों की समुचित व्यवस्था के अतिरिक्त वैयक्तिक सेवाकार्य, पढ़ाई-लिखाई, औद्योगिक तथा दस्तकारी प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रत्येक बालक के सुधार एवं उपचार की माँग को ध्यान में रखकर करने की व्यवस्था सैद्धांतिक रूप से स्वीकार की गई है। ये स्कूल दंड सम्बन्धी संस्था न होकर सुधार संस्था के रूप में कार्य करने का लक्ष्य रखते हैं तथा बाल अपराधियों का सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। इन स्कूलों में बाल अपराधियों के नियंत्रण, सुरक्षा तथा आमूल सुधार की ऐसी व्यवस्था की जाती है जो उनके परिवार, समुदाय अथवा समाज में उपलब्ध नहीं हो पाती और जिसके अभाव में वे बाल अपराधी बन जाते हैं।

स्वीकृत स्कूलों/प्रमाणित स्कूलों की परिसीमाएँ

जिन परिसीमाओं के बीच देश भर में स्वीकृत/प्रमाणित स्कूल अपना कार्य कर रहे हैं वे निम्नांकित हैं :—

(1) इन संस्थाओं में योग्य प्रशिक्षित, कुशल एवं कर्मठ अधीक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति कर पाने की समस्या प्रत्येक राज्य में पाई जाती है।

(2) राज्यों में अधिकांश स्वीकृत/प्रमाणित स्कूल उन इमारतों में स्थापित हैं जो इस कार्य के लिए विशेष रूप से नहीं बनाई गई हैं। अनुपयुक्त भवन की व्यवस्था के अभाव में ये संस्थाएँ अपना सुधारात्मक उद्देश्य पूरा कर सकने में बहुधा असमर्थ रहती हैं। इन स्कूलों में भौतिक सुविधाओं के अभाव के कारण प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनके प्रशिक्षण तथा उपचार की व्यवस्था नहीं हो पा रही है।

(3) इन स्कूलों मे बुनाई, सिलाई, बढ़ईगीरी के जो परम्परागत उद्यम संवासियों को सिखाये जाते हैं उनकी व्यावसायिक उपयोगिता कम है।

(4) इन स्कूलों से मुक्त संवासियों की उत्तर-रक्षा के लिये कोई भी कार्यक्रम नहीं उपलब्ध है। फलतः मुक्त संवासियों का बहुत बड़ा भाग पुनः अपराधी बनने की सम्भावना रखता है।

●

अध्याय 6

दण्ड

प्रस्तावना

आदिम युग के समाजों की व्यवस्था से लेकर आधुनिक युग के समाजों तक की व्यवस्था में जिन सामाजिक नियंत्रण की विधियों का वर्णन मिलता है उन्हें मोटे तोर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम वे जिनका आधार है समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार को कुशलतापूर्वक निभाने वाले व्यक्तियों को पुरस्कृत करना जिससे वे तथा समाज के अन्य व्यक्ति प्रोत्साहित होकर प्रशंसनीय कार्य करें, तथा दूसरे वे जिनका आधार है उस प्रकार के कार्य करने वाले व्यक्तियों को दंडित करना जिन्होंने सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं तथा कानूनों का उल्लंघन करके कोई ऐसा हेय कृत्य किया है जो सामाजिक व्यवस्था के हितों के प्रतिकूल है। पुरस्कार एवं दण्ड इस प्रकार मानव समाज में प्राप्त नियंत्रण की विधियों में प्रमुख हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के सकारात्मक, सामाजिक एवं विधि-संमत व्यवहार के लिए समाज में पुरस्कार प्रदान करने के अनेक स्वरूप तथा साधन पाये जाते रहे हैं, ठीक उसी प्रकार से दण्ड के स्वरूपों तथा साधनों का भी एक विस्तृत इतिहास है।

दण्ड का यह इतिहास कहाँ से और किस युग से प्रारम्भ होता है, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है, परन्तु इसके बावजूद हम स्वीकार करके चलते हैं कि प्रत्येक समाज में दण्ड देने की कोई न कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी। आदिम समाजों में अपराधियों को दण्ड देने तथा आहत व्यक्ति के परिवार के और सदस्यों कबीले के मुखिया के द्वारा प्रदान की जाने वाली परम्परा का वर्णन लोई की पुस्तक में प्राप्त होता है।[1] इन समाजों में जो सामाजिक कानून

1. रावर्ट एच० लोई, प्रिमिटिव सोसाइटी (न्यूयार्क : 1925), पृ० 425।

बने हुए थे उनको तोड़ने वालों को समाज का शत्रु मानकर कठोर दण्ड दिया जाता था और इस दण्ड देने की प्रक्रिया में हिंसात्मक युद्ध भी होते रहते थे। सामाजिक विकास की सामन्तवादी व्यवस्था में दण्ड का अधिकार सम्राट् को था जिसके नाम पर कानून बने हुए थे और जिसकी इच्छा का पालन न्याय तथा व्यवस्था बनाये रखने वाले प्रशासक भक्तिपूर्वक किया करते थे। राज्य की उत्पत्ति के साथ समस्त प्रभुसत्ता एक व्यक्ति या एक परिवार में नहीं निहित रह गई और राज्य को ही यह अधिकार दिया गया कि वह उन कार्यों को अपराध घोषित करे जो समाज तथा व्यक्ति के हितों को क्षति पहुँचाते हैं। इस व्यवस्था में न्यायपालिका दण्ड देने के लिए केवल उन्हीं विधियों का प्रयोग करती थी जिनका वर्णन अपराधिक संहिता में किया गया था। दण्ड की यही व्यवस्था आज भी चली आ रही है। केवल दण्ड की कठोरता, दण्ड देने के लिए प्रयोग में लाई गई विधियों तथा दण्ड के मान्य उद्देश्यों में सामाजिक दर्शन के अनुरूप परिवर्तन किये गये हैं। दण्ड इस प्रकार कानून का एक अभिन्न अंग है। कानूनों के अभाव में दण्ड का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, अर्थात् वही कार्य तथा वही व्यक्ति दण्ड का भागी हो सकता है जिसे न्याय-व्यवस्था दण्ड देने के लिए संकेत करती है और उसे उतना ही तथा उसी प्रकार का दण्ड दिया जा सकता है जिसकी आज्ञा न्यायालय में दण्ड देने वाले व्यक्ति या संस्था के द्वारा प्रदान की गई है। दण्ड के दर्शन, इसके प्रमुख उद्देश्यों तथा इसके प्रकारों एवं विधियों में जो परिवर्तन होते आये हैं उनका आधार कानून अवश्य है परन्तु चूँकि कानून एक निश्चित सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में विकसित होते हैं अतः सरलता से यह कहा जा सकता है कि दण्ड के विकास का इतिहास परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था के दर्शन का इतिहास है।

दण्ड का अर्थ एवं परिभाषा

मानव स्वभाव की विशेषता है कि वह अपने द्वारा उठाई गई शारीरिक या आर्थिक क्षति अथवा पीड़ा का बदला लेना चाहता है और इस बदला लेने की प्रवृत्ति की प्रमुख प्रतिक्रिया अथवा परिणाम दण्ड है।[1] दण्ड इस प्रकार प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा की भावना का एक मूर्त स्वरूप तथा अभिव्यक्ति है। समाज दण्ड के माध्यम से सामाजिक तथा वैयक्तिक हितों के बीच सम्भावित या वास्तविक संघर्ष से उत्पन्न असंतुलन को ठीक करने का प्रयत्न करता है और दण्ड को अपराध का स्वाभाविक मूल्य मानता है।

---

1. डोनल्ड आर० टैफ्ट, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1953), पृ० 311।

सामाजिक न्याय की एक विधि होने के कारण दण्ड के प्रत्यय में दो प्रमुख विचार आवश्यक रूप से निहित हैं—(1) दण्ड एक विशिष्ट समूह के द्वारा सामूहिक हैसियत में उस व्यक्ति को प्रदान किया जाता है जो उसी समूह का सदस्य है। (2) इस दण्ड को देने की प्रक्रिया में पीड़ा निहित है और यह पीड़ा जान-बूझकर किसी सामाजिक मान्यता को ध्यान में रख कर पहुँचाई जाती है।[1]

रेकलेस ने दण्ड की परिभाषा करते हुए कहा कि दण्ड सामाजिक नियंत्रण की एक विधि है जिसके माध्यम से एक समूह किसी व्यक्ति के द्वारा की गई गलती, उसके द्वारा पहुँचाई गई हानि तथा उसके कार्य से तोड़ी गई प्रथा अथवा कानून की क्षतिपूर्ति का रास्ता ढूंढ़ता है। सत्ताधारी व्यक्ति दण्ड को एक ऐसी विधि मानते हैं जिससे व्यक्तियों को नियंत्रण में रखकर यथापूर्व स्थिति बनाई रखी जाती है और उन्हें कानून का पालन करने के लिए प्रेरित किया जाता है।[2] वेस्टर मार्क के अनुसार "दण्ड उन पीड़ाओं तक सीमित है जो अपराधी को उस समाज के नाम पर एक निश्चित ढंग से दी जाती है जिसका वह स्थायी या अस्थायी सदस्य है।"[3] क्रेसी ने दण्ड की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की : "दण्ड उन व्यक्तियों को जान-बूझकर पहुँचाई जाने वाली पीड़ा है जो उत्पात करते हैं और जिनका व्यवहार अवांछनीय है। दण्ड केवल प्रतिशोध तथा अमूर्त न्याय के लिये ही नहीं दिया जाता है। दण्ड का उद्देश्य सामाजिक हितों की रक्षा करना है।"[4]

दण्ड के प्रमुख अवयव एवं तत्व

मुनहट के अनुसार दण्ड के तीन प्रमुख अवयव हैं[5] :—

(1) अपराध की तात्कालिक तथा अनिवार्य खोजबीन एवं अभियोजन-प्रक्रिया जिससे अपराधी को पता चल सके कि अपराध से लाभ नहीं होता है।

---

1. एडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिंसिपिल्स आफ क्रिमिनालोजी (बम्बई : 1968), पृ० 256।
2. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम (बम्बई : 1970), पृ० 487।
3. एडवर्ड वेस्टर मार्क, दि ओरिजिन ऐन्ड डेवलपमेन्ट आफ मारल आइडियाज (लन्दन : 1906), पृ० 169।
4. मैक्स ग्रुनहट, पेनल रिफार्म : ए कम्पैरेटिव स्टडी (आक्सफोर्ड : 1948), पृ० 3।
5. पूर्वोल्लिखित, पृ० 3।

(2) दण्ड पाने के बाद अपराधी को नई जिन्दगी प्रारम्भ करने की सुविधा देना।

(3) जो राज्य व्यक्ति को दण्डित करने का अधिकार रखता है उसे उच्च मानवीय मूल्यों को बनाये रखना चाहिए जिससे अपराधी यह महसूस कर सके कि उसे दण्ड एक विशेष उद्देश्य के लिए दिया गया है।

हाल के मत में दण्ड के प्रमुख तत्व निम्नांकित हैं[1] :—

(1) दण्ड एक पीड़ा या कष्ट है।

(2) यह भयात्मक होता है।

(3) यह राज्य की प्रभुसत्ता के नाम पर सत्ताधारी व्यक्तियों के द्वारा दिया जाता है।

(4) यह उन व्यक्तियों को दिया जाता है जिन्होंने किसी कानून का उल्लंघन करके समाज को क्षति पहुँचाई है।

(5) यह कानून तथा उसके उल्लंघन की घटना पर आधारित होता है, तथा

(6) इसकी कठोरता व्यक्ति के कुकृत्य की गम्भीरता तथा उसके मनोभावों एवं सामाजिक दशाओं पर आधारित होती है।

रेकलेस के अनुसार दण्ड के पाँच प्रमुख तत्व हैं[2] :—

(1) इसके द्वारा पीड़ा या अन्य अप्रिय अनुभव प्रदान किये जाते हैं।

(2) इसको किसी कानून के उल्लंघन के अपराध में दिया जाता है।

(3) इसे उस व्यक्ति को दिया जाता है जिसने अपराध किया है।

(4) इसे आवश्यक रूप से किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा प्रदान किया जाता है जो स्वयं अपराधी नहीं है।

(5) यह उस सत्ताधारी व्यक्ति या समूह के द्वारा दिया जाता है जिसे राज्य की वैधानिक व्यवस्था से दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है।

दण्ड के प्रमुख कार्य

दण्ड के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) वास्तविक या संदिग्ध अपराधी की गैर-सरकारी प्रतिकार से रक्षा करना।

---

1. जरोमे हाल, जनरल प्रिन्सिपिल्स आफ क्रिमिनल ला (लंदन : 1960), पृ० 31।
2. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित, पृ० 490।

(2) उस प्रकार के कार्यों की संख्या को घटाना जिन्हें कानून के द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया है।
(3) नागरिकों में एक ऐसा भय उत्पन्न करना जिससे वे असामाजिक तथा अवैधानिक कार्य न करें।
(4) अपराधियों के प्रति प्रतिशोध की भावना का प्रदर्शन करना, उन्हें दण्ड देकर प्रायश्चित्त कराना, समाज के हितों की रक्षा करना तथा अपराधियों का सुधार एवं पुनर्वासन करना।

दण्ड की आवश्यकता

प्रतिशोध, प्रायश्चित्त, भय-प्रदर्शन, रक्षा, पुनर्वासन तथा उपचार दण्ड के ऐसे प्रमुख औचित्य रहे हैं जिनपर जनता का विश्वास रहा है और जिन्हें जनता दण्ड के प्रमुख आधारों के रूप में स्वीकार करती रही है। दण्ड के इन सभी आधारों में निहित विश्वास अपराधिकता को नियंत्रित करना तथा उन लोगों का कानून में विश्वास बढ़ाना है जो विधि-संगत व्यवहार को स्वीकार करते हैं। टाबी ने दण्ड को इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक आवश्यक प्राविधान माना और कहा कि समाज के सम्मुख अपराधिकता को नियंत्रित करने का दण्ड के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है।[1]

बेकारिया ने दण्ड देने की आवश्यकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि दण्ड देने की आवश्यकता उस समय उत्पन्न हुई जब सामाजिक संविदा के आधार पर समाज के व्यक्तियों में एक साथ सुरक्षापूर्वक रहने का विचार प्रचलित हुआ और यह स्वीकार किया जाने लगा कि मनुष्य अपने स्वभाव से ही स्वार्थी है और वह अपने फायदे के लिए दूसरों को नुकसान पहुँचा सकता है। इस प्रकार के व्यक्तियों को नियंत्रण में रखने तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को बनाये रखने के लिए दण्ड देने की आवश्यकता स्वीकार की जाने लगी। बेकारिया के विचार में दण्ड इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक अति-उत्तम विधि है।

दण्ड के सिद्धान्त

दण्डशास्त्र के सम्पूर्ण इतिहास में दण्ड के जिन बदलते हुए स्वरूपों का

---

1. जैकसन टाबी, "इज पनिशमेन्ट नेसेसरी" ? जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 55, नं० 3, सितम्बर, 1964, पृ० 333–337।

वर्णन उपलब्ध होता है उन्हें उनके उद्देश्यों की भिन्नता तथा साधनों की उपादेयता के आधार पर सैद्धान्तिक व्याख्या का आधार बनाया जाता रहा है। गिलिन ने दण्ड के सिद्धान्त का अर्थ बताते हुए कहा कि ये सिद्धान्त समाज की उन क्रियाओं की बुद्धिसंगत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं जो अपराधियों के सन्दर्भ में समय समय पर प्रयोग में लाई जाती रही हैं। दण्डशास्त्र के समस्त सिद्धान्त गिलिन के मत में समाज की संस्कृति, प्रचलित विश्वास, दर्शन, धार्मिक प्रत्ययों तथा आधुनिक व्यवहार विज्ञानों की विचारधाराओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं। पाश्चात्य सभ्यता वाले देशों में चार प्रमुख सामाजिक दर्शनों से दण्ड के सिद्धान्त प्रभावित होते रहे हैं—ग्रीक दर्शन, रोमन विधि-शास्त्र, जूडो-क्रिश्चियन धर्म तथा आधुनिक विज्ञान।[1] सदरलैण्ड तथा क्रेसी[2] ने दण्ड के समस्त सिद्धान्तों को सांस्कृतिक समान-रूपता के सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट किया। उनके मतानुसार दण्ड का उद्देश्य तथा दण्ड की विधियाँ एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में बदलती रहती हैं। जिस युग में शारीरिक कष्ट उठाना मानव की स्वाभाविक नियति समझी जाती थी उस समय दण्ड का वह सिद्धान्त लोगों को सरलता से मान्य था जिसका उद्देश्य अपराधी को शारीरिक पीड़ा पहुँचाना था।

चूँकि आधुनिक युग में शारीरिक पीड़ा पहुँचाना राज्य की नीति तथा सामाजिक दर्शन में मानव के बर्बर होने का प्रतीक माना जाता है अतः दण्ड के शारीरिक पीड़ा पहुँचाने वाले रूप का पतन हो जाना आवश्यक था। इस युग में अपराधी के प्रति दण्डात्मक प्रतिक्रिया के स्थान पर सुधारात्मक प्रतिक्रिया को महत्ता सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के दर्शन के आधार पर ही प्रदान की गई है और शारीरिक पीड़ा तथा मृत्यु दण्ड के स्थान पर कारावास के एक ऐसे स्वरूप का अभ्युदय हुआ है जिसका उद्देश्य अपराधी का सुधार करके समाज की रक्षा करना है। वर्तमान युग के स्वतंत्रतावादी दर्शन में कारागार की दीवारों को अपराधी-सुधार तथा अपराध-नियंत्रण की दिशा में अनावश्यक एवं हानिकारक माना जा रहा है। इस युग में दण्ड का वह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता जिसका उद्देश्य अपराधी को एक दास की भाँति स्वीकार करके उसे निन्दित तथा तिरस्कृत करना था।

---

1. जान एल० गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1935); पृ० 218।
2. इडविन एच० सदरलैण्ड ऐण्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 298–300।

दण्ड के सिद्धान्तों का वर्गीकरण

अपराध की अवधारणा तथा अपराधी-व्यवहार की प्रेरक शक्तियों से सम्बद्ध विश्वास तथा मान्यताएँ समय समय पर दण्ड के दर्शन एवं इसके सिद्धान्तों को निर्धारित करती आई हैं। इस तथ्य की स्वीकृति के ही आधार पर दण्ड के समस्त सिद्धान्तों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—(1) पूर्व-शास्त्रीय सिद्धान्त, (2) शास्त्रीय सिद्धान्त और (3) नव-शास्त्रीय सिद्धान्त।

(1) पूर्व-शास्त्रीय सिद्धान्त

दण्ड का यह सिद्धान्त उस पुरातन युग में प्रचलित था जब अपराध एक पापमय कृत्य माना जाता था और अपराधी को पापी समझकर दण्ड इसलिए दिया जाता था कि उसका पापमयी प्रवृत्तियों से उद्धार हो सके या प्रेतात्माओं के प्रभाव से उसकी मुक्ति हो सके। समाज की इस आदिम अवस्था में जो भी सामाजिक व्यवस्था प्रचलित थी उसका आधार धर्म था और धर्म के प्रति विद्रोह तथा धार्मिक नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को दण्ड द्वारा इसी जीवन में नरक जैसे कष्ट भोगने के लिए मजबूर किया जाता था। धर्म के प्रति जनता में अविश्वास पैदा करने वाले व्यक्तियों को अपराधी मानकर पत्थरों से मारा जाता था या उन्हें फाँसी के तख्ते पर लटका दिया जाता था। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त 16वीं शताब्दी तक के समाज के इतिहास में उपलब्ध हैं। दण्ड के इस सिद्धान्त को प्रतिशोधात्मक माना जाता है। ग्रीस, रोम, ईसाई तथा यहूदी सभ्यता के प्राचीन इतिहास में दण्ड में निहित प्रतिशोध की भावना को प्रायश्चित्त करने का एक प्रमुख धार्मिक अनुष्ठान माना गया था। अरस्तू ने इस प्रकार के दण्ड को "यथोचित न्याय" का एक प्रमुख आधार बनाया और कहा कि इससे समाज लाभ तथा हानि, सुख एवं दुःख तथा उचित और अनुचित के बीच सन्तुलन स्थापित करता है। इसी दण्ड के माध्यम से कष्ट तथा हानि उठाये हुए व्यक्ति की क्षति-पूर्ति हो सकती है और इसी से आहत व्यक्ति तथा उसे आहत करने वाले अतिक्रमणकारी व्यक्ति दोनों को उचित न्याय मिलता है।

इसी युग में दण्ड का एक अन्य सिद्धान्त भी पाया जाता है जिसमें व्यक्ति को अपने समस्त अच्छे या बुरे कार्यों के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी समझकर दण्ड का भागीदार माना जाता था। दण्ड का यह सिद्धान्त अपराध के कारणों की व्याख्या के उस सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है जिसमें कहा जाता है कि व्यक्ति अपनी "स्वतंत्र इच्छा" के अनुसार अपराधी कार्य करता , अर्थात् अपराध करना अपराधी व्यक्ति का वैयक्तिक निर्णय है और इसका समस्त उत्तरदायित्व केवल उसी व्यक्ति पर है।

दण्ड के उपर्युक्त वर्णित दोनों ही सिद्धान्त उस युग की धार्मिक मान्यताओं पर आधारित हैं जब धर्म को निरपेक्ष नहीं माना जाता था और समस्त राजकीय तथा प्रशासनिक व्यवस्था पाप-पुण्य, नैतिकता-अनैतिकता तथा अच्छाई-बुराई की धर्म-प्रदत्त व्याख्याओं से ओत-प्रोत थी। दण्ड के इन पूर्व-शास्त्रीय सिद्धान्तों की परम्परा उस समय तक चलती रही जब तक अपराध-शास्त्र में सकारात्मक सम्प्रदाय का जन्म लाम्ब्रोसो तथा उनके अनुयायियों द्वारा नहीं किया गया।

(2) शास्त्रीय सिद्धान्त

दण्ड का शास्त्रीय सिद्धान्त सोलहवीं, सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी की न्यायिक व्यवस्था के प्रति किये गये विद्रोह से उत्पन्न हुआ था। इस युग में न्यायाधीशों को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त थे कि वे मनमाना दण्ड दे सकते थे। अपने "विवेक" को प्रयोग में लाकर न्यायाधीश एक ही प्रकार के अपराध के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार के दण्ड देते रहते थे। दण्ड प्रदान करने का कोई मानक इस युग में नहीं पाया जाता और दण्ड की भेदमूलक तथा पक्षपाती न्याय-व्यवस्था पूरे जोर शोर से प्रचलित थी। बेकारिया, बेन्थम तथा फ्यूरबाक ने इस न्यायिक व्यवस्था को अन्यायपूर्ण बताया और कहा कि इसमें न्यायाधीशों को इतने अधिकार प्राप्त हैं कि वे मनमानी कर सकते हैं। इन तीनों विचारकों ने रूसो के सामाजिक संविदा के सिद्धान्त से प्रभावित होकर न्याय प्रदान करने की प्रचलित विधियों की कटु आलोचना की। बेकारिया (इटली); बेन्थम (इंगलैण्ड) तथा फ्यूरबाक (जर्मनी) दण्ड के शास्त्रीय सम्प्रदाय के जनक इसलिए माने जाते हैं क्योंकि इन विद्वानों ने उस युग की न्याय-व्यवस्था में निहित दण्ड के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन करने के लिए आन्दोलन चलाया और दण्ड देने के लिए मानकों का निर्धारण किया।

इन विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायाधीशों के विवेकाधीन अधिकारों में कमी की जाये और दण्ड के उन स्वरूपों को समाप्त कर दिया जाये जो क्रूर, बर्बर तथा अमानवीय हैं। इन विद्वानों का विचार था कि प्रत्येक अपराध के लिए दण्ड निश्चित होना चाहिए और एक प्रकार के समस्त अपराधियों को एक ही प्रकार का दण्ड मिलना चाहिए। अपराधिक संहिता में अपराधों की सूची के साथ साथ उन समस्त दण्डों का भी उल्लेख होना चाहिए जो इन अपराधों के विरुद्ध अपराधियों को न्यायालय द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इन विद्वानों की मूल मान्यता थी कि दण्ड अपराधी के अनुरूप न होकर अपराध के अनुरूप होना

चाहिए—अर्थात् गम्भीर अपराध के लिए कठोर दण्ड तथा साधारण अपराध के लिए सरल दण्ड। दण्ड की इस व्यवस्था को शास्त्रीय दण्ड के सम्प्रदाय को माननेवाले विद्वानों ने तर्कसंगत तथा न्यायपूर्ण बताया और कहा कि इस प्रकार की न्यायिक व्यवस्था में दण्ड की मात्रा (सरलता एवं कठोरता) को बड़ी ही कुशलतापूर्वक निर्धारित किया जा सकता है। व्यापक शब्दों में, बेकारिया तथा बेन्थम जैसे विधि-विशेषज्ञों का यह मत था कि न्याय की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान समझे जाने चाहिए और उनके साथ भेद-भाव की नीति नहीं बरती जानी चाहिए।

दण्ड के शास्त्रीय सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की गई :—

(1) यह अनुचित है कि प्रत्येक व्यक्ति को गणित के अंकों की भाँति समान समझा जाये और वैयक्तिक भेदों तथा स्वभाव एवं परिस्थितियों पर बिना ध्यान दिए हुए एक ही प्रकार के साधनों को प्रयोग में लाया जाये। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपने में एक अपवाद है अतः दण्ड अपराध को ध्यान में रखकर नहीं वरन् अपराधी व्यक्ति के चरित्र, स्वभाव तथा उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दिया जाना चाहिए जिनके वशीभूत होकर उसने अपराध किया है।

(2) दण्ड के इस सिद्धान्त द्वारा न्याय के स्थान पर अन्याय होने लगा क्योंकि सभी अपराधियों को एक ही जैसा माना गया अर्थात् प्रथम बार परिस्थितिवश अपराध करनेवाले अपराधियों तथा स्वाभाविक अपराधियों को एक ही प्रकार के दण्ड दिये जाने की व्यवस्था बन गई।

(3) दण्ड की समान न्यायिक व्यवस्था अपने में एक स्वांग थी क्योंकि इससे अपराधी के इरादों को ध्यान में न रखकर केवल उसके द्वारा किये गये अपराध को ध्यान में रखा जाता था।

(4) इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था में अपराधी पहले से ही जानता था कि उसको कितनी और कैसी सजा मिलेगी। ऐसे पूर्व-ज्ञान के कारण अपराधी अपराधिक कार्य से उपलब्ध लाभ तथा हानि का अन्दाजा लगा लेता था और यदि उसे लाभ की अधिक सम्भावना प्रतीत होती थी तो वह अपराध करने में हिचक नहीं महसूस करता था।

(5) दण्ड का यह सिद्धान्त अपराधी द्वारा अन्य व्यक्ति को पहुँचाई गई चोट को ही ध्यान में रखता था और इस बात को बिलकुल महत्व नहीं देता था कि अपराधी की मनोदशा क्या है अथवा उसका स्वभाव अपराधी है या नहीं।

(6) दण्ड का यह सिद्धान्त कल्पना तथा आदर्श की भावना को लेकर चलता था जबकि अपराधिक कानूनों के उचित पालन एवं कार्यान्वयन की आवश्यकता है मूल वास्तविकता के पहचानने की।

(7) यद्यपि दण्ड की पूर्व-निर्धारित समान विधियाँ सरलता से प्रयोग में लाई जा सकती हैं परन्तु इस सरलता के कारण बहुधा अन्याय होने की पूरी पूरी सम्भावना बनी रहती है।

(3) नव-शास्त्रीय सिद्धान्त

यद्यपि दण्ड का नव-शास्त्रीय सिद्धान्त दण्ड के शास्त्रीय सिद्धान्त की ही भाँति व्यक्ति की अपराधिकता को उसकी मुक्त इच्छा का फल मानकर समस्त उत्तरदायित्व व्यक्ति पर ही रखता है परन्तु इस सिद्धान्त में दण्ड देने की न्यायिक व्यवस्था अपरिवर्तनीय न होकर परिवर्तनीय थी। न्यायाधीशों के विवेक को कम करने की माँग इस सिद्धान्त के अनुयायियों ने भी की परन्तु फिर भी उन्होंने कहा कि प्रत्येक अपराध के लिए वर्णित न्यूनतम तथा अधिकतम दण्ड के बीच के अन्तर को केवल न्यायाधीशों के ही द्वारा तय किया जा सकता है। इसलिए न्यायाधीशों से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे अपराधी व्यक्ति को दण्ड देने के लिए उसके चरित्र, स्वभाव, जीवन की परिस्थिति तथा अपराध करानेवाले दबावों को ध्यान में रखकर अपराधिक संहिता में वर्णित न्यूनतम तथा अधिकतम दण्ड के बीच की दूरी को बड़ी सूझ-बूझ के साथ मापकर दण्ड की अवधि तथा दण्ड का प्रकार कुशल विवेक द्वारा निर्धारित कर सकें। मेन्सरिया (अपराध करने का इरादा अथवा प्रवृत्ति या योजना) अपराधी को दण्ड देने का प्रमुख आधार होनी चाहिए। दण्ड के इस सिद्धान्त को अपराधमूलक न कहकर अपराधीमूलक कहा जाता है क्योंकि इसमें दण्ड अपराधी के कृत्य को ध्यान में रखकर नहीं दिया जाता वरन् उसके स्वभाव तथा परिस्थितियों को महत्वपूर्ण समझकर दण्ड की मात्रा तथा प्रकार का निर्धारण किया जाता है। दण्ड के निर्धारण की यह न्यायिक व्यवस्था निर्धारित दण्डों के अल्पीकरण का अधिकार रखती है और अपराध के उत्तरदायित्व को अपराधी की मानसिक परिपक्वता, पागलपन, उसकी अल्प बुद्धि तथा अन्य विशेष परिस्थितियों के आधार पर तय करने का प्रयत्न करती है। दण्ड के इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

(1) दण्ड के इस सिद्धान्त में उन अपराधियों को माफ करने की मान्यता है जिनके बारे में यह सिद्ध हो जाये कि उनके अपराधी कार्य में अपराध

करने की इच्छा अनुपस्थित थी या उन्होंने उन दशाओं के प्रभाव में आकर अपराध किया है जिसमें मुक्त इच्छा का ठीक से प्रयोग कर पाना उनके लिए दुष्कर था।

(2) इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड की मात्रा (कठोरता तथा सरलता) अपराधिक कार्य के पीछे पाई जानेवाली मुक्त इच्छा के होने या न होने के अनुसार बढ़ती या घटती रहती है और अपराधिक कार्य के उत्तरदायित्व का निर्धारण अपराध को ध्यान में न रखकर वरन् उनके अपराधी इरादों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

(3) यह सिद्धान्त अपराध करने की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दण्ड के कम करने या बढ़ाने के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करता है।

(4) यह सिद्धान्त अपराधियों को कठोर तथा शारीरिक पीड़ा पहुँचाने वाली दण्ड की सामाजिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध है और दण्ड के शास्त्रीय सिद्धान्त की उस विचारधारा का विरोध करता है जिसमें यह कहा गया है कि अपराधी को दण्ड उसके अपराध को ध्यान में रखकर दिया जाना चाहिए और अपराधी के वैयक्तिक जीवन की दशाओं (जिनके वशीभूत होकर उसने अपराध किया है) को दण्ड देते समय ध्यान में नहीं रखना चाहिए।

(5) चूँकि मुक्त इच्छा के विचार को इस सिद्धान्त में अधिक महत्व नहीं दिया गया है अतः इस सिद्धान्त की मान्यता है कि न्यायाधीश कानून की लकीर के फकीर न होकर कानून के मानवतावादी सामाजिक दर्शन को ध्यान में रखकर अपराधियों को दण्ड प्रदान करें।

(6) यह सिद्धान्त दण्ड प्रदान करने की न्यायिक व्यवस्था में वैयक्तिक तत्वों का समायोजन करने की मान्यता को स्वीकार करता है, अर्थात् अपराध के स्थान पर अपराधी की दशाओं के मूल्यांकन का विचार प्रमुख मानता है।

(7) यह सिद्धान्त इस बात को मानकर चलता है कि दण्ड का उद्देश्य केवल अपराधियों को कारागार में रखकर समाज की रक्षा करना मात्र नहीं है बल्कि दण्ड के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—पहला समाज की रक्षा तथा दूसरा अपराधियों का सुधार एवं उनका पुनर्वासन।

(8) दण्ड के इस सिद्धान्त में दण्ड का उद्देश्य प्रतिकार, प्रतिशोध तथा प्रतिहिंसा न होकर अपराधी का उपचार तथा उसका चारित्रिक पुनर्गठन है।

(9) दण्ड का यह सिद्धान्त अपराध तथा अपराधी के सुधार के लिए "सामाजिक रक्षा" के व्यापक कार्यक्रमों पर बल देता है।

(10) इस सिद्धान्त के लोकप्रिय होने से अपराधी-सुधार के अनेक कार्यक्रमों का जन्म हुआ है तथा बाल एवं वयस्क अपराधियों को दण्ड देने के हेतु निर्मित संस्थात्मक व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन सम्भव हुए हैं। इसी सिद्धान्त के प्रभावस्वरूप न्यायविधि के सुधार का आन्दोलन एक विशिष्ट सुधारवादी दिशा के मार्ग पर अग्रसर हो सका है।

दण्ड के प्रमुख उद्देश्य

दण्ड के जिन प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख अपराधशास्त्र के साहित्य में किया जाता है वे निम्नलिखित हैं :—(1) प्रतिशोध, (2) प्रायश्चित्त, (3) भयात्मकता, (4) सामाजिक रक्षा और (5) अपराधी का सुधार।

(1) प्रतिशोध

दण्ड का प्रतिशोधात्मक उद्देश्य इस धारणा पर आधारित है कि अपराधी को उसके कुकृत्य के ही अनुसार दण्ड प्राप्त होना चाहिए। हमरब्बी संहिता में आँख के लिए आँख तथा दाँत के लिए दाँत निकाल लिये जाने की बात 1875 ई० पू० में कही गई थी। उस युग में दण्डशास्त्रियों तथा न्यायाधीशों ने दण्ड के इस विचार को सर्वोच्च माना और सामान्य जनता में यह धारणा जाग्रत की कि अपराधी के साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा कि उसने अन्य व्यक्तियों के साथ किया है। दण्ड का यह उद्देश्य हानि-पूर्ति की उस सहज प्रक्रिया पर आधारित है जिसमें खून का बदला खून से लेने पर बल दिया जाता है। आदिम समाजों में पाई जाने वाली दण्ड-व्यवस्था में प्रतिशोध की सहज मानवीय भावना को दण्ड का एक मात्र उद्देश्य माना जाता था। यदि किसी व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को चोट पहुँचाई है तो उस व्यक्ति या उसके सह-योगियों का यह अधिकार हो जाता है कि चोट पहुँचाने वाले व्यक्ति को उतनी ही चोट उसी तरीके से पहुँचा दी जाए जितनी कि उसने दूसरे व्यक्ति को पहुँचाई है। गिलिन ने दण्ड की इस विधि को व्यक्तिगत प्रतिशोध की एक सहज विधि माना है। सामन्ड ने कहा कि दण्ड का प्रतिशोधात्मक उद्देश्य इस बात को उचित मानता है कि बुराई का बदला बुराई से लिया जाना चाहिए और जिस व्यक्ति ने जैसा व्यवहार किया है उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए। इस प्रकार के दण्ड का दर्शन उस स्वाभाविक न्याय की प्राप्ति का माध्यम है जिसमें अपराधी के द्वारा पहुँचाई गई हानि तथा पीड़ा को उतनी ही हानि तथा पीड़ा पहुँचा कर प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था में अपराधी अपने अपराधिक कृत्यों का मूल्य चुकाता है और जो पीड़ा वह भोगता है वह

समाज में न्याय का संतुलन बनाये रखती है। प्रतिशोधात्मक दण्ड का उद्देश्य यह देखना है कि अपराधी अपने जीवन में ही अपने अपराध के लिए नरक भोगता है।

समय के अन्तराल में दण्ड के प्रतिशोधात्मक उद्देश्य का पतन हुआ और विद्वानों ने इसे बर्बर, अनैतिक तथा अमानवीय माना। प्रतिशोधात्मक दण्ड की व्यवस्था की आलोचना करते हुए मैकऐनी ने निम्नलिखित चार तर्क प्रस्तुत किये[1] :—

(1) जब हम आज भी निश्चित रूप से नैतिक दोष की परिभाषा नहीं कर पाए हैं तब हमें यह अधिकार नहीं प्राप्त होता है कि हम अपराधी को अपने मनमाने ढंग से दंडित करें और उसके साथ मनचाहा बदला लें।

(2) निष्प्रतिफल पीड़ा पहुँचाना अपने ही में एक बड़ी गलती है।

(3) हम यह कैसे निर्धारित कर सकते हैं कि अपराधी को उसके अपराध के लिए कितनी और किस प्रकार की पीड़ा दी जानी चाहिए ?

(4) चूँकि वास्तविक न्याय के उद्देश्य को प्राप्त करने का कोई ऐसा सरल रास्ता अभी तक नहीं प्राप्त है जो तर्क-पूर्ण तथा वैज्ञानिक हो, अतः इस प्रकार के दण्ड का दर्शन दण्ड देने वाले व्यक्ति की व्यक्तिगत तथा अतार्किक प्रेरणाओं का स्वरूप मात्र है।

आस्टिन मैककारमिक ने दण्ड के प्रतिशोधात्मक उद्देश्य की आलोचना करते हुए कहा कि दण्ड का प्रतिशोधात्मक स्वरूप दण्ड के उस दर्शन का प्रतीक है जिसे आज के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पुरातन एवं लज्जात्मक माना जाना चाहिए। आधुनिक दण्डशास्त्री इस प्रकार के दण्ड के दर्शन को विधिक रूप से सही मानने के उपरान्त भी इसकी वास्तविक उपयोगिता पर शंका व्यक्त करते हैं।[2]

जो विद्वान् दण्ड के इस सिद्धान्त को उचित मानते हैं उनका कहना है कि प्रतिशोध प्रतिहिंसा न होकर समाज के उस न्यायिक संकल्प का फल है जिससे समाज अपने अधिकार को व्यक्ति पर लागू करता है।

यद्यपि दण्ड का यह उद्देश्य आज पूर्ण रूप से मान्य नहीं है परन्तु फिर

---

1. पैट्रिक डी० मैकऐनी, "पनिशमेन्ट ऐज रेफ्लेक्टेड इन प्रिवेलिंग आइडियोलोजीज", क्राइम ऐण्ड जस्टिस, वाल्यूम दो, पृ० 132।

2. आस्टिन मैककारमिक "दि प्रिजन्स रोल इन क्राइम प्रिवेन्शन", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 36, जनवरी, 1960, पृ० 41।

भी कुछ लोगों के दिलों में इसका महत्व बना हुआ है। साधारण नागरिक आज भी यह मान कर चलता है कि समाज में अपराध इसी प्रकार के दण्ड से कम हो सकते हैं। जिस समय समाज में गम्भीर अपराधों की संख्या बढ़ने लगती है उस समय साधारण नागरिक ही नहीं वरन् समाज के प्रबुद्ध नागरिक भी इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था की माँग करने लगते हैं। आधुनिक दण्डशास्त्री अभी तक यह पूर्ण रूप से सिद्ध नहीं कर पाये हैं कि इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था मानववादी युग में बर्बर, अमानवीय, अनैतिक, प्राचीन, प्रभावविहीन तथा घिनौनी है।

(2) प्रायश्चित्त

प्राचीन समय से ही प्रायश्चित्त दण्ड का न्यायसंगत आधार माना गया गया है। इस विचारधारा के अनुसार दण्ड का आधार अपराधी को अपने अपराधी कार्य के हेतु दण्ड में निहित दुःख के माध्यम से प्रायश्चित्त कराना था। दण्ड के माध्यम से अपराधी को प्रायश्चित्त कराने का विचार उस युग में उतना ही लोकप्रिय हुआ जितना दण्ड का प्रतिशोधात्मक विचार। रेकलेस के मत में दण्ड के ये दोनों उद्देश्य एक दूसरे के सहपूरक हैं। उन्होंने कहा कि जब दण्ड स्पष्ट अथवा सर्वसाधारण समुदाय की प्रतिशोधात्मक भावनाओं की पूर्ति के लिए दिया जाता है तब इस प्रणाली में पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त का तत्व सदैव विद्यमान रहता है।[1] सेलीलीज ने दण्ड के प्रायश्चित्तात्मक उद्देश्य को एक धार्मिक अनुष्ठान बताया और कहा कि आदिम समाजों में इस प्रकार के दण्ड से ईश्वरीय इच्छाओं की पूर्ति होती है।[2] ओपेनहाइमर ने इस प्रकार के दण्ड की तार्किकता की व्याख्या करते हुए कहा कि दण्ड की यह पद्धति अपराध को पाप के बराबर मानती है और इसीलिए पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त की उन विधियों का अनुमोदन करती है जो आदिम समाजों में अपराधियों को प्रदान की जाती थीं और जिनसे मानवीय भावनाओं के अतिरिक्त ईश्वरीय भावनाओं की भी पूर्ति होती थी।[3]

आधुनिक युग में दण्ड का उन सभी विधियों को बहिष्कार किया गया जिनमें अपराधी को जनता के सामने खड़ा करके शारीरिक या मानसिक पीड़ा

---

1. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम, पूर्वोल्लिखित, पृ० 503।
2. आर० सेलीलीज, इनडिवी जुअलाइजेशन आफ पनिशमेन्ट (बोस्टन : 1911), पृ० 129।
3. एच० ओपेनहाइमर, दि रैशनेल आफ पनिशमेन्ट (लन्दन : 1913), पृ० 188।

पहुँचाई जाती है। प्रतिशोधात्मक दण्ड के धीरे-धीरे समाप्त होने के साथ ही साथ दण्ड के उस उद्देश्य का भी खण्डन प्रारम्भ हुआ जिसका आधार अपराधी को पीड़ा पहुँचा कर उससे प्रायश्चित्त करना था। परन्तु आज भी सर्वसाधारण जनता में यह विश्वास बैठा हुआ है कि अपराधी को दण्ड इतना मिलना चाहिए जिससे वह यह महसूस कर सके कि वह अपने कार्यों के ही कारण इस पीड़ा का भागीदार बना है। इस प्रकार से जनता के मत में अपराधी का सुधार तभी हो सकता है जबकि वह अपने कार्यों के लिए प्रायश्चित्त करे और उस प्रकार के व्यवहार की पुनरावृत्ति न करने का निश्चय कर सके।

(3) भयात्मकता

दण्ड के मान्य उद्देश्यों में अधिकांश विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि दण्ड का उद्देश्य अपराधी को इस प्रकार का दण्ड देना है जिससे न केवल अपराधी व्यक्ति बल्कि वे समस्त व्यक्ति सीख प्राप्त कर सकें जो अपराध कर सकते हैं या अपराध करने का इरादा बनाये हुए हैं। दण्ड के इस उद्देश्य की मान्यता है कि यदि समाज अपराधियों को उनके कुकृत्यों के लिए दण्डित नहीं कर पाता है तो अन्य अपराधियों को इससे प्रोत्साहन मिलेगा और समाज में अपराध की घटनाएँ बढ़ेंगी। इस मान्यता को स्वीकार करने के तुरन्त बाद यह मानना पड़ेगा कि दण्ड लोगों में भय उत्पन्न करता है और समाज में अपराधों की संख्या को घटाता है। 18वीं शताब्दी से लेकर आज तक दण्ड के भयात्मक उद्देश्य तथा इससे उत्पन्न प्रभावों को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता है। रेकलेस ने कहा कि दण्ड का यही प्रकार सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रभावपूर्ण माना जाता रहा है। आधुनिक समाज में तो ऐसा लगता कि बस यही दण्ड की एक मात्र प्रणाली है जिस पर लोगों का विश्वास टिका हुआ है।[1]

बेकारिया ने 18वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में दण्ड के इसी आधार को तर्कसंगत माना था और भय उत्पन्न करने वाली दण्ड-विधियों को ही अपराध-निरोध की दिशा में प्रभावपूर्ण युक्ति के रूप में स्वीकार किया था।[2] उन्होंने दण्ड देने के लिए जिस विधि का अनुमोदन किया उसका अर्थ था कि अपराधी व्यक्ति को उतना ही कठोर अथवा सरल दण्ड मिलना चाहिए जितना उसका

---

1. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित, पृ० 503–504।
2. सिजारे बोनसीना बेकारिया, ऐन एसे आन क्राइम्स ऐण्ड पनिशमेण्ट (एडिनबर्ग : 1778), पृ० 51।

अपराध गम्भीर है या जिस सीमा तक उसने व्यक्ति तथा समाज को क्षति पहुँचाई है। बेकारिया ने यह माँग की कि न्यायाधीशों से वह अधिकार तथा विवेक छीन लेना चाहिए जिसके आधार पर वे मनमाने ढंग से दण्ड का प्रकार एवं दण्ड देने की विधियों को निर्धारित करते रहते हैं। चूँकि उनके मत में दण्ड का उद्देश्य अपराध की रोकथाम करना था अतः उन्होंने दण्ड को उस सीमा तक उचित समझा जहाँ तक इसकी आवश्यकता समाज में अपराधिकता को कम करने के लिए आवश्यक है।

बेकारिया ने दण्ड के वैयक्तीकरण की माँग की। उनका विचार था कि दण्ड का सर्वोच्च उद्देश्य अपराधी को पीड़ा पहुँचाना या उसके द्वारा किये गये अपराध का बदला लेना न होकर अपराधी को आगे अपराध करने से रोकना तथा अन्य लोगों को यह सीख प्रदान करना है कि वे अपराध न करें। उन्होंने दण्ड को एक शिक्षात्मक प्रक्रिया के रूप में देखा और कहा कि दण्ड उस विधि से दिया जाना चाहिए जिससे अपराधी बिना शारीरिक पीड़ा के स्वयं अपनी गलती को महसूस कर सके और दूसरों के लिए एक नसीहत स्थापित करे। उन्होंने यह भी कहा कि वही दण्ड-विधि अपराध को घटा सकती है जिसमें दण्ड देने वाली न्यायिक व्यवस्था शीघ्र अपना निर्णय दे सके और एक ही प्रकार के अपराधों के लिए एक ही जैसा दण्ड निर्धारित कर सके। उनका विचार था कि दण्ड की वही युक्ति प्रभावशाली होगी जिसमें सही अपराधी को सही दण्ड आवश्यक रूप से प्राप्त हो सके। दण्ड की कठोरता या भयात्मकता से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है दण्ड मिलने की अवश्यम्भाविता। इसी मान्यता को अपने तर्क का प्रमुख आधार बनाते हुए उन्होंने यह कहा कि कठोर, क्रूर तथा अमानवीय दण्ड के प्रकार अपराध को प्रभावशील ढंग से रोक सकने में असमर्थ हैं। वास्तव में इस प्रकार की दण्ड-प्रणाली अपराध को बढ़ाती है क्योंकि कठोर तथा अमानवीय दण्ड-विधियों की यातना से बचने के लिए अपराधी व्यक्ति और अधिक अपराध करने लगते हैं। इस प्रकार का दण्ड भोगने के बाद अपराधी व्यक्ति अपने मन में समाज के प्रति विद्रोह की भावना विकसित करता है और आगे चल कर और अपराध करने लगता है।

सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने दण्ड के भयात्मक सिद्धान्त की उपयोगिता पर टिप्पणी करते हुए कहा कि दण्ड के इस सिद्धान्त की प्रशंसा करने वाले सभी व्यक्ति इसकी सामाजिक उपादेयता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि चूँकि अपराधी व्यवहार दुःख तथा सुख-प्राप्ति के मनोभावों के सोच-विचार के बाद किया जाता है अतः भय उत्पन्न करने वाले दण्ड के स्वरूपों को

देखकर लोग यह समझेंगे कि अपराध करने से उन्हें जो सुख प्राप्त होगा उससे कहीं अधिक दुःख या यातना उठानी पड़ेगी। इस प्रकार की दण्ड-विधि को स्वीकार करने वाले सभी विद्वान् कठोर दण्ड के प्राविधानों की माँग करते हैं और कहते हैं कि दण्ड जितना ही कठोर होगा, लोग उतना ही अपराध करने से डरेंगे।

सदरलैंड तथा क्रेसी ने इस प्रकार दण्ड के औचित्य को नहीं स्वीकार किया और कहा कि इस प्रकार के दण्ड का सिद्धान्त मानव-व्यवहार-परिवर्तन की उस प्रक्रिया को सही मानता है जिसका आधार तर्क के स्थान पर विश्वास है। उन्होंने अपराध के "मुक्त इच्छा" सम्बन्धी सिद्धान्त को दोषपूर्ण बताया और कहा कि ऐसे बहुत से अपराधी होते हैं जो अपनी मन्दबुद्धिता तथा विवेकहीनता के कारण आवेश में आकर अपराध कर डालते हैं और जिनके पास अपने कृत्य की सामाजिकता तथा असामाजिकता को समझ पाने की न तो क्षमता है और न समय ही। इस प्रकार के अपराधियों के लिए दण्ड का यह सिद्धान्त न केवल गलत है वरन् अन्यायपूर्ण भी है।[1]

मैकएनी ने दण्ड के इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि इस प्रकार की दण्ड-पद्धति से जो भी सामाजिक लाभ होते हैं उनकी सफलता का मापदण्ड अपराध की संख्या का कम होना मात्र नहीं होना चाहिए। चूँकि इस प्रकार का दण्ड न्याय-प्रणाली की वर्तमान स्थिति को देखते हुए गलती से उन लोगों को भी मिल सकता है जो निर्दोष हैं, अतः हमें दण्ड के इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। साथ ही साथ दण्ड का उद्देश्य समाज में आतंक उत्पन्न करना नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे लोगों के मन में एक ऐसा भय उत्पन्न होगा जिसका प्रभाव सामाजिक मनस्थिति पर बड़ा ही दूषित होगा।[2]

रेकलेस ने कहा कि आधुनिक युग के सुधारवादी दण्डशास्त्री दण्ड के उन समस्त प्रकारों का विरोध करते हैं जो बर्बर, क्रूर तथा अमानवीय हैं। चूँकि दण्ड का भयात्मक सिद्धान्त ऐसे दण्ड का प्रस्ताव रखता है जिसमें हिंसा तथा प्रतिशोध की भावना निहित है अतः इसका महत्व आज के सुधारवादी युग में

---

1. इडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 289।
2. पैट्रिक डी० मैकएनी, पनिशमेन्ट ऐज रिफ्लेक्टेड इन प्रिवेलिंग आडियालोजीज, क्राइम ऐन्ड जस्टिस, वाल्यूम 2, पृ० 137।

नगण्य है। इस प्रकार का मत रखने वाले सभी विचारक दण्ड के भयात्मक सिद्धान्त की सम्पूर्ण अवधारणा को हेय समझते हैं और यह मानते हैं कि दण्ड का यह सिद्धान्त उन न्यायाधीशों तथा वकीलों की दिखावटी तर्क माया का फल है जो अपने स्वार्थ या अज्ञानवश अपनी रूढ़िवादिता से चिपके हुए हैं।[1] इलिंगटन ने लिखा कि आज जो हमारे पास मानव व्यवहार का ज्ञान उपलब्ध है उससे यह कहीं साबित नहीं होता है कि मनुष्य को डरा-धमका कर एक अच्छा, शान्तिप्रिय तथा कानून का पालन करने वाला व्यक्ति बनाया जा सकता है।[2]

जान सी० बाल ने कहा कि दण्ड का भयात्मक सिद्धान्त अधिकांशतः न्यायाधीशों तथा सामन्ड जैसे अन्तरराष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त विधि-विशेषज्ञों के जोरदार समर्थन के कारण इतना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है। उन्होंने कहा कि आज के युग में यूरोप, अमरीका तथा अन्य प्रगतिशील देशों में न केवल अपराधशास्त्री वरन् न्यायाधीश तथा विधि-विशेषज्ञ भी दण्ड के इस सिद्धान्त की वास्तविक महत्ता को शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं। इनमें से कुछ का तो मत है कि दण्ड का यह सिद्धान्त आदिम समाजों में पाई जाने वाली बर्बरता की एक निशानी है जिसे कुछ लोग आज के युग में भी सीने से लगाये बैठे हैं।[3]

वाल्टर सी० रेकलेस ने दण्ड के इस सिद्धान्त पर की गई अपनी आलोचना का समापन करते हुए लिखा कि यद्यपि दण्ड की भयात्मकता तार्किक रूप से प्रभावोत्पादक प्रतीत होती परन्तु इसके महत्व के औचित्य को मानने में मन में बड़ी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा इसलिए है कि इस प्रकार का दण्ड सदियों से चले आने के बावजूद अपराध को घटाने में सफल नहीं हुआ है और उन देशों में अपराध बढ़ते हुए पाये गये हैं जिनमें दण्ड देने का सर्वोच्च विचार लोगों में भय उत्पन्न करता है। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रकार की दण्ड-प्रणाली उन सभी अपराधियों के लिए अनावश्यक तथा व्यर्थ है जो क्षणिक आवेश तथा किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के दबाव में आकर अपराध कर बैठते

1. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित, पृ० 512।
2. जान आर० इलिंगटन, प्रोटेक्टिंग अवर चिल्ड्रेन फ्राम क्रिमिनल कैरियर (न्यूयार्क : 1948), पृ० 43।
3. जान सी० बाल, "दि डिटरेन्स कान्सेप्ट इन क्रिमिनालोजी", दि जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 44, नम्बर 3, अप्रैल, 1955, पृ० 337–352।

हैं और जिन्हें दण्ड के भयात्मक परिणामों को सोचने-समझने के लिए समय ही नहीं मिलता।[1]

(4) सामाजिक रक्षा

समाज की यह धारणा कि दण्ड की आवश्यकता अपराधियों द्वारा की गई लूट-मार की घटनाओं को रोकने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, दण्ड के उस विचार की उत्पत्ति का प्रमुख स्रोत मानी जाती है जिसमें सामाजिक रक्षा के लिए जेलों का निर्माण प्रमुख समझा गया था। उसी युग से कारावास को समाज की सुरक्षा की एक ऐसी विधि के रूप में देखा जा रहा है जिससे समाज अपराधियों को जेल की चहारदीवारी में बन्द करके चैन की नींद सोने का सपना देखता है। परम्परागत सामाजिक रक्षण के परिप्रेक्ष्य में जेलों का निर्माण इसी सपने को पूरा करने के लिए सम्भवतः किया गया था।

सैद्धान्तिक रूप से सामाजिक रक्षण का औचित्य दण्ड के रक्षात्मक सिद्धान्त में ही निहित प्रतीत होता है। परन्तु वास्तविक रूप में दण्ड के उस स्वरूप से समाज की उचित रक्षा नहीं हो सकती जिसमें जेलों को रक्षा का एकमात्र साधन मान लिया जाता है और इस प्रश्न पर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया जाता कि जेलों का वातावरण ऐसा हो जिसमें अपराधी सुधर सके और वहाँ से मुक्त होकर समाज में एक आदर्श नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत कर सके।

जेलों की स्थापना के बहुत समय पहले से ही अधिकांश देशों में कुछ ऐसे "दण्ड उपनिवेशों" का वर्णन उपलब्ध है जिनमें अपराधी व्यक्तियों को आजन्म रहने के लिए भेज दिया जाता था। इस प्रकार के उपनिवेश अधिकांशतः देश के उस क्षेत्र या भौगोलिक परिस्थिति में स्थित होते थे जिनकी जलवायु मानवीय जीवन के लिए हानिकारक होती थी। इन उपनिवेशों में दण्डित व्यक्तियों के ऊपर किये गये अत्याचारों की जो दर्दनाक कहानियाँ दण्ड की प्राचीन प्रणालियों के इतिहास में उपलब्ध हैं उन्हें सुनकर या पढ़कर मन दण्ड की इस व्यवस्था के प्रति क्रोध से भर आता है। मानव द्वारा मानव के विरुद्ध की जानेवाली हिंसा का जीता-जागता उदाहरण इन्हीं उपनिवेशों में उपलब्ध था। सामन्तवादी तथा साम्राज्यवादी राजनैतिक व्यवस्था के शिथिल होने तथा मानव सुधारवादी दर्शन में जनसाधारण का विश्वास बढ़ जाने से दण्ड की इस व्यवस्था की समाप्ति के

1. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित, पृ० 504।

प्रयत्न किये जाने लगे। परन्तु वस्तुस्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। दण्ड उपनिवेशों के स्थान पर उन कारागारों का निर्माण किया गया जिनमें मानव पशुओं की भाँति रखा जाता था और जहाँ अमानवीय, क्रूर, बर्बर तथा अशोभनीय दण्ड देने के लिए प्राविधान इसलिए बने थे क्योंकि लोगों का विश्वास था कि इसी प्रकार की जेलें लोगों में भय उत्पन्न कर सकती हैं। 16वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक कारागारों की यह व्यवस्था दण्ड के सामाजिक रक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रमुख आधार बनी रही।

(5) अपराधी का सुधार

16वीं शताब्दी की कारागार-व्यवस्था में निहित कठोरता तथा वहाँ पर कैदियों को दी जानेवाली यातनाओं के जो वर्णन पुस्तकों[1] में प्राप्त हैं उनसे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के कारागार समाज की रक्षा कर पाने में असमर्थ थे क्योंकि इनसे छूटे हुए व्यक्ति इतने बिगड़ जाते थे कि कारागार की चहारदीवारी से बाहर पैर रखते ही वे यह सोचने के लिए मजबूर हो जाते थे कि अपने द्वारा भोगी गई यातनाओं का बदला कैसे लिया जाए। इसके साथ ही साथ इन कारागारों के बने रहने से भी बाहर समाज में अपराध की घटनाएँ कम नहीं हुईं वरन् बढ़ती ही गईं। लोगों का विश्वास इस कारागार-व्यवस्था से हटने लगा और कारागार के कर्मचारियों से लेकर, न्यायाधीश, समाज-सुधारक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री एवं समाज-कार्यकर्ता भी इस व्यवस्था को बदलने के लिए चिल्लाने लगे। जान हावर्ड ने ब्रिटेन तथा अन्य देशों की जेलों की जिन अमानवीय दशाओं का चित्रण 18वीं शताब्दी में प्रस्तुत किया उससे लोगों को इस बात का पूरा अहसास हो गया कि इस प्रकार की कारागार-व्यवस्था अपराध-निरोध का अनावश्यक अंग है।

कारागार-सुधार के कार्यक्रमों के संचालन मात्र से ही दण्ड के सुधारवादी दर्शन का प्रारम्भ होता है। पुराने कारागारों के स्थान पर अमरीका, इंगलैण्ड

---

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखें—फायोडोर दोस्तोव्स्की, दि हाउस आफ दि डेड (लन्दन : 1962), राबर्ट एम० लिण्डर, स्टोन वाल्स ऐन्ड मेन (न्यूयार्क : 1946), जान बी० मार्टिन, ब्रेक डाउन दि वाल्स (न्यूयार्क : 1954), थामस एम० आसबार्न, विदिन प्रिजन वाल्स (न्यूयार्क : 1988), अलेक्जैन्डर पेटरसन, पेटरसन आन प्रिजन्स (लन्दन : 1951) तथा जे० सी० पावेल, दि अमेरिकन साइबेरिया (शिकागो : 1891)।

तथा यूरोप के अन्य देशों में सुधार-गृहों की स्थापना की गई जिनका उद्देश्य अपराधियों को मुक्त समाज से हटा कर उस प्रकार कारागारों में रखना था जिनका उद्देश्य उन्हें दण्ड देना न होकर सुधार करना था। कारागारों के बन्दियों के लिए काम करने के लाभप्रद तरीके, शिक्षा, मनोरंजन, तथा उनके रहने तथा खाने के लिए उचित आवास एवं भोजन की व्यवस्था पर बल दिया जाने लगा। बन्दियों के जीवन को कटु न बनाकर उसे सुखद बनाने के इन समस्त प्रयत्नों का उद्देश्य अपराधी सुधार की दिशा में प्रगति उपलब्ध करना तथा अपराधियों को सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना के बारे में प्रशिक्षित करना था।

कारावास-सुधार की इस योजना में दण्ड का उद्देश्य अपराधी का व्यवहार-परिवर्तन तथा उसका सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्वासन हो गया। 19वीं शताब्दी में प्रारम्भ किया गया दण्ड का यह नवीन दर्शन 20वीं शताब्दी के शुरू होते ही एक विश्वव्यापी आन्दोलन के रूप में विकसित हो गया। कुछ ऐसे दण्ड-सुधारकों तथा कारागार-व्यवस्था को आमूल परिवर्तित करने वाले व्यक्तियों के समूह स्थायी रूप से उत्पन्न हो गये जिनका कार्य अपराधी-सुधार की दिशा में हर सम्भव प्रयत्न करना था। अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्र को एक क्रान्तिकारी मोड़ देने वाले विद्वानों ने 19वीं तथा 20वीं शताब्दी के कारागारों को "अपराध की पाठशाला" की भी संज्ञा प्रदान कर डाली और अपने अपने अध्ययनों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जेलों का वातावरण आज भी उतना ही दूषित है जितना पहले था। इस प्रकार के अध्ययनों से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, उनको देखने से ऐसा लगता है कि कारागार-व्यवस्था अपने सुधारवादी कर्तव्य को ठीक से नहीं निभा पा रही है। इन समस्त विद्वानों ने कारागारों की वर्तमान प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की माँग की। कुछ ने तो कारागारों को समाप्त कर देने का भी प्रस्ताव दे डाला।[1] बर्नार्ड शा ने अपनी पुस्तक क्राइम आफ इम्प्रिज़नमेन्ट में कारावास की विधियों की भर्त्सना की।[2] सैनफोर्ड बेट्स ने लिखा कि वर्तमान कारागार-व्यवस्था खराब आदमी

---

1. फ्रैंक टेनेनबाम, वाल शैडोज़ (न्यूयार्क : 1922), पृ० 141 तथा मारिस फलाच, "आर प्रिज़न्स आउटडेटेड", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 47, नम्बर 4, नवम्बर-दिसम्बर, 1956, पृ० 440–453।
2. जार्ज बर्नार्ड शा, दि क्राइम आफ इम्प्रिज़नमेन्ट (न्यूयार्क : 1964)।

को और अधिक खराब बना सकती है।[1] गिलिन ने कहा कि हमारा यह सोचना कितना बड़ा धोखा है कि कारागारों में सुधार हो रहा है।[2]

सेनबार्न ने कहा कि यदि किसी को यह देखना है कि कारागारों में बन्दियों का कितना सुधार होता है तो उसे कारागारों में स्वयं जाना चाहिए; उसे पता चल जायेगा कि वहाँ सुधार के स्थान पर अपराधी बनाये जाते हैं।[3] हेन्टिग ने यह दावा किया कि कारागार वैयक्तिक पतन तथा विघटन की सबसे अच्छी संस्था है।[4] हेनीज ने कारागारों के सुधारवादी दर्शन की कटु आलोचना करते हुए लिखा है कि कारागारों के कृत्रिम वातावरण में व्यक्ति अच्छी बातें नहीं सीखता है, वहाँ कुछ दिन रहने के बाद जब वह बाहर आता है तब वह पहले से अधिक बुरा तथा खतरनाक व्यक्ति बन जाता है।[5] अमरीका के विधि-कार्यान्वियन तथा न्याय-प्रशासन आयोग ने अभी हाल में ही (1967) यह मत व्यक्त किया कि कारागारों में बन्दियों के रहन-सहन की दशाएँ क्रूर तथा अमानवीय हैं और उनके कारण अपराधी सुधरने के स्थान पर बिगड़ जाते हैं।[6] क्लाड पीपर ने *कारागार-व्यवस्था के दुर्गुणों से सम्बन्धित विवाद* पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा कि सच्चाई यह है कि हमारे कारागार तथा ऐसी अन्य सभी संस्थाएँ जिन्हें हम सुधार संस्थाएँ कहते हैं अपराधी का सुधार करने में पूरी तरह से असमर्थ हैं और इनमें से व्यक्ति मानसिक रूप से रुग्ण होकर बाहर निकलते हैं।[7]

---

1. सैनफोर्ड बेट्स, दि प्रिजन : असेट ऑर लायबिलिटी : ऐनल्स, वाल्यूम 293, मई, 1974, पृ० 1।
2. जान एल० गिलिन, टेमिंग दि क्रिमिनल (न्यूयार्क : 1931), पृ० 295–296।
3. फ्रैन्कलिन बी० सेनबार्न, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1954) पृ० 586।
4. हेन्सवान हेन्टिग, "दि लिमिट्स आफ पेनल ट्रीटमेन्ट" जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 32, नम्बर 4, 1941, पृ० 403।
5. अफ्रेल्ड ई० हेनीज, दि अमेरिकन प्रिजन सिस्टम (न्यूयार्क : 1936), पृ० 336।
6. गवर्नमेंट आफ यूनाइटेड स्टेट्स, चैलेन्ज आफ क्राइम इन ए फ्री सोसाइटी (वाशिंगटन : 1967), पृ० 159।
7. क्लाड पीपर, "प्रिजन्स इन टरमायल", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 36, नम्बर 4, दिसम्बर 1972, पृ० 3।

कारागार व्यवस्था की सीमितताओं से उत्पन्न दोष जिस कटु आलोचना का विषय बने उसका फल यह हुआ कि कारागार-प्रशासन एक बार फिर से यह सोचने के लिए मजबूर हो गया कि अपराधी सुधार तथा उनके व्यवस्थापन के लिए कौन से प्रयत्न किये जायें जिससे कारागार प्रशासन उन सुधारात्मक उद्देश्यों की पूर्ति कर सकने में समर्थ हो सकें जिनका उत्तरदायित्व उन्हीं के कन्धों पर है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि इधर के दशकों में कारागारों में सुधार अवश्य किये गये हैं परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि कारागार दण्ड के सुधारात्मक उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हो गये हैं।

कारागार-सुधारकों, अपराधशास्त्रियों तथा दण्डशास्त्रियों ने कारागार के माध्यम से होनेवाले अपराधी-सुधार के कार्य को सम्पादित करने के लिए जो भी प्रमुख सुझाव दिये उनका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :—

(1) कारागारों का उद्देश्य बन्दियों को तालों, सींकचों तथा ऊँची ऊँची दीवालों में बन्द करना, उन्हें खाने-पीने तथा आवास की सुविधाएं उपलब्ध कराना मात्र न होकर बन्दियों को आदर्श नागरिक बनाने का हर सम्भव प्रयत्न करना है जिससे वे एक बार मुक्त होकर दुबारा कोई अपराध न करें और पुनः कारागार में न आयें।

(2) अपराधियों का सुधार एवं पुनर्वासन एक सीखने की प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य है अपराधी को अपने कर्तव्यों तथा दूसरे के अधिकारों का समुचित ज्ञान कराना तथा अपराधी प्रवृत्तियों का त्याग कर कानून की निष्ठा को स्वीकार करना।

(3) अपराधी-सुधार की यह सिखाने तथा भुलाने वाली शैक्षिक प्रक्रिया स्वाभावतः व्यक्तिमूलक है अतः बन्दी में यह भावना उत्पन्न करना आवश्यक है कि वह स्वयं सोच सके कि उसके सुधार की आवश्यकता उसके तथा समाज दोनों के हित में है।

(4) बन्दियों को सुधारने तथा उनकी अपराधी मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए उस प्रकार के शिक्षात्मक, प्रशिक्षणात्मक तथा परामर्श सम्बन्धी कार्यक्रमों के आयोजन की आवश्यकता होगी जिससे अपराधी की सामाजिक क्षमताओं में वृद्धि हो सके।

(5) जब तक बन्दी को इस बात का विश्वास नहीं होगा कि उसे ठीक से रखा जायेगा तथा उसके साथ मानवीय व्यवहार किया जायेगा, तब तक उसके मन में न तो कारागार-व्यवस्था और न इस व्यवस्था के चलाने

वालों के प्रति आदर की भावना उत्पन्न हो सकेगी। अतः यह आवश्यक है कि बन्दियों को दण्ड देने की व्यवस्था में सावधानी बरती जाये।

(6) कारागारों में बन्दियों को दिये जाने वाले दण्ड का उद्देश्य उनसे बदला लेना न होकर उनका सुधार करना होना चाहिए।

(7) कारागारों में बन्दियों को दण्ड देने की समस्त अमानवीय विधियों को समाप्त करना इसलिए आवश्यक है कि इस प्रकार के दण्ड उनके मन में विद्रोह की भावना जाग्रत करते हैं।

(8) कारागारों का भीड़ भरा वातावरण अपने में ही एक बड़ी बुराई है अतः आवश्यकता है कि जेलों में बन्दियों की संख्या उतनी ही रखी जाये जितनी उनमें सुविधाएं हैं।

(9) कारागारों में बन्दियों से लिया जाने वाला कार्य, व्यावसायिक प्रशिक्षण ऐसा होना चाहिए जिसका प्रयोग वे बाहर के जीवन में अपनी रोजी-रोटी कमाने में कर सकें।

(10) कारागार में बन्दियों की शिक्षा तथा मनोरंजन के ऐसे कार्यक्रम आयोजित किये जाने चाहिए जिससे उनका चारित्रिक विकास सम्भव हो सके।

(11) कारागारों की सबसे बड़ी आवश्यकता है उनकी भवन तथा आवास व्यवस्था को ठीक करने की, अतः सुझाव यह दिया जाता है कि कारागारों की पुरानी इमारतों में आमूल परिवर्तन किये जाएं और नये कारागारों के लिए ऐसी इमारतें बनाई जाएं जो पुराने कारागारों से भिन्न दिखाई दें।

(12) कारागारों की अन्तिम परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है ऐसे कर्मचारियों का वहाँ पर होना जो अपराध-सुधार में विश्वास रखते हों, अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्र की आधुनिक विधियों से भली भाँति अवगत हों तथा अपने कार्य में रुचि रखते हों।

आधुनिक युग के दण्डशास्त्री इस तथ्य पर अपनी सहमति व्यक्त करते हैं कि दण्ड की कठोरता अपराध-निरोध तथा अपराधी-सुधार की एक सफल तथा महत्वपूर्ण विधि नहीं है। जब दण्ड का आवश्यक उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है तब आवश्यकता इस बात की है कि कठोर दण्ड को सरल तथा शिक्षात्मक बनाया जाये तथा दण्ड के अन्य ऐसे विकल्प ढूंढ़े जाएं जिनमें अपराधी का सुधार उसे कारागार की चहारदीवारी के अन्दर न रख कर उसे समाज तथा समुदाय के मुक्त वातावरण में रह कर अपने को सुधारने का अवसर प्राप्त हो। दण्ड के जिन सुधारात्मक विकल्पों को आज हम देख रहे हैं उनका विकास

सम्भवतः अपराधशास्त्र तथा दण्डशास्त्र की इसी नवीन प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ होगा। कुछ विद्वान् इन विकल्पों को दण्ड की आधुनिक प्रवृत्तियों की संज्ञा प्रदान करते हैं। ये आधुनिक दण्ड-विधियाँ निम्नांकित हैं :—(1) विमुक्ति, (2) क्षमा तथा लघूकरण, (3) दण्ड की कठोरता में कमी, (4) मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन, (5) कारावास के सुधारवादी दर्शन की स्वीकृति, (6) कारागारों में सन्तोषजनक व्यवहार करने पर दण्ड की अवधि में कमी, (7) अनिश्चित सजा, (8) पैरोल, (9) परिवीक्षा अथवा निलम्बित सजा, (10) जुर्माना तथा कम अवधि की सजाएँ, (11) दण्ड की सीमिततताएँ आदि।

(1) विमुक्ति

अधिकांश देशों में कुछ ऐसे परम्परागत नियम तथा वैधानिक विधियाँ आज के दण्ड के सन्दर्भ को देखते हुए उपलब्ध हैं जिनमें कुछ विशिष्ट प्रकार के अपराधियों को छूट दे दी जाती है। प्राचीन युग में दण्ड की अवधि तथा प्रकार में कमी करने का अधिकार राजाओं तथा शासकों को प्राप्त था। आधुनिक युग में यह अधिकार न्यायाधीशों को प्राप्त है। न्यायाधीशों से यह आशा की जाती है कि वे दण्ड का निर्धारण अपराधी व्यक्ति की अपराधिक प्रवृत्ति, अपराध करने के इरादे, उसकी मानसिक स्थिति, उसके जीवन की कठिन दशा, अज्ञान (कानून को न जानना), नशे की हालत, पागलपन, मन्दबुद्धिता, जोर-दबाव आदि की समस्त दशाओं को ध्यान में रख कर करेंगे। इसके साथ ही साथ बालकों को दण्डित करने में उनकी बाल्यावस्था की स्वाभाविक मानसिक तथा शारीरिक दशाओं को ध्यान में रखने की परम्परा इसी विमुक्ति के वैधानिक प्राविधान की एक अभिव्यक्ति है। गर्भवती स्त्रियों को इसी विमुक्ति के नियम के अन्तर्गत रख कर मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता है।

(2) क्षमा तथा लघूकरण

अपराधियों को उनके अपराध करने की परिस्थितियों तथा उनके जीवन की दुष्कर दशाओं को ध्यान में रखकर क्षमा कर देने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।[1] उस युग में क्षमा प्रदान करने का अधिकार देश के सम्राट् को था परन्तु लोक-राज्य की स्थापना के बाद यह अधिकार राष्ट्रपति को प्राप्त हो गया है। अधिकांश देशों में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह फाँसी पाये हुए

---

1. क्रिस्टेन जेनसिन, "पारडन्स", इनसाइक्लोपेडिया आफ सोशल साइंसेज (न्यूयार्क : 1933), वाल्यूम 11, पृ० 571।

अपराधियों को माफ करके उनकी मृत्यु-दण्ड की सजा को आजन्म कारावास में परिवर्तित कर दें। कठोर दण्ड को सरल दण्ड में परिवर्तित करने की इस प्रक्रिया को दण्ड-लघूकरण की एक स्वीकृत विधि के रूप में आज के समस्त समाजों में स्वीकार किया जा रहा है। दण्ड-लघूकरण की यह विधि जनता के हित को ध्यान में रखते हुए प्रयोग में लायी जाती है।

(3) दण्ड की कठोरता में कमी

आज विश्व के अधिकांश देशों में लोगों का विश्वास दण्ड की उस प्रणाली में नहीं रह गया है जिसका उद्देश्य अपराधी को शारीरिक यातनाएँ प्रदान करना हो।[1] जेलों में कैदियों को कोड़े मारने तथा उनका खाना बन्द कर देने की परम्परा समाप्तप्राय है। दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की अवहेलना के साथ ही साथ अपराधियों को आज शारीरिक पीड़ा नहीं पहुँचाई जाती है।[2] मृत्यु-दण्ड के क्षेत्र में जिस उन्मूलनकारी आन्दोलन को आज हम देख रहे हैं उसका एक उद्देश्य यह भी है कि मृत्यु-दण्ड को इसलिए हटाना आवश्यक है क्योंकि इस दण्ड में फाँसी पाने वाला व्यक्ति बड़ी पीड़ा झेलता है।

(4) मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन

आज विश्व के अनेक प्रगतिशील देशों में मृत्यु-दण्ड का प्राविधान अपराधिक कानून की पुस्तकों से हटा लिया गया है और जिन देशों में आज भी मृत्यु-दंड का प्राविधान है उनमें मृत्यु-दण्ड को केवल पाँच या छह प्रकार के घोर अपराधों के लिए ही प्रदान किया जाता है। इसके साथ ही साथ विश्व के उन समस्त देशों में मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का अभियान बड़े जोर शोर के साथ चल रहा है जहाँ आज भी इस प्रकार का दण्ड दिया जा रहा है। इन देशों के मृत्यु-दण्ड के आँकड़ों को देखने से यह विदित होता है कि मृत्यु-दण्ड पाये हुए अधिकांश अपराधियों को आजन्म कारावास हो जाता है और जिन शेष बचे हुए अपराधियों को दण्ड मिलता है उनकी संख्या में प्रतिवर्ष काफी कमी होती आ रही है।

(5) कारावास के सुधारवादी दर्शन की स्वीकृति

कारावास का प्राचीन उद्देश्य अपराधियों को कारागारों में रखकर समाज को उनकी अशोभनीय तथा अपराधिक क्रियाओं से बचाना था। कारावास की दण्ड-प्रणाली का यह दर्शन अपराधियों को सुधारने पर बल नहीं देता था, वरन्

1. हैरी इलमर बार्न्स, दि स्टोरी आफ पनिशमेन्ट (बोस्टन : 1930)
2. विलियम ऐन्ड्र्यूज, ओल्ड टाइम पनिशमेन्ट्स (हल : 1890)

इस बात पर बल देता था कि कारागारों का उद्देश्य अपराधी तत्वों को समाज की नजरों से दूर रखना है। आधुनिक युग में कारागारों का उद्देश्य अपराधियों को केवल दीवारों, सीकचों तथा तालों में बन्द करके रखने का नहीं है वरन् उनका वहाँ पर सुधार करना है जिससे वे कारागार से मुक्ति पाने के बाद समाज में आदर्श नागरिक की भाँति जीवन बिता सकें। 16वीं शताब्दी से दण्ड की इस नवीन विचारधारा का प्रादुर्भाव होता है और आज करीब 400 वर्ष के उपरान्त कारागार-प्रशासन एक ऐसे स्थान पर आ गया है जिसमें कारागारों को सुधार की संस्था के रूप में सरलता से स्वीकार किया जाने लगा है। जेलों की पुरानी दण्डवादी व्यवस्था परिवर्तित होकर सुधारवादी व्यवस्था लगने लगी है। प्राचीर-विहीन कारागारों की स्थापना इस दिशा में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है।

(6) कारागारों में संतोषजनक व्यवहार करने पर दण्ड की अवधि में कमी

कारागार की आधुनिक सुधारवादी व्यवस्था में अपराधियों के व्यक्तीकरण की एक ऐसी मान्यता स्वीकृत है जिसमें कारागार के अन्दर उत्तम आचार-व्यवहार प्रदर्शित करने वाले बन्दियों को उनके सन्तोषजनक व्यवहार के आधार पर छूट के कुछ दिन पुरस्कार के रूप में प्रदान किये जाते हैं और ये छूट के दिन उनके दंड की निश्चित अवधि को घटाते रहते हैं। फल यह होता है कि कारागार में संतोषजनक व्यवहार प्रदर्शित करने वाले बन्दी अपनी सजा की निश्चित अवधि से पहले ही छूट जाते हैं।

(7) अनिश्चित सजा

निश्चित सजा (जिसमें न्यायाधीश तय कर देता है कि अपराधी व्यक्ति अपने जीवन के इतने वर्ष कारागार में गुजारेगा) उन कारागार-सुधारकों की कटु आलोचना का विषय बनी जिनका मत था कि न्यायाधीश यह पहले से ही कैसे जान सकता है कि अमुक अपराधी इतने दिनों में सुधर जायेगा। इन सुधारकों का कहना था कि अपराधी-सुधार की अवधि पूर्व-निर्धारित नहीं हो सकती है। निश्चित दण्ड-अवधि के दोषों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक युग में दण्ड की विधि सजा की अवधि को न्यूनतम तथा अधिकतम के बीच में निर्धारित करने की सिफारिश करती है। यह अवधि एक दिन से लेकर आजन्म तक की हो सकती है। इस विधि का जो सबसे बड़ा लाभ दिखाई देता है वह यह है कि दण्ड की इस विधि को कार्यान्वित करने से न्यायाधीशों तथा कारागार अधिकारियों को यह अधिकार प्राप्त हो जायेगा कि वे आकस्मिक अपराधियों

को निश्चित अवधि से पहले ही मुक्त कर सकें तथा गम्भीर एवं स्वाभाविक अपराधियों को उस अवधि तक रख सकें जब तक उनका सुधार न हो जाए। आज अधिकांश देशों की अपराधिक न्याय-संहिताओं में दण्ड निश्चित नहीं है और केवल न्यूनतम तथा अधिकतम अवधि ही वर्णित है।

(8) पैरोल

पैरोल उन अपराधियों के कारागार से मुक्ति की एक विधि है जिनका व्यवहार कारागार-प्रशासन की निगाह में सन्तोषजनक है और जिन्हें उनकी मुक्ति न्यायालय द्वारा निर्धारित की गई निश्चित दण्ड की अवधि से पहले पैरोल बोर्ड के द्वारा दी जा सकती है। इस प्रकार की मुक्ति का निर्णय अपराधी व्यक्ति के छूटने से उत्पन्न सामाजिक प्रतिक्रिया को ध्यान में रख कर किया जाता है, अर्थात् केवल वे ही व्यक्ति पैरोल पेर छोड़े जाते हैं जिनसे यह आशा की जाती है कि वे पुनः अपराध नहीं करेंगे तथा जिनके बारे में पैरोल बोर्ड यह देख लेता है उनके छूटने से पूरे समाज तथा किसी विशिष्ट समुदाय में विरोध नहीं उत्पन्न होगा। पैरोल पर बन्दियों की मुक्ति उनके द्वारा दिये गये सद्व्यवहार के आश्वासन पर की जाती है तथा इसके साथ ही साथ उनके निरीक्षण तथा सहायता के लिए परिवीक्षा या अन्य किसी सरकारी सुधार-अधिकारी की नियुक्ति की जाती है।

(9) परिवीक्षा अथवा निलम्बित सजा

अपराधी-सुधार की आधुनिक दण्ड-विधियों में "प्रोबेशन" (परिवीक्षा) का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस विधि में प्रथम बार साधारण प्रकार का अपराध करने वाले व्यक्तियों को उनकी आयु, चरित्र, जीवन की परिस्थितियों, अपराधी प्रवृत्तियों तथा अपराध करने की दशाओं को ध्यान में रखते हुए कारागार न भेज कर परिवीक्षा अधिकारी की देख-रेख के कुछ निश्चित वर्षों तक रहने के लिए छोड़ दिया जाता है। परिवीक्षा दण्ड का स्थगन मात्र है जिसमें सजा का कार्यान्वयन निलम्बित कर दिया जाता है। यदि परिवीक्षा पर छोड़े गये व्यक्ति का चाल-चलन ठीक रहता है तो उसकी निलम्बित सजा समाप्त कर दी जाती है और उसे एक मौका दिया जाता है कि वह पुनः अपराध न करे। परन्तु यदि परिवीक्षा अधिकारी यह पाता है कि परिवीक्षा का लाभ अपराधी व्यक्ति ठीक से नहीं उठा रहा है और पुनः अपराधी प्रवृति का प्रदर्शन कर रहा है तो वह न्यायालय के सम्मुख यह प्रस्ताव रखता है कि उसकी निलम्बित सजा समाप्त करके उसे जेल में भेज दिया जाए। परिवीक्षा दंड की वह विधि है जिसमें

पहली बार छोटे-मोटे अपराध करने वाले व्यक्ति जेल भेजे जाने के स्थान पर पुनः समाज में नियन्त्रणपूर्वक रहने के आश्वासन पर मुक्त कर दिये जाते हैं और उन्हें जेल में रहने के बाद लगने वाले सामाजिक धब्बे से बचा लिया जाता है।

(10) जुर्माना तथा कम अवधि की सजाएँ

वर्तमान अपराधिक न्याय-विधि में न्यायालयों के सम्मुख अपराधी को जेल के धब्बे से बचाने के लिए दो प्रमुख विकल्प उपलब्ध हैं—जुर्माना तथा परिवीक्षा। छोटे-मोटे अपराध करने वाले अपराधियों को जेल न भेज कर जुर्माना की गई धनराशि जमा कर देने पर मुक्त किया जा सकता है। जुर्माना करने की विधि उन समस्त देशों में अधिक लोकप्रिय है जिनमें सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी है। गरीब देशों में निम्न आर्थिक स्तर वाले लोगों की संख्या में बाहुल्य होने के कारण बहुधा इस विधि को लागू करने में कठिनाई उत्पन्न होती है क्योंकि जुर्माने की रकम न अदा कर पाने की स्थिति में दोषी व्यक्ति को जेल जाना पड़ता है। इस विधि में एक अन्य दोष भी है। धनी तथा साधन सम्पन्न व्यक्ति सरलता से जुर्माने की धनराशि जमा कर देते हैं और जेल जाने से बच जाते हैं। इसके विपरीत गरीब तथा साधनहीन नागरिक अपनी दरिद्रता की दशा में जुर्माना अदा ही नहीं कर पाते हैं और फलतः अपनी विवशता की स्थिति में केवल जेल ही जाते हैं। अमरीका में जुर्माने के दंड को परिवर्तित करके यह प्राविधान कर दिया गया है कि यदि व्यक्ति गरीब है तो वह अपने जुर्माने की पूरी धनराशि को कई किश्तों में न्यायालय की आज्ञा लेकर जमा कर सकता है।

(11) दण्ड की सीमितताएँ

आज यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो चुका है कि दण्ड के मान्य तथा तर्क-संगत समर्थनों के बावजूद भी दण्ड की कुछ सीमितताएँ हैं। इसकी प्रभावोत्पादकता के नकारात्मक पहलू को ध्यान में रख कर निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(1) यह अपराधी को अपने कार्यों को गुप्त रखने के लिए सतर्क करता है।
(2) यह अपराधी व्यक्ति को बदनाम करता है और उसे उस समाज अथवा समुदाय में घृणा तथा बहिष्कार का विषय बना देता है जिसमें वह अपने को समायोजित करना चाहता है।
(3) यह उस व्यक्ति को शहीद या हीरो बना देता है।
(4) यह उस व्यक्ति में राज्य के न्यायिक अधिकार एवं सत्ता के प्रति ऐसी

विद्रोही भावना विकसित करने में सहायक होता है जो अन्त में उसे कानून का पालन करने वाला नागरिक बनने से रोकती है।

(5) यह समाज में अपराधों को सफल रूप से नियन्त्रित कर पाने में असमर्थ है तथा इसके द्वारा वे व्यक्ति भी पुनः अपराध करने में डरते नहीं हैं जिन्हें एक बार कठोर दण्ड की यातना उठानी पड़ी है।

(6) इससे समाज तथा व्यक्ति के द्वारा उठाई गई क्षति की पूर्ति नहीं होती है, तथा—

(7) इससे अपराधी व्यक्ति के चरित्र एवं स्वभाव का पुनर्निर्माण सम्भव नहीं हो सकता।

रेकलेस के मत में दण्ड की उपर्युक्त वर्णित कतिपय सीमितताएँ दण्ड के प्रत्यय तथा इसकी अवधारणा में ही निहित हैं और शेष दण्ड देने की व्यवस्था प्रकारों तथा प्रणालियों के कार्यान्वयन से उत्पन्न हो जाती हैं।[1]

सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने दण्ड की सीमितताओं पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि दण्ड से बहुधा उस प्रकार के परिणाम उत्पन्न होते हैं जिनका आभास दण्ड देनेवालों को नहीं होता। अधिकांशतः दण्ड का प्रभाव उस प्रभाव के विपरीत होता है जिसकी प्राप्ति के लिए दण्ड दिया जाता है। जिन अप्रत्याशित परिणामों का जन्म दण्ड देने से होता है उनका वर्णन करते हुए सदरलैण्ड तथा क्रेसी[2] ने लिखा कि दण्ड उस व्यक्ति को समाज से पृथक् कर देता है जिसे दण्ड दिया जा रहा है और उसे समाज का घोर शत्रु बना देता है। परिणाम यह होता है कि कुछ और व्यक्ति भी उस व्यक्ति के प्रभाव में आकर अपराध करने लगते हैं। समाज की अपराधी के प्रति घृणा अपराधी को समाज से घृणा करने के लिए मजबूर कर देती है। जब अपराधी का बहिष्कार समाज में होने लगता है तब उसके सम्मुख दो ही विकल्प बचते हैं—या तो वह उन अपराधियों के गिरोह में शामिल हो जाए जहाँ उसको स्वीकृति प्राप्त हो या वह विघटित होकर अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे। अनुभव इस बात का परिचायक है कि जब दण्ड भोगे हुए व्यक्तियों को समाज में कदम कदम पर शंका तथा दूरत्व की भावना से देखा

1. वाल्टर सी० रेकलेस, पूर्वोल्लिखित, पृ० 508।
2. डोनाल्ड आर० क्रेसी, "चेन्जिंग क्रिमिनल्स : दि ऐप्लिकेशन आफ दि थ्योरी आफ डिफरेन्शियल ऐसोसिएशन," अमेरिकन जरनल आफ सोश्योलोजी, वाल्यूम 61, सितम्बर 1955, पृ० 116-120।

जाता है और उनका बहिष्कार किया जाता है तब इस प्रकार के व्यक्ति क्षुब्ध होकर कानून तथा व्यवस्था में अपना विश्वास खो बैठते हैं और समाज से बदला लेने का इरादा बना लेते हैं।

दण्ड दण्डित व्यक्ति में सतर्क रहने की भावना जाग्रत करता है अर्थात् उसे यह सोचने के लिए मजबूर करता है कि अपराधी कार्य बड़ी ही सावधानी से किये जाने चाहिए। दण्डित व्यक्ति इस प्रकार सुधरता नहीं है वरन् इस बात से सतर्क हो जाता है कि अपराध ऐसी योजना बनाकर किये जाने चाहिए जिससे पुलिस उसका सुराग न लगा सके। अन्तिम परिणाम यह होता है कि दण्डित व्यक्ति गम्भीर अपराधों को इस ढंग से करने लगते हैं कि उनको पकड़ पाना मुश्किल हो जाता है।

दण्ड का एक और अप्रत्याशित परिणाम यह है कि दण्ड के अपराध-निरोध का उद्देश्य प्राप्त होने मात्र से ही समाज-कल्याण को बढ़ावा नहीं मिलता है। समाज की दण्डात्मक प्रतिक्रिया से जो नुकसान होता है वह इससे होनेवाले फायदों से कहीं अधिक गम्भीर है। दण्ड-प्राप्त व्यक्ति में कानून के प्रति आदर की भावना समाप्त हो जाती है, उसमें देश-भक्ति की भावना का विनाश हो जाता है और वह देश, राज्य, समाज तथा समुदाय के प्रति किसी भी प्रकार का आत्म-बलिदान करनेवाली समस्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों को त्याग देता है। इन सबसे भी अधिक भयानक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास खो बैठता है।

क्लारेन्स श्रैग ने दण्ड का एक अन्य अप्रत्याशित परिणाम बताते हुए लिखा है कि कभी कभी दण्ड पाए हुए व्यक्ति का स्थान समाज में बढ़ जाता है। छोटे अपराधी उस व्यक्ति को साहसी मानकर अपना नेता स्वीकार कर लेते हैं जिसने अपने गम्भीर अपराध के लिए कड़ी तथा लम्बी अवधि की जेल-यातना भोगी है। इसके साथ ही साथ इस प्रकार के अपराधी जब समाज में आते हैं तब साधारण नागरिक डरकर उनके प्रति विनम्र हो जाता है और आदर भाव दिखाने लगता है। फल यह होता है कि लम्बी अवधि की जेल-यात्रा किये हुए व्यक्ति अपने अपने समुदाय में गैर-अपराधी व्यक्तियों के लिए भय तथा चिन्ता का विषय बन जाते हैं और बिना रोक-टोक अपराध करने लगते हैं।[1]

---

1. क्लारेन्स श्रैग, "लीडरशिप अमंग प्रिजन इनमेट्स," अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 19, फरवरी 1954, पृ० 37-42।

जेन्किन्स के मत में दण्ड के माध्यम से व्यक्ति के सुधार के वे सभी रास्ते बन्द हो जाते हैं जिनकी आशा दण्ड देनेवाले अधिकारी करते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि दण्ड प्रदान करने के बाद ये अधिकारी तथा अन्य सभी उत्सुक व्यक्ति चुप होकर बैठ जाते है और उनको यह ख्याल भी नहीं रहता कि दण्डित व्यक्ति का क्या हुआ तथा उसके ऊपर दण्ड का प्रभाव हुआ कि नहीं। दण्डित व्यक्ति पहले तो दण्ड से भयभीत होता है परन्तु जब एक बार दण्ड भोग लेता है तब उसमें दण्ड को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और दुबारा मिलनेवाले दण्ड के प्रति उसमें पहली बार जैसा भय भी नहीं उत्पन्न होता। इसी कारण बहुधा यह देखने में आया है कि जेल से छूटे हुए अपराधी और बड़े अपराधी बन जाते हैं। उनको यह कहते हुए सुना जाता है कि ज्यादा से ज्यादा क्या होगा, एक बार और जेल जाना पड़ेगा। उनके इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट है, न तो उन्हें जेल से डर लगता है और न जेल की यातनाओं से। दण्ड का उद्देश्य यहीं पर असफल हो जाता है।[1]

क्या दण्ड व्यवहार को नियन्त्रित करता है ?

जानवरों के व्यवहार पर किये गये प्रयोगात्मक परीक्षणों से कुछ विद्वानों ने इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया कि क्या दण्ड व्यवहार को स्थायी रूप से नियन्त्रित करता है। कबूतरों, चूहों तथा बन्दरों पर किये गये परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ कि दण्ड से उत्पन्न पीड़ा परिष्कृत व्यवहार को कुछ समय तक ही रोक पाती है परन्तु न तो इससे व्यवहार में सुधार होता है और न इससे अवांछनीय व्यवहार के प्रतिमान सदैव के लिए बदल जाते हैं। इस प्रकार के समस्त अध्ययनों का एकमात्र निष्कर्ष था कि दण्ड अपराधी व्यवहार को नियन्त्रित तथा समाप्त करने की कोई प्रभावशाली युक्ति नहीं है। टैफ्ट ने इस प्रकार के समस्त अध्ययनों का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए लिखा कि पुरस्कार की अपेक्षा दण्ड लाभ के स्थान पर दुगुना नुकसान पहुँचाता है क्योंकि दण्ड की प्रभावशीलता दण्ड में न निहित होकर दण्डित व्यक्ति के मनोभावों, दृष्टिकोणों तथा उसकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर निर्धारित हो सकती है। दण्ड की वे समस्त विधियाँ जो घृणा तथा आक्रोश पर आधारित हैं केवल क्षणिक या अस्थायी डर ही उत्पन्न कर पाती हैं

---

1. आर० एस० जेंकिस, "दि कान्सट्रक्टिव यूस आफ पनिशमेन्ट," मेन्टल हाईजीन, वाल्यूम 29, अक्टूबर 1945, पृ० 561-574।

और उनसे स्थायी प्रकार से मनोवृत्ति-परिवर्तन सम्बन्धी प्रभाव नहीं उत्पन्न हो सकते।[1]

भारतीय दण्ड-व्यवस्था

भारतीय दण्ड-व्यवस्था का क्रमबद्ध अध्ययन करने के हेतु प्राचीन भारतीय दण्ड-व्यवस्था के मूलभूत अवयवों का विवेचन करना आवश्यक होगा क्योंकि हिन्दू विधि में वर्णित दण्ड और न्याय-व्यवस्था का जो वृत्तान्त पौराणिक ग्रन्थों में उपलब्ध है वह भारतीय दण्ड-व्यवस्था की प्राचीन परम्परा पर प्रकाश डालता है। वैदिक काल में पाई जाने वाली भारतीय सामाजिक व्यवस्था में न्याय को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती थी और राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मान कर उससे यह आशा की जाती थी कि वह उचित, पक्षपात-रहित तथा अपराध की प्रकृति को ध्यान में रख कर राज्य अथवा व्यक्ति की सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों को कठोरता से दण्डित करेगा।

मनु से पूर्व जिन प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारकों का नाम हिन्दू विधि के निर्माताओं में विशेष रूप से लिया जाता है वे गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब तथा बौधायन थे। मनु के युग तक हिन्दू अपराधिक विधि बड़ी सीमा तक विकसित हो चुकी थी। मनु ने अपने द्वारा वर्णित व्यवहार तथा अपराधी कानूनों में अपराधों का वर्गीकरण करने के साथ साथ उनके लिए निश्चित दण्ड की मात्रा तथा प्रकार का भी निर्धारण किया। मनु ने कहा कि जिस राजा के राज्य में चोर, हिंसा करने वाले पर-पति तथा पर-स्त्री-गामी एवं मार-पीट करने वाले व्यक्ति नहीं होंगे वह इन्द्रलोक में जाने का अधिकारी होगा। विष्णु ने भी कहा कि जिस राजा के राज्य में शान्ति, व्यवस्था तथा अच्छी सरकार बनी होगी वह राजा बने रहने के योग्य माना जायेगा।

दण्ड का प्राचीन भारतीय सिद्धान्त दण्ड के प्रतिरोधात्मक उद्देश्य को स्वीकार करता है। उस युग में दण्ड का आधार कुत्सित प्रवृत्तियों के अपराधी व्यवहार करने वाले व्यक्तियों से समाज की रक्षा करना था। कौटिल्य के अनुसार सोच-विचार कर दिया गया दण्ड लोगों को सुचरित्र बनाता है तथा बुराई करने

1. डोनाल्ड आर० टैफ्ट, क्रिमिनालोजी : ए कल्चरल इन्टरप्रिटेशन (न्यूयार्क : 1953), पृ० 321-325।

से रोकता है परन्तु जब दण्ड का प्राविधान किसी समाज में थोड़े समय के लिए हटा लिया जाता है तब अव्यवस्था बढ़ती है और मात्स्य न्याय की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण कर जाती है। शुक्र ने दण्ड के प्रतिरोधात्मक उद्देश्य को प्रमुख मानते हुए कहा कि दंड का भय लोगों को गुणवान बनाता है तथा उन्हें आक्रमण करने एवं झूठ बोलने से रोकता है। मनु ने कहा कि राजा को चाहिए कि वह कारागारों की स्थापना सड़कों के किनारे करे जिससे कैदियों की यातनाओं को देख कर जनता भयभीत हो सके। मनु ने यह भी कहा कि दंड अपराध की गम्भीरता के अनुरूप होना चाहिए। मनु ने दंड के जो प्रमुख प्रकार बताये वे निम्नांकित हैं :—कारागार-यातना, अपराधी को जंजीरों से बांधना तथा उन्हें शारीरिक यातनाएँ प्रदान करना। चूँकि मनु के अनुसार दंड का उद्देश्य केवल भय उत्पन्न करना मात्र न होकर अपराधी को आगे अपराध करने से रोकना भी था अतः उन्होंने यह कहा कि अपराधियों को ऐसे प्रकार से दंड दिया जाना चाहिए जिससे वे आगे अपराध करने के योग्य ही न रह जाएँ। उन्होंने चोरों के हाथ अथवा पैर काट लेने की बात कही। शुक्र ने कहा कि दुष्ट व्यक्ति को दंड देने से कुकृत्यों की संख्या घटती है।

याज्ञवल्क्य ने दंड के सुधारात्मक उद्देश्य पर बल देते हुए कहा कि राजा को अपराधियों के द्वारा किये गये अपराधों पर गम्भीरता से विचार कर के उनके परिवार, जाति, कुल को ध्यान में रखते हुए ऐसा दंड देना चाहिए जिससे उनका चरित्र सुधर सके। शुक्र ने भी कहा कि राजा को बुरे व्यक्तियों को (जो बुरी संगत में फँस कर अपराध करते हैं) ऐसा दंड देना चाहिए जिससे उनकी आदतें सुधर सकें।

हिन्दू विधि के निर्माताओं के मत में दण्ड का उद्देश्य अपराधी का शुद्धीकरण भी था, क्योंकि अपराध को पाप के तुल्य समझा जाता था। उस युग में यह माना जाता था कि यदि राजा ने अपराधी व्यक्ति को दण्ड दिया है तो उस दण्डित व्यक्ति के पाप कम हो जाते हैं। यदि राजा ऐसे व्यक्तियों को छोड़ देता है तो वह स्वयं पाप का भागी होगा। मनु ने कहा कि राजा द्वारा दण्डित अपराधी पुण्य करने वाले व्यक्तियों की ही भाँति स्वर्ग पाते हैं। चूँकि राजा को ईश्वर का प्रतीक माना जाता था अतः राजा द्वारा दण्डित व्यक्ति मोक्ष पाने का अधिकारी था।

यद्यपि हिन्दू विधि में अपराध के अनुरूप दण्ड तथा उसके प्रकार एवं मात्रा को पहले से ही निर्धारित कर दिया गया था, परन्तु फिर भी न्यायाधीशों को निर्धारित प्रक्रिया में परिवर्तन करने का पूरा अधिकार प्राप्त था। न्यायाधीशों से यह आशा की जाती थी कि वे दण्ड देते समय अपराधी की शारीरिक क्षमता एवं अपराध के स्वभाव को ध्यान में रखेंगे। वसिष्ठ के मत में न्यायाधीश को दण्ड देते समय यह देख लेना चाहिए कि अपराध कहाँ, किस समय तथा किस आयु के व्यक्ति के द्वारा किया गया है। मनु ने भी न्यायाधीशों से इसी प्रकार की दण्ड-प्रणाली का पालन करने की आशा व्यक्त की। मनु ने राजा से यह आशा की कि वह दण्ड देते समय अपराध के प्रेरक तत्वों, अपराध का समय, स्थान, अपराधी की अपराधिक क्षमता, तथा अपराध के स्वभाव को ध्यान में रखेगा। याज्ञवल्क्य ने कहा कि दण्ड अपराधी व्यक्ति के द्वारा किये गये अपराध की प्रकृति, स्थान, समय, शारीरिक क्षमता तथा उसकी आर्थिक-सामाजिक पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रख कर दिया जाना चाहिए। विष्णु ने कहा कि दंड उतना ही कठोर होना चाहिए जितना अपराध गम्भीर है, अर्थात् अपराध की गम्भीरता के साथ ही साथ दंड की मात्रा घटती-बढ़ती रहनी चाहिए। बृहस्पति ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि दंड केवल कानून के अक्षरों को पढ़ कर ही नहीं देना चाहिये। यदि अपराधी व्यक्ति के जीवन की उन परिस्थितियों को ध्यान में नहीं रखा गया जिनके वशीभूत होकर उसने अपराध किया है तब न्याय के स्थान पर अन्याय की पूरी सम्भावना बनी रहेगी।

हिन्दू विधि में दंड की जिन प्रमुख विधियों को स्वीकार किया गया था उनमें सबसे प्रमुख स्थान जुर्माना करने की विधि का था। उसके पश्चात् मृत्युदंड तथा अंग-भंग का प्राविधान था। मारना-पीटना तथा कोड़े लगाना उन अपराधियों के लिए निर्धारित दंड था जिन्होंने या तो कोई छोटा-मोटा अपराध किया है या जो कम उम्र के या वृद्ध व्यक्ति हैं। जनता के सम्मुख अपराधियों का अपमान करना भी दंड की एक प्रमुख विधि थी। देश-निष्कासन की विधि केवल अत्यन्त गम्भीर अपराधियों के लिए ही प्रयोग में लाई जाती थी। कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों के शरीर पर दाग लगने की भी दंड-विधि प्रयोग में लाई जाती थी। इस विधि में यौन अपराध करने वाले व्यक्तियों के मस्तक पर स्त्री-योनि का चिह्न तथा शराब पीने वाले व्यक्तियों के मुँह पर शराब के प्याले का चिह्न अंकित कर दिया जाता था।

प्राचीन भारतीय दण्ड-प्रक्रिया-संहिता

अपराध की श्रेणी	निर्धारित दण्ड	अनुमोदकों के नाम
1	2	3
(1) राजा के विरुद्ध अपराध		
राजा के शत्रुओं को सहायता पहुँचाना	प्राण-दण्ड	मनु, कौटिल्य, मत्स्य पुराण
राजा के विरुद्ध अपराध करने के लिए लोगों को अभिप्रेरित करना	प्राण-दण्ड	याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, अग्नि तथा मत्स्य पुराण
रानी का शील-भंग करना	आग में जलाकर प्राण ले लेना	मनु, कौटिल्य तथा मत्स्य पुराण
राजा के कोषागार तथा शस्त्रालय में चोरी करना	प्राण-दण्ड	मनु, मत्स्य पुराण
राजा का अपमान करना	सर काट लेना, जिन्दा जला देना, अंग-भंग करना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
(2) लोक-न्याय के विरुद्ध अपराध		
मिथ्या साक्ष्य	ब्राह्मणों के लिये देश-निष्कासन तथा अन्य व्यक्तियों के लिए जुर्माना तथा सम्पत्ति-हरण	मनु, विष्णु, बृहस्पति तथा मत्स्य पुराण
झूठा दावा करना	शारीरिक दण्ड, दुगुना जुर्माना	नारद, मनु, विष्णु, व्यास, कात्यायन

न्यायालय की आज्ञा को न मानना	जुर्माना	नारद, मनु, बृहस्पति
अपराध करते हुए व्यक्ति को न पकड़ना	देश-निष्कासन, जुर्माना	मनु, याज्ञवल्क्य, नारद
मिथ्या दोषारोपण	शारीरिक दण्ड, जुर्माना	मनु
सरकारी कर्मचारी का किसी अपराधी को जान-बूझकर न पकड़ना	प्राण-दण्ड	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, अग्नि तथा मत्स्य पुराण
(3) सिक्कों से संबन्धित अपराध		
जाली सिक्के बनाना	देश-निष्कासन	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
जाली सिक्के चलाना	जुर्माना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
(4) तौल के बाटों से सम्बंधित अपराध		
तौल के जाली बाट बनाना	जुर्माना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, विष्णु
तौल के जाली बाटों को चलाना	जुर्माना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, मत्स्य पुराण
(5) लोक-कंटक (पब्लिक न्यूसेन्स)		
संक्रामक बीमारी फैलाना	जुर्माना	कौटिल्य
खाने-पीने की वस्तुओं तथा दवाओं में मिलावट करना	जुर्माना	मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
नशीले तथा वर्जित सामान बेचना	जुर्माना, अंग-भंग	विष्णु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
सड़क पर अशोभनीय व्यवहार करना	जुर्माना	मनु, कौटिल्य, विष्णु

1	2	3
(6) धर्म के विरुद्ध अपराध		
मन्दिर के भवन को तोड़ना	प्राण-दण्ड	मनु, मत्स्य पुराण
मन्दिर की मूर्ति को तोड़ना या चोरी करना	जुर्माना	मनु, मत्स्य विष्णु, कौटिल्य
दूसरे धर्म के विरुद्ध प्रचार करना	जुर्माना	कौटिल्य, मत्स्य पुराण, याज्ञवल्क्य
शूद्रों द्वारा वेद-पाठ करना	शारीरिक दण्ड, अंग-भंग	गौतम, बृहस्पति
शूद्रों द्वारा ब्राह्मण या उच्च जाति के व्यक्तियों को विधर्मी बनाना	जुर्माना, मृत्यु-दण्ड	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, विष्णु पुराण
शूद्रों द्वारा उच्च जाति के लोगों को छूना तथा उन्हें अपवित्र करना	मृत्यु-दण्ड, जुर्माना	विष्णु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
(7) नैतिकता तथा पारिवारिक जीवन के विरुद्ध अपराध		
कौटुंबिक व्यभिचार (इनसेस्ट)	मृत्यु-दण्ड, देश-निष्कासन, शारीरिक दण्ड, जुर्माना, शरीर पर दाग लगाना, लिंग काट लेना	विष्णु, मनु, बौधायन, कौटिल्य, नारद
शराब खोरी	शरीर-दण्ड, जुर्माना, माथे पर शराब का प्याला बना देना	विष्णु, मनु
पति या पत्नी का परित्याग	जुर्माना	मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद

(8) मानव शरीर के विरुद्ध अपराध		
हत्या	मृत्यु-दण्ड अथवा सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण, देश-निष्कासन	बौधायन, आपस्तम्ब, मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, व्यास
गर्भपात कराना	बड़ी धनराशि का जुर्माना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य
चोट पहुँचाना	अंग-भंग तथा जुर्माना	गौतम, मनु, विष्णु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, मत्स्य पुराण
हमला करना	अंग-भंग तथा जुर्माना	मनु, कौटिल्य, विष्णु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति
व्यपहरण तथा अपहरण	शारीरिक दण्ड, मृत्यु, अंग-भंग, सम्पत्ति-हरण	मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, मत्स्य पुराण
बलात्संग	मृत्युदण्ड, शारीरिक दण्ड, लिंग-भंग, जुर्माना, सम्पत्ति-हरण	मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति
पर-पति या पर-पत्नी-गमन	जुर्माना, शारीरिक-दण्ड, सार्वजनिक अपमान, लिंग-भंग	मनु, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब
प्रकृति-विरुद्ध अपराध	कम धनराशि का जुर्माना	कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु
(9) सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध		
चोरी	मृत्यु-दण्ड, अंग-भंग, कारावास, दाग लगाना, निष्कासन, जुर्माना	विष्णु, नारद, मत्स्य पुराण, मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास
जेबकटी	अंग-भंग, जुर्माना	मनु, याज्ञवल्क्य
लूट	मृत्यु-दण्ड, जुर्माना	विष्णु, कौटिल्य, नारद, बृहस्पति
राहजनी	मृत्यु-दण्ड	कौटिल्य, बृहस्पति, कात्यायन
सेंध मारना	अंग-भंग, मृत्यु-दण्ड ,जुर्माना	मनु, विष्णु, कौटिल्य, बृहस्पति, मत्स्य पुराण

स्मृतियों तथा पुराणों द्वारा निर्धारित दंड की यह व्यवस्था हिन्दू सम्राटों (चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, हर्ष आदि) के शासनकाल तक चलती रही। जिन प्रमुख दंड-विधियों का प्रयोग मुस्लिम शासनकाल तक चलता रहा वे निम्नांकित थीं—(1) धिक्कार—जिससे अपराधी व्यक्ति की भर्त्सना की जाती थी। (2) अर्थ-दण्ड—जिसमें अपराधी पर जुर्माना किया जाता था या उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। (3) बन्दीकरण—जिसमें अपराधी को जेल भेज कर यातना प्रदान की जाती थी। (4) अंगभंग—जिसमें अपराधी के शरीर के अंग काट लिये जाते थे। (5) निष्कासन—जिसमें अपराधी को देश से बाहर निकाल दिया जाता था तथा (6) प्राण-दण्ड—जिसमें अपराधी को मौत की सजा दी जाती थी।

मध्यकालीन भारत में न्याय की व्यवस्था का आधार कुरान था। कुरान में वर्णित अपराधों एवं तदर्थ दंड प्रदान करने की न्याय-व्यवस्था दंड की कठोर नीति का अनुमोदन करती थी। फिरोजशाह तुगलक, शेरशाह सूरी, अकबर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब की न्यायायिक व्यवस्था निष्पक्षता तथा कठोरता पर बल देती थी। चोरी जैसे साधारण अपराध के लिए भी मृत्यु-दंड का प्राविधान था। दंड का प्रमुख उद्देश्य अपराधी को निष्ठुरतापूर्वक दंडित करके जनता के सम्मुख अपराध और दंड की भयात्मकता का दृष्टान्त उपलब्ध कराना था।

अँग्रेजी शासनकाल में न्याय और दंड की व्यवस्था हिंसात्मक न होकर प्रतिशोधात्मक हो गयी। कारावास, जुर्माना तथा प्राण-दंड इस दंड-व्यवस्था के प्रमुख आधार बन गये। अंगभंग तथा शारीरिक पीड़ा का प्राविधान दंड-प्रक्रिया-संहिता से हटा दिया गया। लार्ड मेकाले द्वारा निर्मित दंड-प्रक्रिया-संहिता (क्रिमिनल प्रोसीजर कोड) को 1857 में एक प्रमुख अपराधिक अधि-नियम के रूप में स्वीकार किया गया। इसी युग में दंड के सुधारात्मक लक्ष्य को मान्यता प्राप्त हुई और दंड के बर्बर प्रकारों के उन्मूलन का अभियान चला। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कारागारों में चली आने वाली प्रशासन-व्यवस्था में सुधार करने की बात पर सरकार का ध्यान आकर्षित किया जाने लगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त दंड के प्रतिशोधात्मक उद्देश्य को स्वीकार करने के बावजूद दंड के सुधारात्मक उद्देश्य को महत्त्वपूर्ण समझा गया। कारागार-सुधार का जो आन्दोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व से ही प्रारम्भ हो गया था, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद और अधिक व्यापक स्तर पर चला और उसका

फल यह हुआ कि आज की दंड-व्यवस्था में कारागार यातना के स्थान न होकर सुधार के स्थान के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। इधर कुछ वर्षों से मृत्यु-दंड के उन्मूलन का भी अभियान चल रहा है। यद्यपि यह अभियान अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल है परन्तु फिर भी मृत्यु-दंड केवल अपवाद स्वरूप ही बड़े ही जघन्य अपराध करने वाले व्यक्तियों को दिया जाता है।

भारतीय दण्ड-संहिता में वर्णित प्रमुख अपराध
और उनके लिए निर्धारित दण्ड

धारा	अपराध	निर्धारित दंड
1	2	3
109	अपराध करने की दुष्प्रेरणा	वे ही दंड जो इस अपराध के लिए उपबन्धित हैं।
115	मृत्यु या आजीवन कारावास से दंडनीय अपराध की दुष्प्रेरणा यदि अपराध नहीं किया जाता है	साधारण अथवा कठोर कारावास जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकती है तथा जुर्माना।
119	कारावास से दंडनीय अपराध की दुष्प्रेरणा, यदि अपराध न किया जाए	उस अपराध के लिए उपबन्धित किसी भाँति के कारावास से ऐसी अवधि के लिए जो उस अपराध के लिए उपबन्धित दीर्घतम अवधि के एक चौथाई भाग तक हो सकती है या ऐसे जुर्माने से जो उस अपराध के लिए उपबन्धित है, या दोनों से दंडित किया जा सकता है।
118	मृत्यु या आजीवन कारावास से दंडनीय अपराध करने की परिकल्पना को छिपाना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से, जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकती है अथवा यदि अपराध न किया जाये तो वह दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो एक के लिए जुर्माने से भी दंडनीय होगा।

1	2	3
120 (ख)	अपराधिक षड्यन्त्र	उसी प्रकार का दंड जो ऐसे अपराध की दुष्प्रेरणा करने के लिए दिया जाता है।
121	भारत सरकार के विरुद्ध युद्ध करना या युद्ध करने का प्रयत्न करना या युद्ध करने की दुष्प्रेरणा करना	मृत्यु या आजीवन कारावास तथा जुर्माना।
121 (क), 122, 123	राज्य के विरुद्ध अपराध करना, अपराध करने का आशय से हथियार एकत्रित करना, युद्ध करने की योजना को सफल बनाने के लिए छिपाना	आजन्म कारावास या 10 वर्ष तक के किसी भी प्रकार का कारावास तथा जुर्माना।
132	विद्रोह की दुष्प्रेरणा यदि उसके परिणामस्वरूप विद्रोह किया जाए।	मृत्यु या आजीवन कारावास जिसकी अवधि 10 वर्ष तक हो सकेगी तथा जुर्माना।
143	विधि-विरुद्ध जमाव का सदस्य होना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 6 मास तक हो सकेगी। जुर्माना या दोनों से दंडित करना।
144	घातक आयुधों से सज्जित होकर विधि-विरुद्ध जमाव में सम्मिलित होना	दोनों में किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जायेगा।
147	बलवा करना	वही।
152	लोक-सेवक जब बलवे को दबा रहा हो तो उसपर हमला करना या उसे बाधित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जायेगा।

1	2	3
159	दंगा	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से, जिसकी अवधि एक मास तक हो सकेगी या जुर्माने से जो सौ रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से दंडित किया जायेगा।
161	वैध पारिश्रमिक से भिन्न पारितोषिक का लोक-सेवक द्वारा पदीय कार्य के लिए लिया जाना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जायेगा।
171 (ई)	घूस (रिश्वत)	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 1 वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने, या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
172	समनों की तामील या अन्य कार्यवाही से बचने के लिए फरार हो जाना	सादे कारावास से जिसकी अवधि एक मास तक हो सकेगी, या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपये तक हो सकेगा या दोनों से दंडित होगा।
189	लोक-सेवक को क्षति की धमकी	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक हो सकेगी, या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
191	मिथ्या साक्ष्य देना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
194	(अ) मृत्यु से दण्डनीय अपराध के लिये दोषसिद्ध कराने के आशय से मिथ्या साक्ष्य देना या गढ़ना	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि दस वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

1	2	3
	(ब) यदि निर्दोष व्यक्ति तद्-द्वारा दोषसिद्ध किया जाये और उसे फाँसी दी जाये	मृत्यु-दण्ड या एतस्मिन्पूर्व वर्णित दण्ड।
195	आजीवन कारावास या कारावास से दण्डनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध कराने के आशय से मिथ्या साक्ष्य देना या गढ़ना	वैसे ही दण्डित किया जायेगा जैसे वह व्यक्ति दण्डनीय होता है जो उस अपराध के लिए दोषसिद्ध होता है।
231	सिक्के का कूटकरण	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
255	सरकारी स्टाम्प का कूटकरण	आजीवन कारावास से या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दस वर्ष तक हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
	बाटों और मापों से सम्बंधित अपराध	
264	तौलने के लिए खोटे उपकरणों का कपटपूर्वक प्रयोग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक हो सकेगी, या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
	लोक-स्वास्थ्य, क्षेम (सेफ्टी) सुविधा, शिष्टता और सदाचार पर प्रभाव डालने वाले अपराध	
272	विक्रय के लिए खाद्य या पेय पदार्थ का अपमिश्रण	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि छह मास तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो एक हजार रुपये तक हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा।

1	2	3
274	ओषधियों का अपमिश्रण	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि छह मास तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो एक हजार रुपये तक हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
294	अश्लील कार्य और गाने	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन मास तक हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
	धर्म से सम्बंधित अपराध	
295	किसी वर्ग के धर्म का अपमान करने के आशय से उपासना के स्थान की क्षति करना या अपवित्र करना	दोनों में से किसी भाँति का कारावास जिसकी अवधि दो वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
296	धार्मिक जमाव में विघ्न डालना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
	मानव शरीर पर प्रभाव डालने वाले अपराध	
302	हत्या	मृत्यु या आजीवन कारावास से दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।
303	आजीवन कारावास पाये हुए व्यक्ति द्वारा हत्या	मृत्यु-दण्ड
304	हत्या की कोटि में न आने वाला अपराधिक मानव-वध	आजीवन कारावास से या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।

1	2	3
305	शिशु या उन्मत्त व्यक्ति की आत्महत्या का दुष्प्रेरण	मृत्यु-दण्ड या आजीवन कारावास या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।
307	हत्या करने का प्रयत्न करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डित किया जायेगा ।
309	आत्महत्या करने का प्रयत्न	सादा कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
323	उपहति करना अर्थात् व्यक्ति को शारीरिक पीड़ा, रोग या अंग-शैथिल्य से कारित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से, जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
324	खतरनाक आयुधों द्वारा स्वेच्छा से उपहति कारित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित होगा ।
325	स्वेच्छया घोर उपहति कारित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 7 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।
326	खतरनाक आयुधों या साधनों द्वारा स्वेच्छया घोर उपहति कारित करना	आजीवन कारावास से या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।

1	2	3
327	सम्पत्ति उद्दापित करने के लिए कार्य कराने को मजबूर करने के लिए स्वेच्छया उपहति कारित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।
334	प्रकोपन पर स्वेच्छया उपहति कारित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि + वर्ष तक हो सकेगी या जुर्माने से जो दो हजार रुपये तक हो सकेगा, या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
336	ऐसा कार्य जिससे दूसरों का जीवन या वैयक्तिक क्षेम संकटापन्न हो	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि छह मास तक हो सकेगी या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
342	सदोष परिरोध	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो एक हजार रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
	आपराधिक बल और हमले के अपराध	
352	गम्भीर प्रकोपन होने से हमला करना या आपराधिक बल का प्रयोग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन मास तक हो सकेगी या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपये तक का हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
353	लोक-सेवक को अपने कर्तव्य के निर्वहन से भयोपरत करने के लिए हमला या आपराधिक बल का प्रयोग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से दण्डित किया जा सकेगा ।

1	2	3
354	स्त्री की लज्जा भंग करने के आशय से उस पर हमला या अपराधिक बल का प्रयोग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जा सकेगा।
358	गम्भीर प्रकोपन मिलने पर हमला या अपराधिक बल का प्रयोग	सादा कारावास से जिसकी अवधि एक मास तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो दो सौ रुपये तक का हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
	व्यपहरण, अपहरण, दासत्व और बलात्श्रम	
363	व्यपहरण (किडनैपिंग)	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 7 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
363 (क)	भीख माँगने के प्रयोजन के लिए अप्राप्तवय का व्यपहरण या विकलांगीकरण	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दस वर्ष तक की हो सकेगी दण्डनीय होगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
364	हत्या करने के लिए व्यपहरण या अपहरण	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
366	विवाह आदि करने के लिए विवश करना तथा स्त्री को व्यपहृत करना या उत्प्रेरित करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

1	2	3
366 (क)	अप्राप्तवय लड़की का उपापन	कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
370	दास के रूप में किसी व्यक्ति का खरीदना या व्ययन	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डित होगा।
372	वेश्यावृत्ति आदि के प्रयोजन से अप्राप्तवय को बेचना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
373	वेश्यावृत्ति के प्रयोजन से अप्राप्तवय को खरीदना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
374	विधि-विरुद्ध अनिवार्य श्रम	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 1 वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डनीय होगा।
	बलात्संग (रेप)	
376	बलात्संग	आजीवन कारावास या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दस वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
	प्रकृति-विरुद्ध अपराध	
377	प्रकृति-विरुद्ध अपराध	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जाएगा और जुर्माने से भी दण्डित होगा।

1	2	3
	सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध	
379	चोरी	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जाएगा।
380	निवास, गृह आदि में चोरी	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
	उद्दापन (एक्सटोर्शन)	
384	उद्दापन	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जाएगा।
	लूट, डकैती	
392	लूट	कठिन कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
393	लूट करने का प्रयत्न	कठिन कारावास से जिसकी अवधि 7 वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा और जुर्माने से भी दंडनीय होगा।
394	लूट करने से स्वेच्छया उपहति कारित	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

1	2	3
395	डकैती	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
396	हत्या सहित डकैती	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
397	मृत्यु या घोर उपहति कारित करने के प्रयत्न के साथ लूट या डकैती	कारावास से जो सात वर्ष से कम का नहीं होगा, दण्डित किया जायेगा।
398	घातक आयुध से सज्जित होकर लूट या डकैती का प्रयत्न	कारावास से जो सात वर्ष से कम का नहीं होगा, दण्डित किया जाएगा।
399	डकैती करने के लिए तैयारी करना	कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
400,401	डाकुओं तथा चोरों की टोली में शामिल होना	कठिन कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी, दंडित किया जाएगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
	संपत्ति का अपराधिक दुर्विनियोग	
403	सम्पत्ति का बेईमानी से दुर्विनियोग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जाएगा।

1	2	3
	अपराधिक न्यास भंग	
406	अपराधिक न्यास भंग	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जाएगा ।
	चुराई हुई सम्पत्ति प्राप्त करना	
411	चुराई हुई सम्पत्ति को बेईमानी से प्राप्त करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 3 वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जाएगा ।
413	चुराई हुई सम्पत्ति का अभ्यासतः व्यापार करना	आजीवन कारावास से या दोनों में किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा ।
	रिष्टि के अपराध (क्राइम आफ मिसचीफ)	
416	रिष्टि	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन मास तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा ।
436	गृह आदि को नष्ट करने के आशय से अग्नि या विस्फोटक पदार्थ द्वारा रिष्टि	आजीवन कारावास से या दोनों में से किसी भाँति में कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से दण्डित किया जायेगा ।

1	2	3
	अपराधिक अतिचार	
447	अपराधिक अतिचार	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि तीन मास तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो पाँच सौ रुपये तक का हो सकेगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
448	गृह अतिचार	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो एक हजार रुपये तक का होगा या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
449	मृत्यु से दण्डनीय अपराध को करने के लिए गृह अतिचार	आजीवन कारावास से या कठिन कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष से अधिक नहीं होगी, दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
452	उपहति, हमला या सदोष अपराध की तैयारी के पश्चात् गृह-अतिचार	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि सात वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
453	प्रच्छन्न गृह अतिचार या गृह भेदन	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
455	प्रच्छन्न गृह अतिचार या गृह भेदन करते समय कारित घोर उपहति	आजीवन कारावास या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।

1	2	3
	दस्तावेज और सम्पत्ति चिह्न सम्बन्धी अपराध	
465	कूट रचना	किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
466	न्यायालय के अभिलेख की या लोक रजिस्टर आदि की कूट रचना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 7 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
482	मिथ्या सम्पत्ति चिह्नों को प्रयोग में लाना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 1 वर्ष की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
	करेन्सी नोटों का कूटकरण	
489	(क) करेन्सी नोटों का कूटकरण	आजीवन कारावास से या दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 10 वर्ष तक की हो सकेगी दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
	विवाह सम्बन्धी अपराध	
494	पति या पत्नी के जीवन काल में पुनः विवाह करना	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 7 वर्ष तक की हो सकती है दण्डित किया जायेगा और जुर्माने से भी दण्डनीय होगा।
497	जारकर्म (एडल्टरी)	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि 5 वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।

1	2	3
	मानहानि	
500	मानहानि	सादे कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
	अपराधिक अभित्रास, अपमान और क्षोभ	
506	अपराधिक अभित्रास	दोनों में से किसी भाँति के कारावास से जिसकी अवधि दो वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
509	शब्द, अंगविक्षेप या कार्य जो किसी स्त्री की लज्जा का अनादर करने के लिए आशयित हो	सादा कारावास से जिसकी अवधि एक वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से या दोनों से दण्डित किया जायेगा।
510	मत्त व्यक्ति द्वारा लोक-स्थान में अपचार	सादा कारावास से जिसकी अवधि चौबीस घंटे तक की हो सकेगी या जुर्माने से जो दस रुपये तक का हो सकेगा, या दोनों से दण्डित किया जायेगा।

अध्याय 7

मृत्यु-दण्ड

प्रस्तावना

मृत्यु-दण्ड मानव प्रतिशोध की पराकाष्ठा है। यह वह दण्ड है जो अपराधी के प्रति समाज के सर्वोच्च रोष तथा घृणा का प्रतीक है। यह वह दंड है जिसे मानव समाज में आदि काल से गम्भीर अपराधों को कम करने के लिए एक आवश्यक तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण युक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। यह वह दंड है जिसकी प्रभावोत्पादकता में साधारण जनता का असीम विश्वास रहा है। यह वह दंड है जिसे समाज अपनी रक्षा के लिए शक्तिशाली अस्त्र समझता रहा है। यह वह दंड है जिसको हटाने तथा जिसको रखने का विवाद पिछली तीन शताब्दियों से चलता आ रहा है। यह वह दंड है जिसके उन्मूलन के लिए आधुनिक अपराध-शास्त्री, अपराधिक न्याय में सुधार लाने वाले विधि-विशेषज्ञ, समाज-वैज्ञानिक, मानवता में विश्वास रखने वाले, दर्शनशास्त्री, तथा सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक प्रबुद्ध नागरिक विश्व के हर उस देश में कार्यशील हैं जहाँ पर मृत्यु-दण्ड को आज भी वैधानिक स्वीकृति प्राप्त है। अन्त में यह वह दण्ड है जिसमें मानव की बर्बरता, क्रूरता तथा जंगलीपन की दुर्गन्ध आती है।

मृत्यु-दण्ड का इतिहास

इस प्रश्न का उत्तर ठीक से नहीं दिया जा सकता कि मृत्यु-दण्ड का इतिहास कहाँ से और कब से प्रारम्भ होता है। इस विषय पर जो भी साहित्य अपराधशास्त्र की प्राचीन तथा नवीन पुस्तकों में उपलब्ध है, उसके पर्यालोकन से इसकी पुरातन परम्परा का इतिहास मानव समाज की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। मानव स्वभाव में निहित बदला लेने की भावना में इस दण्ड की जड़ें खोजी जा सकती हैं। गिलिन के इस कथन के साथ सहमति व्यक्त

की जा सकती है कि मृत्यु-दण्ड आहत व्यक्ति व उसके परिवार, समूह, समुदाय अथवा समाज की प्रतिशोध भावना की स्वाभाविक प्रतिक्रिया की एक अभिव्यक्ति है।[1] आदिम समाजों में "खून का बदला खून" से लेने की जो मान्यता थी उसी में मृत्यु-दंड का इतिहास खोजा जा सकता है। जंगलों में रहने वाले मानव को (जिसका काम जानवरों को मार कर खाना था) इस प्रकार का दंड पसन्द आता था और वह अपने विरोधी तथा अपने ऊपर आक्रमण करने वाले व्यक्ति की जान लेने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं करता था। जिस प्रकार से वह पशुओं का आखेट करता था ठीक उसी प्रकार से वह अपने शत्रुओं का भी आखेट करने की स्वाभाविक प्रकृति रखता था। आदिम समाजों में शत्रु की जान लेने की जिस सामाजिक मान्यता के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं वह जंगलों में निवास करने वाले मानव के खून की प्यास के आधार पर ही विकसित हुई होगी। वेस्टरमार्क ने लिखा कि अबीसीनिया की हेलेगा नामक जंगली जाति में अपराधी का खून निकाल कर सामुदायिक रूप से पीने की परम्परा थी। पूरा कुनबा मारे गये अपराधी व्यक्ति के मांस के टुकड़े आग पर भून कर खाता था।[2]

मानव समाज की इस प्राकृतिक अवस्था में परिवर्तन तथा सामाजिक समझौते एवं राज्य की उत्पत्ति के बाद अपराधी की जान लेने का अधिकार सम्राट् को प्राप्त हुआ। राज्य की प्रभुसत्ता को ईश्वर का उत्तराधिकारी होने के नाते सम्राटों को प्राप्त अधिकारों में निहित माना गया। इस सम्राट्वादी सामाजिक व्यवस्था के युग में देश के सर्वोच्च शासनाधिकारी को यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपराधी व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड प्रदान करे। ब्रिटेन के आठवें सम्राट् हेनरी ने 48 साल के शासन-काल (1499–1547) में 72,000 अपराधियों को मृत्यु-दंड दिया।[3] प्राचीन रोम में मृत्यु-दंड को एक त्योहार माना जाता था और अपराधी को खुले आम सड़क पर फाँसी देने की प्रथा थी। जिस दिन किसी व्यक्ति को फाँसी दी जाती थी उस दिन समस्त नगर में लोगों को यह सूचना शासन द्वारा पहुँचाई जाती थी कि वे आमंत्रित व्यक्ति की भाँति, फाँसी के तख्ते

---

1. जान एल० गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1935), पृ० 347।
2. डब्ल्यू० वेस्टरमार्क, ओरिजिन आफ दि मारल आइडिया (लन्दन : 1906), पृ० 484।
3. स्पेक्टेटर, "दि फ्यूचर आफ हैंगिंग", जून 17, 1948।

पर लटकाये जाने वाले व्यक्ति की जान लेने का तमाशा देखें। हजारों की संख्या में पुरुष, स्त्री तथा बच्चे इस तमाशे को देखने के लिए इकट्ठा होते थे।[1]

इसी युग के इतिहास में मृत्यु-दंड के अन्य प्रकारों का भी वर्णन मिलता है। गिलिन ने इन प्रकारों की निम्नलिखित सूची तैयार की[2] :—

(1) सर काट लेना।
(2) जिन्दा जला देना।
(3) पानी में डुबा कर मार डालना।
(4) जंगली जानवरों के सामने फेंक देना।
(5) पहाड़ की ऊँचाई से नीचे फेंक देना।
(6) पत्थरों से मार कर जान ले लेना।
(7) गले में रस्सी का फन्दा बाँध कर पेड़ से लटका देना।
(8) सलीब पर लटका देना।
(9) बिजली की मशीन पर बैठा कर जान निकाल देना।
(10) फाँसी के कुएँ के तख्ते पर खड़ा कर के तख्ता हटा लेना।
(11) जहरीली गैस के कमरे में झोंक देना।

इस युग में मृत्यु-दंड केवल घोर अपराध करने वाले व्यक्तियों को ही नहीं दिये जाते थे, साधारण अपराधी भी मौत की सजा पाते रहते थे। प्राचीन हिन्दू लोग बलात्कार, व्यभिचार, अनुचित निन्दा या कलंक लगाना, माता-पिता की हत्या या धर्म को न मानने वालों को मृत्यु-दंड देते थे। रोमन लोग सह-मैथुन, राजद्रोह, स्त्री भगा ले जाना आदि के लिए भी मृत्यु-दंड देते थे। इंगलैंड में पन्द्रहवीं शताब्दी में 260 अपराधों पर प्राण-दंड दिया जाता था। इन अपराधों की सूची में जंगलों, पार्कों तथा सड़कों पर भेष बदल कर हथियार सहित घूमना, जंगलों में बिना सरकारी आज्ञा के शिकार खेलना, हिरन मारना, सम्राट् के तालाब से मछली चुराना, किसी व्यक्ति की नौकरानी, पत्नी तथा विधवा स्त्री को भगा ले जाना, चोरी करना, चोरी का सामान खरीदना, जानवरों को क्रूरता-पूर्वक मारना, हरे पेड़ों को काटना, दिवालिया होने पर अपने को पुलिस तथा न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत न करना, जालसाजी करना, गबन करना, नदी के

---

1. विसकाउन्ट टेम्पिलवुड, दि शैडो आफ दि गैलोज (लन्दन : 1951), पृ० 15।
2. जान एल० गिलिन, पूर्वोल्लिखित, पृ० 348।

किनारों को काटना, किसी दूसरे आदमी के घर का, बिना उसकी आज्ञा से, ताला तोड़ना, घुस पैठ करना, शादी के रजिस्टर में झूठी बात लिखना, धमकाने वाली चिट्ठियाँ लिखना तथा किसी अपराधी को शरण देना आदि ऐसे अनेक अपराध शामिल थे जिनके लिए अपराधी व्यक्तियों को फाँसी दी जाती थी। दंड के उन सिद्धान्तों के पतन के साथ ही साथ जिनमें दंड का आधार प्रतिशोध, प्रतिहिंसा तथा भय उत्पन्न करना था, इस सूची में वर्णित अपराधों की संख्या में कमी होती गयी। आज के युग में मृत्यु-दंड केवल हत्या, राजद्रोह आदि जघन्य अपराध को करने के लिए ही दिया जाता है।

मृत्यु-दण्ड का लक्ष्य

सदियों से मृत्यु-दंड का एक ही लक्ष्य रहा है : अपराधों की संख्या को भय प्रदर्शित करके कम करना तथा समाज के अन्य सभी लोगों को यह दिखाना कि अपराध का परिणाम कितना भयानक हो सकता है। इस दंड के पीछे छिपा विचार यह है कि यदि गम्भीर अपराधियों को प्राण चले जाने का भय नहीं रहेगा तो वे समाज के सामने बड़ा खतरा पैदा कर देंगे और उन्हें देख कर और बहुत से लोग भी अपराध करने लगेंगे। दण्ड की इस विधि को समाज के शत्रुओं के विनाश के हेतु प्रयोग में लाया जाता रहा है। बहुत से व्यक्तियों का यह दृढ़ विश्वास है कि यही एक ऐसी दण्ड-विधि है जिसका भय व्यक्ति के मन पर पड़ता है और जिसकी कल्पना मात्र से अपराध करने की सोचने वाले व्यक्ति के रोंगटे खड़े हो सकते हैं। कुछ लोग दण्ड के इस प्रकार को एक ऐसी सामाजिक युक्ति मानते हैं जिसका प्रयोग करके समाज अपने शत्रुओं का निरन्तर बोझा न ढोकर उनको समाप्त करके चैन की साँस लेता है। कुछ अन्य लोग इस विधि को उन अपराधियों को समाप्त करने का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं[1] जिनका सुधार किया ही नहीं जा सकता है।

मृत्यु-दण्ड को अपराध-निरोध की सर्वोच्च एवं शक्तिपूर्ण युक्ति बताने वाले विचारकों का कहना है कि इसी दण्ड से अपराध करने के प्रति सक्षम भय उत्पन्न होता है और यह विधि आजन्म कारावास से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है। 1806 से ही ब्रिटेन की संसद में मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध व्याख्यान होने प्रारम्भ हो चुके थे। 1808 में क्वेकर्स के संगठन के माध्यम से इंगलैण्ड में मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध जिस अभियान का प्रारम्भ हुआ उसका विस्तार आगे चल कर विश्व के

---

1. रैफेल गारफेलो, क्रिमिनालोजी (बोस्टन : 1914), पृ० 378–381।

अन्य देशों में भी हुआ। विश्व के कुछ देश ऐसे भी थे जिनमें मृत्यु-दण्ड को कानूनों की किताबों से पहले ही निकाल दिया गया था। ब्रिटेन के मृत्यु-दण्ड उन्मूलनकारी विचारक इन देशों के दृष्टान्त जनता तथा संसद के सम्मुख रख कर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यह प्रयत्न करते रहे कि इस दण्ड को रद्द कर दिया जाए। आज की स्थिति में निम्नलिखित देश ऐसे हैं जिनमें मृत्यु-दण्ड देने की कानूनी इजाजत नहीं प्राप्त है :—

देश	मृत्यु-दण्ड समाप्त होने का वर्ष	देश	मृत्यु-दण्ड समाप्त होने का वर्ष
यूरोप		कोलम्बिया	1910
आस्ट्रिया	1930	कोस्टारिका	1888
डेनमार्क	1930	डोमिनिकिन रिपब्लिक	1924
फिनलैण्ड	1949	इक्वेडोर	1897
हालैण्ड	1870	ग्वाटेमाला	1955
इटली	1889	होन्डूरास	1894
लुकजेमबर्ग	1945	मेक्सिको	1928
नार्वे	1905	उरुग्वे	1907
पुर्तगाल	1867	वेनेजुवेला	1863
रुमानिया	1865	निकारागुवा	1950
स्पेन	1932	पनामा	1903
स्वेडन	1921	पीरू	1900
स्विटजरलैण्ड	1879	प्यूरटोरिको	1929
टर्की	1950	वर्जिन आइलैण्ड	1957
रूस	1947		
पश्चिमी जर्मनी	1949	आस्ट्रेलिया	
		क्वीन्सलैण्ड	1922
दक्षिणी अमरीका			
		एशिया	
अर्जेनटीना	1922		
ब्राजील	1891	नेपाल	1922

देश	मृत्यु-दण्ड समाप्त होने का वर्ष	देश	मृत्यु-दण्ड समाप्त होने का वर्ष
संयुक्त राष्ट्र अमरीका		डेलावर	1958
मेन	1887	हवाई	1957
मिशिगन	1847		
मिनीसोटा	1911	अन्य देश	
नार्थ डकोटा	1995	ग्रीनलैण्ड	1930
रोड आइलैण्ड	1852	आइसलैण्ड	1944
विस्कोनसिन	1853	इजराइल	1948
अलास्का	1957	ब्रिटेन	1965

मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का अभियान

मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का अभियान 1764 से सिजारे बेकारिया के उस मत से प्रारम्भ होता है जिसमें उन्होंने इस दण्ड को अवैधानिक तथा अनावश्यक बताते हुए यह कहा था कि सामाजिक संविदा का निर्माण करने वाले व्यक्तियों ने प्रभुसत्ताधारी प्रशासक को जान लेने का अधिकार नहीं दिया है। उनका मत था कि किसी भी व्यक्ति की जान लेना इसलिए अतार्किक है क्योंकि समाज की स्थापना का प्रमुख आधार व्यक्ति के जीवित रहने के अधिकार से सम्बद्ध है और चूँकि मानव जीवन ईश्वर द्वारा निर्मित सबसे अच्छी वस्तु है, अतः किसी भी समाज में किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं प्राप्त है कि वह दूसरे व्यक्ति की जान ले सके।[1]

बेकारिया का तर्क था कि जब हम मानते हैं कि दण्ड का तार्किक आधार अपराध के प्रति भय उत्पन्न करना है तब मृत्यु-दण्ड देना व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि मृत्यु-दण्ड पाने वाले व्यक्ति को देखकर लोगों में स्थायी भय का जन्म नहीं होता। क्षणिक दण्ड से अच्छा दण्ड वह है जो अधिक समय तक चले और जिसके आधार पर व्यक्ति को यह अवसर प्राप्त हो सके कि वह अपना सुधार कर

1. मारक्विस सिजारे बेकारिया, एसे आन क्राइम्स ऐण्ड पनिशमेण्ट्स (एल-बनी : 1872), पृ० 97–98।

सके। उन्होंने मृत्यु-दण्ड की भर्त्सना एक अन्य आधार पर भी की। उन्होंने कहा कि मौत के फन्दे में मनुष्य को लटकाना एक हिंसात्मक तथा क्रूरतापूर्ण कार्य है। इस प्रकार का दण्ड न्यायाधीशों द्वारा की गयी हत्या मानी जानी चाहिए क्योंकि इसमें न्यायाधीश जान-बूझ कर तथा सोच-समझ कर व्यक्ति की जान लेते हैं।

मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन तथा इसके बने रहने का प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद रहा है। इसके पक्ष एवं विपक्ष में मत व्यक्त करने वाले व्यक्ति ऐसे दो परस्पर विरोधी वर्गों में बंटे हैं जिनमें मतैक्य हो पाना कठिन प्रतीत होता है परन्तु फिर भी दण्ड-शास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि इसके उन्मूलन का मत व्यक्त करने वाले विचारकों का पलड़ा भारी है। मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनका वर्णन निम्नांकित प्रकार से किया जा सकता है :—

(1) मृत्यु-दण्ड भय नहीं उत्पन्न करता

मृत्यु-दण्ड के उन्मूलनकारी विचारकों का मत है कि इस प्रकार के दण्ड को बनाये रखने वाले व्यक्तियों की यह दलील गलत है कि इस दण्ड के माध्यम से अपराध करने के प्रति भय उत्पन्न होता है। इस दण्ड से भय की उत्पत्ति एक कल्पित कथा है। अधिकांश व्यक्ति जो हत्या करते हैं, अपराध करने से पहले यह नहीं सोचते कि उनको मृत्यु-दण्ड मिलेगा। मृत्यु-दण्ड के मिलने या न मिलने का विचार हत्या करते समय उनके मन में आता ही नहीं। क्षणिक उत्तेजना में अन्धा व्यक्ति यह सोच ही नहीं पाता कि उसके अपराधी कृत्य का परिणाम उसके लिए ही कितना भयावह होगा। हत्यारों पर किये गये अनेक शोध-अध्ययनों से यह स्पष्ट रूप से विदित हो चुका है कि हत्या आवेश में आकर व्यक्ति करता है और अधिकांश हत्या के कृत्य पूर्व-नियोजित नहीं होते। पूर्व-नियोजित हत्याओं को भी यदि मान लिया जाये तो उससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि मृत्यु-दण्ड मिलने का विचार भय उत्पन्न करता है। बहुत से हत्यारों की मनस्थिति इतनी विकृत होती है कि वे हत्या की योजना बनाते समय दण्ड-प्राप्ति के बारे में सोच ही नहीं सकते। इस प्रकार के व्यक्तियों के लिए दण्ड के स्थान पर मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता है।[1] जो भी व्यक्ति हत्या जैसे अपराध करने में भयभीत होते हैं उनके भय का कारण मृत्यु-दण्ड नहीं है : उनके भय

1. टाइम्स आफ इंडिया, एडिटोरियल, जुलाई 30, 1972।

का कारण है उनकी वे आन्तरिक भावनाएँ जो इस प्रकार के कार्य को अमानवीय समझती हैं।

उन्मूलनकारी विचारकों का यह तर्क सही लगता है कि यदि मृत्यु-दण्ड भय उत्पन्न करता है तो फिर उन देशों में गम्भीर अपराधों की संख्या क्यों बढ़ रही है जिनमें मृत्यु-दण्ड का प्राविधान है। इसके विपरीत यदि यह मान लिया जाये कि मृत्यु-दण्ड के हटाने से अपराधों की संख्या बढ़ जायेगी तो फिर उन देशों में अपराध बढ़े क्यों नहीं जिनमें मृत्यु-दण्ड का प्राविधान समाप्त कर दिया गया है। मृत्यु-दण्ड के विरोध में बोलने वाले विचारकों का कहना है कि वे सभी लोग (चाहे न्यायपालिका में या शासन में) जनता को लगातार बताते रहते हैं कि मृत्यु-दण्ड के हटने के दिन से समाज में त्राहि त्राहि मच जायगी, अपराध इतने बढ़ जायेंगे कि लोग सड़कों पर चल नहीं पायेंगे और हत्याएँ दिन दहाड़े होने लगेंगी। इस प्रकार का भय साधारण नागरिक के मन में जान-बूझ कर उन सभी लोगों के द्वारा पैदा किया जाता रहा है जो जनता को मृत्यु-दण्ड के प्रश्न पर गुमराह करना चाहते हैं। जिन देशों में मृत्यु-दण्ड को समाप्त कर दिया गया है वहाँ भी पहले इसी प्रकार की बेतुकी बातें कही गयीं थीं, परन्तु मृत्यु-दण्ड के समाप्त हो जाने से वैसा कुछ भी नहीं हुआ जिसकी कल्पना करके जनता को भयभीत किया गया था।

सेविट्ज ने मृत्यु-दण्ड का भय उत्पन्न करनेवाले तर्क को अवास्तविक सिद्ध करने के प्रयत्न में उन अध्ययनों के निष्कर्ष बताये जिनसे सिद्ध हुआ था कि मृत्यु-दण्ड दिये जानेवाले दृश्य को देखने तथा समाचारपत्रों में उसके पढ़ने के दिन तो लोगों के मन में भय उत्पन्न होता है परन्तु थोड़े दिनों में ही इस भय का भाव समाप्त हो जाता है।[1] ब्रिस्टल नगर के जेल के पादरी ने 1848 में तत्कालीन शाही कमीशन के सामने अपनी गवाही में कहा था कि उनके कार्यालय में उस जेल में जिन 167 व्यक्तियों पर हत्या का अपराध लगा था उनमें 164 व्यक्ति ऐसे थे जो पहले फाँसी का दृश्य देख चुके थे। इसीलिए भय पैदा करने की बात कहाँ रही। इंगलैण्ड में डाड नामक एक व्यक्ति की कथा प्रसिद्ध है। डाड पर जालसाजी का मुकदमा चला था। जिस अदालती

---

1. लियोनार्ड डी० सेविट्ज, "ए स्टडी इन कैपिटल पनिशमेन्ट," जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, नवम्बर-दिसम्बर 1958, पृ० 338—341।

पंच ने डाड को फाँसी की सजा देने पर जोर दिया था तथा जिसके कारण उसे फाँसी हुई थी वही महाशय कुछ समय बाद जालसाजी में पकड़े गये और फाँसी पर लटका दिये गये। इस प्रकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध हैं और उनसे यह सिद्ध होता है कि मृत्यु-दण्ड का भय वास्तविक न होकर काल्पनिक है।

नारवल मारिस ने 1961 से लेकर 1965 तक की हत्याओं के विश्व भर के आँकड़े एकत्रित किये और उनके विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे—"जिन देशों में हत्या की घटनाएँ इन पाँच वर्षों में बढ़ी हैं उनसे यह नहीं सिद्ध होता है कि मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन इस बढ़ोतरी का कारण है, जिन देशों में हत्या की घटनाएँ घटी हैं वहाँ भी इस घटोतरी का कारण मृत्यु-दण्ड का उन्मूलन नहीं है तथा जहाँ-जहाँ अपराध की घटनाएँ पहले की संख्या के आस-पास ही हैं वहाँ पर मृत्यु-दण्ड का रहना या न रहना कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता।"[1] लंका के मृत्यु-दण्ड उन्मूलन के जाँच-आयोग ने भी 1959 में इसी प्रकार का मत व्यक्त किया था। ब्रिटेन के शाही कमीशन ने 1953 में यह मत व्यक्त किया कि "आज तक हमारे पास कोई ऐसा सबूत नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि मृत्यु-दण्ड के हटाने से हत्याओं तथा अन्य गम्भीर अपराधों की संख्या बढ़ जायेगी। सेलिन का मत है कि हत्याओं की दर मृत्यु-दण्ड के अतिरिक्त अन्य कारणों से घटती-बढ़ती रहती है। उनका कहना था कि वही दण्ड भय उत्पन्न करता है जिसके मिलने की सम्भावना निश्चित है। कठोर दण्ड से कहीं अधिक प्रभावशाली वह दण्ड है जिसके बारे में सोचा जा सके कि वह अवश्य मिलेगा। सेलिन के विचार से आजन्म कारावास मृत्यु-दण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली है।"[2]

(2) मृत्यु-दण्ड में न्याय-हत्या होने की सम्भावना

मृत्यु-दण्ड का न्यायिक प्राविधान गवाही, सबूत तथा अपराध-स्वीकरण के आधार पर कार्यान्वित किया जाता है। इस दण्ड के देने में इस बात की सम्भावना सदैव बनी रहती है कि कहीं कोई निर्दोष व्यक्ति इसका भागीदार न बन जाये।

---

1. नारवल मारिस, "कैपिटल पनशमेन्ट डेवलपमेन्ट्स," रिपोर्ट आफ दि यूनाइटेड नेशन्स, डिपार्टमेन्ट आफ सोशल ऐन्ड इकोनामिक अफेयर्स, 1967।
2. थार्सटन सेलिन, "मरडर ऐन्ड डेथ पेनाल्टी", एनल्स आफ दि अमेरिकन अकेडमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्सेज, नवम्बर, 1952।

वर्तमान न्याय-व्यवस्था में निहित कमियों को ध्यान में रख कर यह कह पाना कठिन है कि केवल वे ही व्यक्ति मृत्यु-दण्ड पायेंगे जिन्होंने निश्चय ही हत्या जैसा अपराध किया है। क्या गवाह झूठी गवाही नहीं दे सकते हैं? क्या पुलिस झूठे जुर्म में किसी व्यक्ति को नहीं फँसा सकती है? क्या लोक-अभियोजन की प्रक्रिया में सही आदमी अपराध न करने के बाद भी नहीं फँस सकता है, क्या शिनाख्त झूठी नहीं हो सकती है और क्या न्यायाधीश का निर्णय गलत नहीं हो सकता है? ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर निश्चयात्मक शब्दों में नहीं दिया जा सकता। विधि-शास्त्री, न्यायाधीश तथा वकील लोग यह स्वीकार करते हैं कि मृत्यु-दण्ड देने के लिए जिस प्रकार की न्यायिक प्रणाली चली आ रही है उसमें निर्दोष व्यक्ति के फाँसी पा जाने की सम्भावना को निकाला नहीं जा सकता। अमरीका में केरिल चेसमैन तथा इंग्लैण्ड में ईवान्स तथा क्रिस्टी के मुकदमे ऐसे हैं जिनमें निर्दोष व्यक्तियों को फाँसी की सजा मिल चुकी है।[1] क्या न्यायपालिका इस प्रकार के निर्दोष व्यक्तियों की हत्या की जिम्मेदार नहीं है? मृत्यु-दण्ड के उन्मूलनकारी विचारक न्याय-व्यवस्था में निहित दोषों के कारण यह कहते आये हैं कि ऐसा न्यायिक प्राविधान ही क्यों रखा जाये जिसके सही प्रयोग न किये जाने के कारण किसी निर्दोष व्यक्ति को अपनी जान गँवानी पड़ती है।[2] इन विचारकों का यह भी कहना है कि हमारी न्याय-व्यवस्था में गरीब, बेसहारा, अशिक्षित तथा साधनहीन व्यक्ति उचित न्याय पा ही नहीं सकते क्योंकि वे पुलिस को घूस नहीं दे सकते हैं, बड़े वकील को मुकदमा लड़ने की फीस नहीं दे सकते हैं तथा न्यायाधीश पर कोई जोर दबाव व सिफारिश नहीं डाल सकते हैं। फल यह होता है कि आर्थिक-सामाजिक रूप से शोषित वर्ग के व्यक्ति कभी कभी उन हत्याओं के लिए फाँसी के फन्दे में लटक जाते हैं जिन्हें उन्होंने नहीं किया है। धनी, शिक्षित, सशक्त, साधन-सम्पन्न तथा राजनैतिक जोर-दबाव की रस्सी खींचने में समर्थ व्यक्ति कानून के शिकंजे के बाहर निकल जाते हैं और फँसते वे व्यक्ति हैं जिनकी पूछ या जिनकी सिफारिश करने वाला कोई नेता या प्रशासक नहीं है।[3] अमरीका की अपराध तथा बाल अपराध

---

1. माइकेल इकोल, दि केस आफ़ टिमोथी इवान्स (लन्दन : 1956)।
2. आर॰टी॰ पेगेट ऐन्ड सिडनी सिलवरमैन, हैंगड ऐन्ड इनोसेन्ट (लन्दन : 1953)।
3. ट्रेन्ड्स इन कैपिटल पनिशमेन्ट—ऐन इन्टरनैशनल रिव्यू, सोशल डिफेन्स, वाल्यूम ४, नम्बर 14, अक्टूबर, 1968, पृ॰ 51।

परिषद् ने इसी बात को ध्यान में रख कर यह मत व्यक्त किया कि "जो लोग मृत्यु-दण्ड प्राप्त करते हैं वे कदाचित् ही व्यावसायिक हत्यारे या गम्भीर अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं। कुछ अपवाद छोड़ कर बहुधा इस प्रकार के व्यक्ति निम्न सामाजिक स्तर के वे लोग होते हैं जो वैधिक रूप से स्वस्थ मस्तिष्क वाले ठहराये जाने के बाद भी वास्तव में मन्द बुद्धि तथा दोषपूर्ण मानसिक स्वास्थ्य रखते हैं"।[1] लासर्स ने कहा कि चूंकि वैधिक न्याय का निर्णय मनुष्यों द्वारा लिया जाता है, जो गलती कर सकते हैं, अतः मृत्यु-दण्ड का निर्णय निर्दोष को दोषी ठहरा सकता है। उनका मत था कि जब तक मानव के निर्णय लेने की प्रक्रिया में गलती हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी तब तक निर्दोष, दरिद्र, कमजोर, अज्ञानी, घृणित व्यक्ति फांसी के फन्दे में लटकाये जाते रहेंगे।[2]

निर्दोष व्यक्ति के मृत्यु-दण्ड पा जाने से जो सामाजिक क्षति होती है उसका वर्णन करते हुए बैलो तथा ग्रीन ने कहा कि समाज को उन व्यक्तियों को फांसी मिल जाने पर बड़ा मानसिक क्लेश होता है जो बाद में निर्दोष सिद्ध होते हैं। अतः निर्दोष व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड मिलने की सम्भावना को हटाने के लिए समाज उन व्यक्तियों की जान बचा भी सकता है, जो शायद दोषी हों।[3] फ्रांसीसी क्रान्ति के नेता रोबेस पियारे ने फांसी के तख्ते पर लटकने के पूर्व 1791 में फ्रान्स के न्यायाधीशों की अन्तरात्मा को कुरेदने के लिए निम्नलिखित शब्द कहे थे—"न्याय तथा तर्क की बात को सुनिये। यह बार बार कह रहा है कि मनुष्यों के द्वारा दिये गये निर्णय इतने निश्चित हो ही नहीं सकते जिनके आधार पर समाज को यह अनुमति प्राप्त हो कि वह (समाज) उन व्यक्तियों की जान ले सके जिनके दोष को दूसरे व्यक्तियों ने सिद्ध किया है""आप ऐसा प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं जिससे इस प्रकार की गलती हो ही नहीं सकती। आप अपने को उस मजबूरी की हालत में निन्दित क्यों करते हैं जिसमें दोषी तथा निर्दोष व्यक्ति

1. पालिसी स्टेटमेन्ट आन कैपिटल पनिशमेन्ट, क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी, अप्रैल, 1964, पृ० 106।
2. विलोर्ड जे० लासर्स, "प्रूफ आफ गिल्ट इन कैपिटल केसेज", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, सितम्बर, 1967, पृ० 310–316।
3. जोसेफ के० बैलो ऐन्ड जान डी० ग्रीन, "कैपिटल पनिशमेन्ट : सम रिफ्लेक्शन्स," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 24, नम्बर 4, दिसम्बर 1969, पृ० 24।

का सही सही पता लगाना असम्भव है।"[1] निर्दोष व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड मिल जाने पर समाज तथा इसकी न्याय-व्यवस्था कौन-सा पाश्चात्ताप करेगी जिससे कि उस व्यक्ति की मृत्यु को क्षति-पूर्ति की जा सके ? चूंकि इस प्रकार के पाश्चात्ताप की कोई तर्क-संगत विधि नहीं है अतः मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का शोर मचाने वाले विचारक यह कहते हैं कि हम मृत्यु-दण्ड को हटा क्यों नहीं देते ? लन्दन के विख्यात बैरिस्टर डूकान ने कहा कि आज भी निजी हत्याओं के लिए राज्य द्वारा हत्याएँ की जा रही हैं और इस प्रकार की न्याय-हत्याओं के लिए हमसे बाद में आनेवाली पीढ़ी हमको इसलिए घृणा की दृष्टि से देखेगी क्योंकि हमने निर्दोष व्यक्तियों को मिलनेवाली फांसी की सजा का कभी विरोध नहीं किया।[2]

(3) राज्य को मानव के प्राण लेने का अधिकार नहीं है

बेकारिया का मत था कि राज्य को किसी भी मानव की जान लेने का अधिकार नहीं प्राप्त है क्योंकि जब राज्य जान प्रदान नहीं कर सकता तो इसे लेने का अधिकार उसे कहाँ से प्राप्त होगा। यह अधिकार तो ईश्वर का है। बेकारिया के इस मत का आधार राज्य की प्रभुसत्ता में निहित अधिकारों का खण्डन करना नहीं था, उनका प्रमुख उद्देश्य था राज्य के उस नैतिक उत्तरदायित्व को मानवीय मूल्यों की रक्षा करने के लिए प्रेरित रखना जिसका प्रयोग हत्या के कृत्य को दण्डित करने के लिए किया जाता है। बेकारिया ने यह अपील की थी कि राज्य को उन कानूनों को त्याग देना चाहिए जिनमें मृत्यु-दण्ड जैसे क्रूरतापूर्ण तथा अमानवीय दण्डों का उल्लेख है। सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राज्य बर्बरता, क्रूरता तथा मानव-विनाशकारी विधियों का प्रयोग करे। आज के बुद्धिवादी युग में राज्य द्वारा की जानेवाली हत्या हमें आदिम समाजों की उस न्याय-व्यवस्था की याद दिलाती है जिसमें व्यक्ति खून का बदला खून से लेने का अधिकारी था। साधारण नागरिक यदि प्रतिशोध में विश्वास रखता है तो गलती उसकी नहीं, गलती है उसकी अशिक्षा तथा अज्ञान की। परन्तु प्रबुद्ध नागरिक जब खून का बदला खून से लेने की बात कहता है तो गलती उसकी लगती है। यदि खुले मन से सोचा जाये तो क्या ऐसा नहीं लगेगा कि हत्यारे की जान ले लेने से हत्या किये गये व्यक्ति का बदला या

1. आटो पोलक द्वारा उद्धृत, "दि एरर्स आफ जस्टिस," इन कैपिटल पनिशमेन्ट (सम्पादित), थार्सटन सेलिन (न्यूयार्क : 1967), पृ० 220।
2. आर्थर हेल्लोरन, "कैपिटल पनिशमेन्ट," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 26, जून 1965, पृ० 33।

उसकी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती । सच तो यह है कि हत्या का दण्ड हत्या नहीं हो सकता । कुछ मृत्यु-दण्ड के उन्मूलनकारी विचारकों का मत है कि वह राज्य अपने नागरिक को हत्या करने की सीख कैसे दे सकता है जो स्वयं हत्या करता है । पेगेट ने ब्रिटेन की संसद में मृत्यु-दण्ड की बर्बरता तथा इसमें निहित प्रतिशोध की भावना को अमानवीय बताते हुए अपने व्याख्यान में कहा कि हम उन अपराधियों के हाथ-पैर नहीं काटते जिन्होंने किसी दूसरे व्यक्ति को आहत किया है या पीड़ा पहुँचाई है तथा उन व्यक्तियों के घरों में आग नहीं लगाते जिन्होंने चोरी, डकैती या आगजनी की है तब फिर हम हत्यारे की हत्या क्यों करते हैं ? क्लोरेन्स डैरो ने 1922 में मृत्यु-दण्ड के पक्ष तथा विपक्ष में न्यूयार्क में आयोजित एक प्रतियोगिता में कहा कि जो लोग मृत्यु-दण्ड में विश्वास रखते हैं उनको दूसरों की जान लेने में या जान लिए जानेवाले दृश्यों को देखने में या फाँसी दिये जाने पर अखबारों में प्रकाशित खबरों को पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है । डैरो के विचार से इस प्रकार के व्यक्तियों में खून बहाने तथा बहने की क्रिया के प्रति सचेतन मन से प्यार बना रहता है । कुछ अन्य उन्मूलनकारी विचारकों का तर्क था कि यह सही है कि मारे गये व्यक्ति के परिवार के सदस्यों की भावनाएँ मृत्यु-दण्ड के द्वारा सन्तुष्ट होती हैं, पर उनका क्या होगा जो मृत्यु-दण्ड पाये व्यक्ति के परिवार के सदस्य हैं । आखिर उनका क्या अपराध है कि वे लोग मृत्यु-दण्ड के कष्ट को जीवन पर्यन्त भोगें ? अमरीका में मृत्यु-दण्ड उन्मूलन के लिए गठित एक सरकारी कमेटी ने लिखा है—"हम हत्या किये गये व्यक्ति तथा उसके परिवार के सदस्यों से सहानुभूति रखते हैं परन्तु एक अपराध के लिए दूसरा अपराध नहीं करना चाहते । हम फाँसी पाये हुए व्यक्ति के परिवार के सदस्यों से भी उतनी ही सहानुभूति रखते हैं जितनी कि उन लोगों के प्रति जो मारे गये व्यक्ति के परिवार में रहते हैं । हम मृत्यु-दण्ड को समाप्त करने की सिफारिश इसलिए नहीं करते हैं कि हमें आहत व्यक्ति के परिवार वालों से सहानुभूति नहीं है, हम मृत्यु-दण्ड की समाप्ति इसलिए करना चाहते हैं कि इस प्रकार का क्रूरता-पूर्ण दण्ड आज के समाज में शोभा नहीं देता ।"

इसी मुद्दे पर मेसाचुसेट्स के मृत्यु-दण्ड सम्बन्धी एक आयोग ने अपनी एक संस्तुति में कहा—"आयोग इस बात को समझ पाया है कि मृत्यु-दण्ड की सामाजिक उपयोगिता इससे उत्पन्न सामाजिक हानि को देखते हुए नगण्य है । हत्यारों के साथ कठोरता तथा सरलता बरतने का प्रश्न नहीं है । यह सरलता से समझा जा सकता है कि मानवीय संवेगों की शक्तिशालिता उस व्यक्ति को कानून को हाथ में लेने के लिए तथा अपने हाथों से हत्यारे की हत्या करने के लिए

मजबूर करती है जिसके परिवार के सदस्य या अन्तरंग मित्र की हत्या की गयी है। परन्तु हत्यारे की हत्या करने से मारे गये व्यक्ति की न तो जान लौटती है और न अन्य हत्याएँ कम होती हैं। इस प्रकार का कृत्य प्रतिकार की भावना का प्रतीक और जिसे आज की दण्ड-नीति में मान्यता नहीं प्रदान की जाती। यह बात हमें स्पष्टता से समझ लेनी चाहिए कि प्रतिकार तथा प्रतिहिंसा का जो भाव दण्ड के भयात्मक सिद्धान्त में निहित है उसे सभ्य देशों में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।" आयोग का मत था कि मारे गये व्यक्ति के परिवार के सदस्यों की भावनाओं की संस्तुष्टि उस दशा में भी हो सकती है जबकि हत्यारे को आजन्म कारावास दे दिया जाये।

सर अरनेस्ट ग्रोवर (जो ब्रिटेन में मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन के प्रश्न पर विचार करने वाले 1953 के रायल कमीशन के चेयरमैन थे) ने कहा कि उन्हें यह देखकर अचम्भा हुआ कि अनेक पढ़े लिखे लोग हत्यारे के प्रति केवल प्रतिशोध की भावना रखने के कारण मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन का विरोध करते हैं। परन्तु दण्ड के प्रतिशोधात्मक आधार को स्वीकृत करने का अर्थ यह होगा कि हमने दण्ड के आधुनिक लक्ष्यों को देखने और पहचानने के लिए अपनी आँखें बन्द कर ली हैं! अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय में कहा गया कि दण्ड का उद्देश्य नागरिकों में दण्ड के प्रति भय उत्पन्न करके समाज की रक्षा करना मात्र नहीं है, दण्ड का उद्देश्य समाज की रक्षा के साथ ही साथ अपराधी व्यक्तियों का सुधार भी करना है। चूँकि दण्ड में प्रतिशोध की भावना लाने मात्र से ही सुधार का पक्ष कमजोर हो जाता है, अतः प्रतिकार एवं प्रतिहिंसा का स्थान आधुनिक दण्ड-शास्त्र में नहीं है।

(4) मृत्यु-दण्ड अनैतिक तथा अनाचारात्मक है

न्यूयार्क की मृत्यु-दण्ड उन्मूलनकारी समिति के अध्यक्ष जरोमे नाथनसन ने लिखा कि वह दण्ड कभी भी नैतिक नहीं है जिसका आधार प्रतिशोध या बदला लेना है। वही दण्ड नैतिक है जिसका उद्देश्य अपराधी व्यक्ति को सामाजिकता का पाठ सिखाना, उसके चरित्र का सुधार करना तथा इस योग्य बनाना है जिससे वह दण्ड पाने के बाद अपने को कानून की परिधि में समायोजित कर सके।[1] दोस्तोव्स्की ने अपनी पुस्तक 'ईडियट' में लिखा कि "हत्यारे

---

1. विलियम ओ० हाकमैन "कैपिटल पनिशमेन्ट कन्ट्रोवर्सी," जरनल आफ क्रिमिनालोजी, क्रिमिनल ला ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 60, नम्बर 3, 1969, पृ० 362।

की हत्या करना एक ऐसी विधि है जो अपराध से भी बुरी है। वैधिक रूप से की गई हत्या लुटेरों के द्वारा की गई हत्या से भी भयानक है।" अलबर्ट कामू ने कहा कि "मृत्यु-दण्ड वह दंड है जिसकी कल्पना को ही सहा नहीं जा सकता, यह दंड बदमाशों के द्वारा सोच-समझकर किये गये दंड से भी भयानक है।" 1947 में अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश ने अपने एक निर्णय में कहा कि क्रूर साधनों से हत्यारे की जान लेना मनुष्य की सहज मानव भावनाओं को ठेस पहुँचाता है। इस दंड का प्राविधान हमारे कानूनों में नहीं होना चाहिए।[1]

(5) फाँसी देने की प्रक्रिया तथा इसका दृश्य घृणास्पद है

मृत्यु-दंड के उन्मूलनकारी विचारकों का मत है कि मृत्यु-दंड देने की जो प्रक्रिया अपनाई जाती है उसके तमाशे को देखकर हर संवेदनशील व्यक्ति के मन में इस दंड के प्रति घृणा का ही भाव जागृत होगा। उनके मत में यह बात मानव के लिए अशोभनीय है कि किसी अपराधी व्यक्ति (चाहे वह हत्यारा ही क्यों न हो) को यह पहले से बताकर उसका खून सुखा देना कि अमुक दिन के अमुक समय पर उसकी जान ले ली जायेगी। कितनी विक्षिप्तता या कितना विषाद ऐसे व्यक्ति को मिलता होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। कामू ने फाँसी पाने वाले व्यक्ति की मनोदशा का चित्रण करते हुए लिखा है—"जैसे जैसे दिन गुजरते जाते हैं, निराशा बढ़ती जाती है और मानसिक कष्ट असहनीय होता जाता है। भय एसिड की भाँति काम करता है और व्यक्ति की खाल का रंग बदलता जाता है""""क्या हत्यारे ने भी कभी उस व्यक्ति को इस प्रकार की मनोदशा का शिकार बनाया था जिसकी उसने आवेश में तथा जाने-अनजाने हत्या कर डाली थी"""" साधारणतः ऐसी मनोदशा फाँसी पाये हुए व्यक्ति के फाँसी के तख्ते पर लटकने के पूर्व ही उसकी जान ले लेती है। उसकी जान दो बार ली जाती—पहली बार ली गई जान दूसरे बार ली गई जान से भी कहीं खराब होती है। इस कष्ट से अच्छा तो दंड का वह सिद्धान्त था जिसमें तुरन्त हत्यारे की हत्या कर दी जाती थी।"

प्रसिद्ध दार्शनिक थैकरसे जब फांसी पर लटकने वाले की दशा या तमाशे को देखकर घर लौटे तो उन्होंने लिखा —"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस दृश्य ने मुझमें घृणा तथा शर्म की भावनाएँ उत्पन्न की हैं। मुझे ऐसा लगा कि हम

1. देखें : जेराल्ड एच० गाटलीब, "कैपिटल पनिशमेन्ट", क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 15, नम्बर 1, जनवरी 1969, पृ० 13।

उन लोगों की बर्बरता को प्रोत्साहन दे रहे हैं जो अपने ही साथी को पशुओं को भाँति बलि की वेदी पर चढ़ा रहे हैं। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि इंगलैंड में किसी भी व्यक्ति को इस बर्बर तमाशे को देखने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए।" उन्होंने आगे लिखा कि जो लोग मृत्यु-दंड बनाये रखने के लिए चिल्लाते हैं उन्हें यह चीत्कार तथा दिल दहला देने वाले दृश्य को एक बार अवश्य देखना चाहिए जब हत्यारे व्यक्ति को फाँसी की सजा प्राप्त करने के लिए ले जाया जाता है। आर्थर कोयस्टलर ने अपनी पुस्तक रिफ्लेक्शन्स आन हैंगिंग (लन्दन : 1957) में लिखा कि हमें उन देशों से सीख लेनी चाहिए जहाँ अमानवीयता को त्याग कर दण्ड के मानवीय सुधारवादी दर्शन को स्वीकार किया गया है। उन्होंने आगे यह भी कहा कि हम यदि पशु ही बने रहना चाहते हैं तो हमें मृत्यु-दंड देते रहना चाहिए।

न्यूजीलैंड के हावर्ड लीग आफ पेनल रिफार्म ने मृत्यु-दंड के उन्मूलन का प्रस्ताव निम्नांकित तर्कों को ध्यान में रखकर किया :—

(1) कि यह दंड क्रूर, अमानवीय तथा व्यर्थ एवं अनावश्यक है।

(2) कि इस दंड-विधि में निर्दोष व्यक्ति को भी फाँसी के तख्ते पर लटकाने की सम्भावना सदैव बनी रहती है।

(3) कि हमारा प्रमुख उद्देश्य अपराधियों को अपने बर्बर प्रतिशोध का पात्र न बनाकर उनका सुधार करना है।

(4) कि यह दंड लोगों में घिनौनी सनसनी उत्पन्न करता है।

(5) कि यह दंड लोगों में भय उत्पन्न करने के स्थान पर एक ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है जिसमें एक हत्या के नाम पर अनेक हत्याएँ हो जाएँ।

(6) कि हत्यारे को दी जाने वाली फाँसी से हत्या किये गये व्यक्ति के परिवार को तो कोई लाभ नहीं होता है परन्तु फाँसी पाये हुए व्यक्ति के परिवार के सदस्यों को निर्दोष होने पर भी असीम कष्ट उठाना पड़ता है।

(7) कि हत्या की घटनाएँ अधिक संख्या में क्षणिक आवेश का फल होती हैं और उन हत्याओं की संख्या बहुत कम है जिनमें दंड के परिणामों को सोच विचार करके तथा योजना बनाकर अपराध किया जाता है।

(8) कि हत्या अधिकांशतः उन व्यक्तियों के द्वारा की जाती है जो झगड़े की स्थिति में अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठते हैं।

(9) कि "निजी हत्या" की घटनाओं को रोकने के लिए जब हम "राज्य-

हत्याओं के प्राविधान की सिफारिश करते हैं तब हमें व्यावसायिक हत्यारों की जरूरत पड़ती है।"

मृत्यु-दण्ड का मानवीय विकल्प : आजन्म कारावास

मृत्यु-दंड के उन्मूलनकारी विचारक यह कहीं नहीं कहते हैं कि हत्या जैसा गम्भीर अपराध करनेवालों को केवल साधारण प्रकार का दंड देकर मुक्त कर दिया जाए। उनका कथन है कि हत्या, हिंसात्मक डकैती तथा राजद्रोह के अपराध करनेवाले व्यक्तियों को कठोर दंड अवश्य मिलना चाहिए परन्तु यह दंड मृत्यु-दंड के स्थान पर आजन्म कारावास भी हो सकता है। आजन्म कारावास, इन विचारकों के मत में, एक ऐसी दंड-विधि होगी जिसमें अपराधी व्यक्ति से समाज एक तरीके से बदला भी ले सकता है, उसे अपने घोर अपराध के लिए प्रायश्चित्त का अवसर भी प्रदान कर सकता है तथा कारागार अधिकारियों को यह मौका भी दे सकता है कि वे उस व्यक्ति के चारित्रिक सुधार का एक प्रयत्न कर सकें। आजन्म कारावास के दंड के निर्णय में यदि कोई न्यायिक भूल भी हो गयी है तो उसे सुधारा जा सकता है एवं दंड पाये हुए व्यक्ति के परिवार को सर्वनाश से बचाया जा सकता है। इस प्रकार के दंड से लोगों में उतना ही भय उत्पन्न होने की सम्भावना है जितना मृत्यु-दंड से तथा इस प्रकार के दंड दिये जाने से मारे गए व्यक्ति के परिवार तथा उसके मित्रों की आहत भावनाएँ भी सन्तुष्ट हो सकती हैं। अन्त में आजन्म कारावास की दंड-विधि एक प्रकार से सुधारात्मक दंड की एक व्यवस्था है जिसमें हत्यारों तक को भी एक बार अवसर प्रदान किया जाता है कि वे अपने को कारावास की अवधि में सुधार कर अपनी मुक्ति के उपरान्त शान्तिपूर्ण जीवन बिता सकें तथा उन सामाजिक तथा वैधानिक मान्यताओं एवं नियमों का पालन कर सकें जिनके उल्लंघन के कारण उन्हें जेल की यातनाएँ उठानी पड़ी हैं।

दोस्तोव्स्की ने एक बार कहा था कि फाँसी पर लटकाये जाने से कुछ मिनट पहले यदि किसी व्यक्ति से यह कहा जाए कि इस दंड के विकल्प में तुम क्या यह चाहते हो कि तुम्हें अपने जीवन के शेष दिन एक नंगी चट्टान पर गुजारने के लिए छोड़ दिया जाए तो उसका एक ही उत्तर होगा—"हाँ"। दोस्तोव्स्की ने आगे एक प्रश्न किया कि हम मृत्यु-दंड का ऐसा कोई विकल्प क्यों नहीं ढूँढ़ पाते ?

मृत्यु-दण्ड का भारतीय सन्दर्भ

भारत में मृत्यु-दंड का प्राविधान आदिकाल से चला आ रहा है और उसी युग से भारतीय जनता को यह समझाया जा रहा है कि जेलों में नियुक्त

जल्लाद समाज की रक्षा हत्यारों से करते हैं; कोई निर्दोष या मानसिक विकारों से पीड़ित अपराधी फाँसी के तख्ते पर नहीं लटकाया जाता है तथा यदि मृत्यु-दंड समाप्त कर दिया जाएगा तो भारत में हत्या जैसे गम्भीर अपराधों की संख्या बढ़ जाएगी। धर्मशास्त्रों में मृत्यु-दंड का उल्लेख प्राप्त होता है। बौद्ध तथा जैन साहित्य में इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेद तथा तंत्रशास्त्र में यह उल्लेख प्राप्त है कि कुछ देवी तथा देवताओं को सन्तुष्ट करने का एक ही तरीका है—उन्हें बलिदान देना तथा उनकी प्यास मानव-रक्त से बुझाना। मनुस्मृति में मृत्यु-दंड के विविध प्रकारों के अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं। एक स्थान पर लिखा है कि यदि कोई विवाहित स्त्री अपने पति तथा राजा की आज्ञा का उल्लंघन करती है तो उसे जिन्दा खूनी कुत्तों के सामने डाल देना चाहिए। पर-पुरुष-गमन करने-वाली स्त्रियों को पत्थर मार-मार कर उनकी जान लेने का अधिकार समाज को मनुस्मृति में प्राप्त है।

मृत्यु-दंड की यह प्राचीन परम्परा मुस्लिम तथा ब्रिटिश शासन के दिनों में भारत में लगातार चलती रही। इधर करीब 50 वर्षों से इसका विरोध हो हो रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व के वर्षों में मृत्यु-दंड भारत में उन सभी अपराधों के लिए दिया जाता था जिन्हें इंगलैण्ड में "कैपिटल आफेन्सेज" (मृत्यु-दण्ड वाले अपराध) माना जाता था। दासता की स्थिति में भारत में इस दंड की अवहेलना करनेवाले विचारक इसको बदल पाने में मजबूर थे क्योंकि अंग्रेज अपराधिक संहिता को बदलने के लिए तैयार नहीं थे।

स्वराज्य मिलने के बाद ही सन् 1949 में लोकसभा में मृत्यु-दंड के उन्मूलन की आवाज उठाई गयी थी।[1] उस समय भारत के गृह-मन्त्री सरदार पटेल ने मृत्यु-दंड का समर्थन करते हुए कहा था कि "यह अवसर प्राण-दंड समाप्त करने के अनुपयुक्त है। कई बार इस सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है और अन्ततोगत्वा निश्चय यही रहा कि प्राण-दंड रहना ही चाहिए।"[2]

दूसरी बार राज्य-परिषद् में यही प्रश्न उठाया गया। उस समय के गृह-मंत्री पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त ने 25 अप्रैल, 1958 को उत्तर दिया था—"मेरे विचार से हरेक व्यक्ति यही चाहता है कि न कोई मारा जाये और न किसी के

---

1. परिपूर्णानन्द वर्मा, अपराध, अपराधी और अभियुक्त (आगरा : 1963), पृ० 192–195।
2. वही, पृ० 192।

प्राण लिये जाएँ किन्तु हमको इस सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना होगा। चूँकि मेरे विचार से वैसा समय नहीं आने वाला है जब हत्याएँ कम हो जाएँ, अतः इस दण्ड को कायम ही रखना होगा"।[1] अगस्त, 1961 तथा अप्रैल, 1962 में राज्य-परिषद् में तीसरी बार कुछ सदस्यों द्वारा भारतीय दण्ड-विधान से मृत्यु-दण्ड को निकाल देने का एक असफल प्रयत्न किया गया, परन्तु इस बार भी पहले की ही भाँति सरकार ने यही उत्तर दिया कि देश की राज्य-सरकारें मृत्यु-दण्ड बनाये रखना चाहती हैं और चूँकि हत्या तथा अन्य गम्भीर अपराधों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है अतः मृत्यु-दंड का हटा देना दूसरी विपत्ति को आमंत्रित करना होगा। सरकार ने सदस्यों को यह आश्वासन दिया कि मृत्यु-दंड पाने वाले व्यक्तियों की संख्या गम्भीर अपराध बढ़ने के बावजूद कम होती जा रही है और सरकार ने न्यायालयों को निर्देश दे रखा है कि वे मृत्यु-दंड का प्रयोग अपवाद के रूप में ही करें।

पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने प्रधान-मंत्रित्व-काल में व्यक्तिगत रूप से इस दंड को समाप्त करने की इच्छा व्यक्त की परन्तु इसके साथ साथ यह भी कहा कि चूँकि मसला बड़ा ही विवादास्पद है। अतः इसके उन्मूलन के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर ही लेना चाहिए। 1971 में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस मामले को विधि-आयोग को सौंप दिया। विधि-आयोग ने जुलाई, 1972 में मृत्यु-दण्ड के बनाये रखने का सुझाव दिया और कहा—"भारत देश की विचित्र दशाओं को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता इस बात की है कि अभी कोई ऐसा क्रान्तिकारी कदम दण्ड की प्राचीन प्रणाली में परिवर्तन लाने के लिए न किया जाये जिससे कानून एवं व्यवस्था की पहले ही से बिगड़ी स्थिति और अधिक बिगड़ जाये"। विधि-आयोग ने मृत्यु-दण्ड को प्रतिशोध (खून के बदले खून की भावना) का प्रतीक नहीं माना। आयोग का मत था कि मृत्यु-दण्ड गम्भीर अपराधियों के विरुद्ध समाज की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। आयोग ने केवल इतना ही लिखा कि न्यायाधीशों को यह निर्देश दिया जाये कि वे मृत्यु-दण्ड का प्रयोग अपवाद स्वरूप ही करें। आयोग ने अपनी दूसरी सिफारिश में कहा कि 18 वर्ष की अवस्था में व्यक्तियों द्वारा की गई हत्या के बदले में उन्हें मृत्यु-दण्ड न दिया जाये। स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड पाने से मुक्ति के विचार को आयोग ने नहीं स्वीकार किया। आयोग ने अपनी एक अन्य सिफारिश में कहा कि मृत्यु-दण्ड अशोभनीय प्रकार से न

---

1. वही, पृ० 192–193।

दिया जाए तथा इसके देने की प्रणाली अमानवीय न होकर ऐसी हो जिससे दण्डित व्यक्ति की जान शीघ्रता से निकल जाए।

वर्तमान स्थिति यह है कि भारतीय दण्ड-संहिता में निम्नलिखित अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड का प्राविधान बरकरार है :—

भारतीय दण्ड-संहिता की धारा	अपराध का संक्षिप्त विवरण
120 (क)	अपराधिक षड्यन्त्र।
121	भारत सरकार के विरुद्ध युद्ध करना या युद्ध करने का प्रयत्न करना या युद्ध करने की दुष्प्रेरणा करना।
132	विद्रोह का दुष्प्रेरण यदि उसके परिणामस्वरूप विद्रोह किया जावे।
194	मृत्यु-दण्ड जैसे दण्डनीय अपराध के लिए दोषसिद्ध कराने के आशय से मिथ्या साक्ष्य देना या गढ़ना जिससे निर्दोष व्यक्ति को फाँसी की सजा मिल जाए।
302	हत्या।
303	आजीवन कारावास के दण्डादेश के अधीन होते हुए भी हत्या करना।
305	शिशु या उन्मत व्यक्ति की हत्या का दुष्प्रेरण।
396	हत्या-सहित डकैती।

इधर कुछ वर्षों से विधि-आयोग की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए न्यायालयों द्वारा मृत्यु दण्ड जल्दी जल्दी नहीं दिया जाता। राज्यों के उच्च न्यायालयों तथा देश के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जिला न्यायाधीशों के अनेक उन निर्णयों को आजीवन कारावास में परिवर्तित किया जा रहा है जिनमें अपराधी को मृत्यु-दण्ड प्रदान किया जाता है। राष्ट्रपति अपने क्षमादान के विशेष अधिकार द्वारा मृत्यु-दण्ड पाये अनेकों अपराधियों को आजन्म कारावास पाने की माफी प्रदान करते रहते हैं। पिछले दशक में बहुत कम अपराधियों को फाँसी दी गई है।

मृत्यु-दण्ड प्रदान करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आने के बावजूद भारत के कुछ न्याय-विशेषज्ञ, अपराधशास्त्री, दण्डशास्त्री, समाज-सुधारक, समाज-

कार्यकर्ता लगातार यह प्रयत्न करते आ रहे हैं कि मृत्यु-दण्ड का प्राविधान ही भारतीय अपराधिक दण्ड-विधि में नहीं रहना चाहिए। इस विषय पर कई विचार-गोष्ठियां भी आयोजित की जा चुकी हैं जिनमें अपराध-विषशेज्ञों ने यह मत रखा कि मृत्यु-दण्ड के स्थान पर आजन्म कारावास ही उत्तम है। मृत्यु-दण्ड के उन्मूलन में भारत में भी वे ही तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं जो उन सभी देशों में प्रस्तुत किये गये थे जिन्होंने मृत्यु-दण्ड को समाप्त कर दिया।



अध्याय 8

कारागार

प्रस्तावना

दण्ड के प्रायश्चित्तीय लक्ष्य की स्वीकृति के उपरान्त ही 17वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से विश्व के समस्त देशों में कारागारों की स्थापना ऐसे संस्थानों के रूप में की गई जिनका उद्देश्य सजा पाये हुए अपराधियों को बन्दी बनाकर रखना तथा उन्हें शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ देकर उनके द्वारा किये गये अपराधों के लिए प्रायश्चित्त कराना था। उस युग से लेकर आज के अपराधी-सुधार के युग तक कारागार को अपराध-निरोध एवं अपराधियों के पुनर्वास के लिए एक आवश्यक संस्थान के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। दंड के सुधारात्मक लक्ष्य की मान्यता एवं महत्व को स्वीकार करने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कारागार-सुधार का एक विश्वव्यापी आन्दोलन चला आ रहा है जिसका उद्देश्य कारागारों को दंड-प्राप्ति की संस्था न समझ कर अपराधी-सुधार की एक प्रमुख संस्था के रूप में परिवर्तित करना तथा कारागारों में ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन करना है जिससे अपराधी व्यक्ति अपनी कारावास की अवधि में सुधर सकें और मुक्ति के उपरान्त एक आदर्श नागरिक की भाँति व्यवहार कर सकें। 18वीं शताब्दी से लेकर 19वीं शताब्दी के तक कारागार का अर्थ एक ऐसी संस्था के रूप में लिया जाता रहा है जिसका कार्य दण्डित अपराधियों को अपनी चहारदीवारी में बन्द करके रखना था। उस समय सभी प्रकार के अपराधियों को, चाहे वे अच्छे, बुरे, सुधार योग्य, सुधार से परे, आकस्मिक अपराधी, स्वाभाविक अपराधी तथा बाल एवं वयस्क अपराधी हों, उन्हें एक ही साथ एक ही प्रकार के कारागारों में अपने निश्चित दण्ड की सम्पूर्ण अवधि तक रखने की परम्परा थी और उस युग के लोगों तथा न्याय एवं व्यवस्था बनाये रखनेवाले अधिकारियों का यह विचार था कि कारागार उन अपराधियों को

समाज की दृष्टि से दूर रखने के लिए निर्मित किये गए हैं, जिनसे या तो सम्पूर्ण समाज या व्यक्ति-विशेष को शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक क्षति पहुँची है या पहुँचने की सम्भावना है।[1] समय के अन्तराल में कारागारों का न केवल स्वरूप बदला वरन् उनकी प्रशासनिक व्यवस्था, कार्यक्रमों, बन्दियों के प्रति प्रयोग में लाई जानेवाली दण्ड-नीतियों तथा कर्मचारियों के दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन भी हुए हैं। प्राचीन युग के कारागारों को प्रशासनिक व्यवस्था का जो इतिहास उपलब्ध है उसका पर्यावलोकन करने पर ऐसा लगता है कि उस युग के कारागार अब केवल कल्पना करने का एक विषय मात्र हैं। जान हावर्ड (जिन्हें कारागार-सुधार का जनक माना जाता है) की 1777 में प्रकाशित पुस्तक स्टेट आफ प्रिजन्स में कारागारों का जो चित्रण उपलब्ध है उसे देख कर ही प्रचीन युग के कारागारों का अनुमान किया जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के कारागार उन कारागारों से मीलों दूर हैं जिनका विषद वर्णन जान हावर्ड ने इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रान्स, जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय एवं एशियाई देशों की जेलों को देखकर किया था।

कारागारों की प्रशासनिक व्यवस्था में होने वाले सुधारों का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण

19वीं शताब्दी के पूर्व विश्व भर में पाए जाने वाले कारागारों में जो प्रशासन-व्यवस्था चली आ रही थी उसमें कारागार केवल ऐसे राजकीय यातना-केन्द्र थे जिनमें समस्त प्रकार के अपराधियों को रोककर रखा जाता था। इस प्रकार कारागारों को बन्दीगृह ही कहना उचित होगा क्योंकि इनका उद्देश्य जनता को यह दिखाना था कि राज्य कितना शक्तिशाली है और वह किस सीमा

---

1. नेलगी के० टीटर्स, दि क्रेडिल आफ दि पेनीटेनशियरी (फिलाडेलफिया : 1955); फ्योडोर दोस्तोव्स्की, दि हाउस आफ दि डेड (लन्दन : 1962); माइकेल डेविट, लीव्स फ्राम ए प्रिजन डायरी (लन्दन : 1885); जान एल० गिलिन, टेमिंग आफ दि क्रिमिनल्स (न्यूयार्क : 1931); अलफ्रेड हैसलर, डायरी आफ ए सेल्फमेड कनविक्ट (शिकागो : 1954); जान क्लेयर, अनाटमी आफ ए प्रिजन (बाल्टिमोर : 1962); राबर्ट एम० लिन्डर, स्टोनवाल्स ऐन्ड मेन (न्यूयार्क : 1946); जान बी० मार्टिन, ब्रेक डाउन दि वाल्स (न्यूयार्क : 1931); टामस एम० आसबान, विदिन प्रिजन वाल्स, (न्यूयार्क : 1928); अलेक्जेन्डर पैटरसन, पेपर आन प्रिजन्स, (लन्दन : 1951)।

तक अपराधियों को दण्डित कर सकता है। इन बन्दीगृहों का एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि अपराधी व्यक्ति कारागारों की यातना उठाकर ही प्रायश्चित्त करने के साथ ही साथ भविष्य के जीवन में अपराध न करने का निर्णय ले सकता है। इन बन्दीगृहों में पाई जाने वाली रहन-सहन की दशाएँ पशुओं तुल्य थीं, इनमें बन्दियों को हर प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक यातनाएँ दी जाती थीं, इनमें कर्मचारियों का बन्दियों के प्रति व्यवहार अमानवीय, बर्बरतापूर्ण तथा क्रूर था और इनमें अपराधी व्यक्ति को पापी समझकर नरक जैसी यातनाएँ एवं दण्ड दिये जाते थे। कारागारों की इस व्यवस्था में निहित कटुता का वृत्तान्त बन्दियों द्वारा ही लिखित पुस्तकों से उपलब्ध हुआ। जान हावर्ड ने कारागार-व्यवस्था की जो कटु आलोचना की उससे कारागार-सुधार की आवश्यकता पर विश्व के अनेक देशों की सरकारों का ध्यान कारागारों की प्रशासन-पद्धति में आमूल परिवर्तन लाने की ओर आकर्षित हुआ।

दंड के सुधारवादी दर्शन की मान्यता को स्वीकार करने वाले अपराध-शास्त्रियों ने कारागारों की उस प्रशासनिक व्यवस्था का अनुमोदन किया जिसका आधार था कारावास के माध्यम से अपराधियों का सुधार करना। स्टैग ने कहा कि किसी ऐसे व्यक्ति को गिरा कर मारना जो पहले से ही गिरा हुआ है, अपराधी-सुधार के सभी दरवाजे बन्द कर देता है। अपराधी के सुधार के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उसको एक मानव समझ कर उसके चरित्र एवं व्यवहार में उपचार के माध्यम से परिवर्तन करने के प्रयत्न किये जायें।[1]

जेसिका मिटफोर्ड ने कहा कि कारावास के दण्ड का उद्देश्य कारागार-प्रशासन की प्राचीन व्यवस्था से नहीं पूरा हो सकता है क्योंकि इसमें अपराधी की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में न रख कर उसे अमानवीय प्रकारों से ऐसे नियमों के अन्तर्गत रखा जाता है जिनमें बन्दी केवल निराशा तथा कुण्ठा ही महसूस करता है।[2] आस्टिन मैककार्मिक ने आदर्श कारागारों की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायीं[3] :—

---

1. डेविग पी० स्टैग, "इनएबिलिटी आफ करेक्शन्स टु करेक्ट करेक्टर्स", इन प्रिजन्स, प्रोटेस्ट ऐण्ड पालिटिक्स (न्यूजर्सी : 1972), पृ० 30।
2. जेसिका मिटफोर्ड, "काइन्ड ऐन्ड अनयूजुअल पनिशमेन्ट, दि ऐटलांटिक, मार्च, 1971, पृ० 48।
3. आस्टिन मैककार्मिक, "दि प्रिजन्स रोल इन क्राइम प्रिवेन्शन," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐण्ड क्रिमिनालोजी, जनवरी, 1951, पृ० 43-44।

(1) बंदियों की व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा उनके सुधार के कार्यक्रम का निर्धारण।
(2) पर्याप्त चिकित्सकीय सेवाएँ जिनका उद्देश्य बन्दियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना हो।
(3) बन्दियों की कारागार में उत्पन्न असमायोजन की समस्याओं के निदान एवं निराकरण हेतु मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सकीय सेवाओं का आयोजन।
(4) बन्दियों के लिए ऐसे श्रम-कार्यक्रमों का आयोजन जिन्हें सीखकर वे अपनी मुक्ति के उपरान्त कोई व्यवसाय या नौकरी प्राप्त कर सकें।
(5) बन्दियों के लिए उचित शिक्षा तथा प्रशिक्षण-कार्यक्रमों का आयोजन।
(6) बन्दियों के लिए ऐसे मनोरंजन के कार्यक्रमों का आयोजन जिनसे उनका चारित्रिक सुधार हो सके।
(7) कारागारों में बन्दियों के धार्मिक तथा नैतिक उत्थान के लिए विशेष व्याख्यानों का आयोजन।
(8) कारागारों में ऐसी अनुशासन-व्यवस्था का होना जिनसे उनके मन में कानून पालन करने का विचार उत्पन्न हो सके।
(9) कारागारों की भवन-व्यवस्था, खान-पान तथा रहन-सहन की सुविधाओं को और सन्तोषपूर्ण बनाना।
(10) कारागारों में ऐसे प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति जो अपराधी-सुधार के दर्शन में विश्वास रखते हों।

लेफर ने कारागार-व्यवस्था के उस उद्देश्य को स्वीकार करने में कठिनाई व्यक्त की जिसका कार्य केवल बन्दियों को यह आभास कराना था कि अपराध का दण्डात्मक परिणाम कितना कठोर एवं असहनीय होता है। उन्होंने कहा कि कारागार के कर्मचारियों का प्रमुख कार्य बन्दी को यह सिखाना है कि मानव होने का अर्थ क्या है। उन्होंने आगे कहा कि कारावास की विधि की सार्थकता इस बात पर आधारित है कि बन्दी अपने कारावास की अवधि को एक शिक्षात्मक अनुभव के रूप में देख सकें।[1] माण्टेगू का मत था कि वह दण्ड व्यर्थ है जिसको पाकर व्यक्ति सीखने के स्थान पर और बिगड़ जाता है। उनका

---

1. विलियम जे० लेफर, "आन बीइंग ह्यूमन इस दि प्रिजन कम्युनिटी," फेडरल प्रोबेशन, जून, 1968, पृ० 30–33।

कहना था कि वह व्यक्ति दूसरों को प्यार तथा आदरपूर्वक देखने में सदैव असमर्थ रहेगा जिसे स्वयं कभी प्यार या आदर न मिला हो।[1]

बर्नार्ड शा ने कारावास-विधि की अमानवीय व्यवस्था की भर्त्सना निम्नलिखित आधारों पर की[2] :—

(1) कारावास की वह वर्तमान विधि जिसे दण्ड तथा बन्दीकरण का एक प्रमुख साधन माना जाता है अत्यन्त ही क्रूर, शैतानी भरी तथा दुष्कृति के प्रकार की है।

(2) कारागार की वर्तमान व्यवस्था दण्ड के उस दर्शन का अनुमोदन करती है जिसमें जेलों को यातना-केन्द्र समझा जाता है और कारागार के कर्मचारियों से यह आशा की जाती है कि वे प्रतिशोध, प्रतिकार तथा सुधार की मिली-जुली विधियों से अपराधी को प्रायश्चित्त करायेंगे।

(3) आदर्श कारावास-व्यवस्था वह है जिसमें अपराधी को एक ऐसा मानव न समझा जाये जिसके समस्त अधिकार इसलिए छिन गए हैं कि उसने किसी कानून को तोड़ा है। अपराधी व्यक्ति को उसके कारावास की अवधि में एक ऐसा मानव समझा जाये जो अपनी किसी व्यक्तिगत कमी या दोष के कारण स्वतन्त्रता का ठीक से उपयोग नहीं कर सका है।

आसबार्न ने कारागार को एक ऐसा संस्थान माना जिसमें पत्थर की दीवारें, लोहे के सीकचे तथा ताला-कुंजी एक ऐसी व्यवस्था को धारण किये होती हैं जिसमें अपराधी व्यक्ति बनने के स्थान पर बिगड़ता है। उनमें जो भी अच्छाइयाँ होती हैं वे बुराइयों में बदल जाती हैं और अन्त में इस व्यवस्था से छुटकारा पाया हुआ व्यक्ति पहले से कहीं अधिक अपराधी हो जाता है।[3] अलेक्जेन्डर पैटरसन[4] ने कहा कि व्यक्ति कारागार दण्ड के कारण आते हैं न कि दण्ड पाने के हेतु, अतः कारागार का प्रमुख उद्देश्य अपराधी का सुधार करना

---

1. ऐश्ले माण्टेगु, आन बीइंग ह्यूमन (न्यूयार्क : 1966), पृ० 113।
2. जार्ज बर्नार्ड शा, दि क्राइम आफ इमप्रिजनमेन्ट (न्यूयार्क : 1946), पृ० 117–124।
3. टामस एम० आसबार्न, विदिन प्रिजन वाल्स (न्यूयार्क : 1928), पृ० 413-414।
4. अलेक्जेन्डर पैटरसन, पैटरसन आन प्रिजन्स (न्यूयार्क : 1951), पृ० 24।

है। उन्होंने कहा कि कारागारों का जो कृत्रिम वातावरण है उसमें अपराधी की मनोदशा इतनी बिगड़ जाती है कि वह अपनी मुक्ति के बाद साधारण नागरिक की भाँति जीवन बिता ही नहीं सकता। रेमन्ड हाज ने कहा कि कारागार अपराधी-सुधार एवं व्यवस्थापन के अपने मूल उद्देश्य की प्राप्ति तभी कर पाएँगे जब बन्दी यह महसूस कर सकें कि उन्हें कारागार सुधरने के लिए भेजा गया है, उनके सुधार के लिए कारागार में वास्तविक कार्यक्रम उपलब्ध हो, उनके सुधार के लिए कारागार-अधिकारी प्रयत्नशील हैं तथा कारागार में अनुशासन के नियम दण्ड के आधार पर न निर्मित किये गये हों।[1] थार्सटन सेलिन ने कहा कि कारागार अपने निम्नलिखित तीन प्रमुख उद्देश्यों को तभी सफलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है जब इन तीनों उद्देश्यों को बराबर महत्व प्रदान किया जाएँ[2] :—

(1) न्यायालय द्वारा दी गई सजा को पूरा करने के लिए कारावास के दण्ड को चलाना।

(2) दूसरे अपराधियों को प्रतिरोधित करना, तथा

(3) बन्दियों का सुधार एवं व्यवस्थापन उनकी व्यक्तित्व की विशेषताओं को ध्यान में रख कर करना।

किर्क पैट्रिक ने परम्परागत कारागारों के बन्दियों की मनोदशा का वर्णन करते हुए लिखा कि पहरेदारी के दर्शन पर निर्मित कारागारों में अनुशासन की जो व्यवस्था पाई जाती है उसमें बन्दी केवल कठोर नियमों को चुपचाप सहन करने की क्षमता ही प्राप्त कर पाता है, उसमें नियमों के प्रति आदर की भावना नहीं विकसित होती। इन कारागारों में बन्दियों की दिनचर्या केवल थकान, उदासी तथा निष्ठुरता को बढ़ावा देती है और उन्हें यह सोचने के लिए बाध्य कर देती है कि कारागार उन्हें सुधरने के लिए नहीं वरन् दंड भोगने के लिए भेजा गया है।[3] शुलमन ने कहा कि इस प्रकार के कारागारों में केवल

1. रेमन्ड सी० हाज, "दि रिहैबिलिटेशन प्रोसेस : ए प्रिजनर्स प्वाइन्ट आफ व्यु," अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन्स, मार्च 1964, पृ० 12-26।
2. थार्सटन सेलिन, "प्रिजन्स इन ट्रान्सफारमेशन," दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकादमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, मई 1954, पृ० 1-2।
3. ए० एम० किर्क पैट्रिक, "प्रिजन्स ऐन्ड देयर प्रोडक्ट्स", कनैडियन जरनल आफ करेक्शन्स, जुलाई, 1962, पृ० 160–178।

बन्दियों को कम से कम सुविधाएँ प्रदान कर के, उनसे अधिक से अधिक काम लेकर केवल यह सिखाने का प्रयत्न किया जाता है कि वे इस बात को भली भाँति समझ सकें कि अपराध का दंडात्मक परिणाम कितना भयास्पद तथा कष्टपूर्ण हो सकता है। इस प्रकार के कारागारों से यह आशा करना व्यर्थ है कि उनमें अपराधियों का सुधार हो सकेगा।[1]

कारागारों के सुधारवादी लक्ष्य की प्राप्ति में उत्पन्न होने वाले व्यवधान

कारागार-व्यवस्था में निहित दोषों की उपर्युक्त वर्णित आलोचना को स्वीकार करते हुए कतिपय अपराध एवं दण्ड-शास्त्रियों ने उन व्यवधानों की ओर संकेत किया जिनके कारण कारावास को बन्दी-सुधार की एक सफल विधि मानने में संदेह उत्पन्न होता है। जेम्स वी० बेनेट ने कहा कि कारागारों का धर्म-संकट यह है कि उनसे हिरासत (अभिरक्षा) तथा बन्दी-सुधार जैसे दो अन्त-विरोधी लक्ष्यों के मध्य एक विचारसंगत संतुलन बनाये रखने की आशा की जाती है। एक तरफ उनसे यह कहा जाता है कि वे अपराधियों को दण्ड देंगे और दूसरी तरफ उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपराधियों का सुधार भी करेंगे। एक तरफ उनसे यह आशा की जाती है कि वे कठोरतापूर्वक बन्दियों को अनुशासित करेंगे और दूसरी तरफ उनसे यह कहा जाता है कि वे बन्दियों को आत्मनिर्भर बनने का प्रशिक्षण एवं अवसर प्रदान करेंगे। जो कारागार एक निश्चित दिनचर्या को कठोरता से पूरा कर रहे हैं, उनसे यह आशा करना ही व्यर्थ है कि उनमें बन्दियों के व्यक्तिगत नेतृत्व का विकास हो पायेगा। जो कारागार बन्दियों को यह अधिकार ही नहीं प्रदान करते हैं कि वे अपनी देख-रेख, सुरक्षा तथा सुधार की व्यवस्था को स्वयं तय कर सकें, उनसे यह आशा करना व्यर्थ है कि वे प्रजातन्त्रीय समाज के कर्तव्यपरायण, नागरिक बना पाएँगे। टीटर्स ने भी इसी प्रकार की बात कही—"आधुनिक कारागार-सुधार का धर्म-संकट यह है कि समाज किंकर्तव्यविमूढ़ है। बहुत से लोग दण्ड की अवधारणा से चिपके रहने के बावजूद कारागारों से यह आशा करते हैं कि वहाँ से अपराधी सुधर कर निकलेंगे।"[2]

---

1. हैरी मेनुवल शुलमन, "ह्वाट इज रांग इन अवर प्रिजन्स", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, मार्च, 1955, पृ० 662–667।
2. नेगले के० टीटर्स, "आर वी अप्रोचिंग दि करेक्शनल मिलीनियम ऐन्ड इफ नाट ह्वाई नाट ?" प्रिजन जरनल, विन्टर, 1967, पृ० 44।

कारागारों की सुधारवादी व्यवस्था को एक ऐसी खिचड़ी की संज्ञा दी जा रही है जिसमें अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी विचार सम्मिलित हैं। कारागारों के पास न तो सुधारवादी दर्शन को मूर्त रूप देने के लिए साधन ही है और न उनके पास उस प्रकार के कर्मचारी हैं जो अपराधियों का चारित्रिक निर्माण कर पाने में समर्थ हों। शाह ने लिखा[1] कि आधुनिक दंड शास्त्र में "सुधार", "व्यवस्थापन" तथा "चारित्रिक पुनर्निर्माण" ऐसे शब्द हैं जो सुनने में बड़े अच्छे लगते हैं परन्तु जब इन्हें वर्तमान कारागारों की व्यवस्था में प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया जाता तब ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविकता कितनी भिन्न है। कारागारों की जिन दशाओं को ध्यान में रखकर कारागार-कर्मचारी अपना उत्तरदायित्व निभाते हैं, उनमें यह सम्भव नहीं है कि वे बन्दियों का सुधार कर सकें।

कारागारों की अपराधी-सुधार की दिशा में असफलता के लिए कारागार-कर्मचारियों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। समाज उनसे यह अपेक्षा करता है कि वे प्रतिशोध, प्रतिरोध, प्रायश्चित्त तथा सुधार जैसे दंड के समस्त लक्ष्यों की पूर्ति एक ही साथ कर सकेंगे। फल यह होता है कि कारागार के कर्मचारी दंड के उपर्युक्त वर्णित सभी उद्देश्यों की एक ऐसी खिचड़ी बना देते हैं जिसमें स्वाद के स्थान पर कड़ुवाहट महसूस होने लगती है। बहुत से कारागार के कर्मचारी केवल इतना ही सोच पाते हैं कि उनका प्रमुख कर्तव्य बन्दियों की पहरेदारी तथा उनका नियंत्रण मात्र है। यदि बन्दी-सुधार कारागारों का प्रमुख कर्तव्य है तब कारागारों के लिए ऐसी व्यवस्था निर्धारित करनी होगी जिसमें बन्दी कारागार को एक ऐसा शिक्षण-केन्द्र मान सकें जिसमें उनके साथ मानवता-पूर्वक व्यवहार किया जाये और उनमें कानून एवं व्यवस्था के प्रति आदर उत्पन्न हो सके।[2]

बोल्ड ने कहा कि कारागारों में जोर दबाव के आधार पर चलने वाली प्रशासनिक व्यवस्था बन्दियों का सुधार कर पाने में सदैव की ही भाँति आज भी

---

1. सलीम ए० शाह, "चेन्जिंग ऐटीटयूड ऐन्ड बिहेवियर आफ दि आफेन्डर्स", फेडरल प्रोबेशन, मार्च, 1963, पृ० 20।

2. ए० जे० डब्ल्यू० टेलर, "गुडविल अट्रैक्ट्स ट्रबुल्ड इनमेट्स ऐन्ड इन्सापयर्स कानफिडेंस", फेडरल प्रोबेशन, मार्च, 1963, पृ० 11।

असमर्थ है।[1] हैन्डरसन का मत है कि कारागार अपने सुधारात्मक उद्देश्य की पूर्ति तभी कर पायेंगे जब उनमें आधुनिक दंड-शास्त्र की विधियाँ बन्दी वर्ग को सुधारने में प्रयोग की जायेंगी।[2]

कारागार-सुधार की प्रमुख आवश्यकताएँ

आधुनिक अपराधशास्त्रियों तथा दण्डशास्त्रियों का मत है कि यदि कारागारों से यह आशा की जाती है कि उनमें बन्दियों का सुधार हो सकेगा तब सबसे प्रमुख आवश्यकता दण्ड के स्थान पर सुधारवादी दर्शन को महत्व प्रदान करने की होगी। इन विद्वानों ने अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा कि सुधारवादी दर्शन की स्वीकृति का यह तात्पर्य नही है कि कारागारों की दण्ड-विधियों को पूर्णतया समाप्त कर देना चाहिए, वरन् उनको मानवीय प्रकार से प्रयोग में लाना चाहिए। बन्दी-सुधार कारागारों का एक मात्र उद्देश्य नहीं है, परन्तु फिर भी यह प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। बन्दियों को मार-पीट कर, सता कर, डरा-धमका कर ही नियमित एवं नियंत्रित नहीं किया जा सकता है। उपचार भी एक विधि हो सकती है, जो कारागार सुधारवादी दर्शन की व्यवस्था पर आधारित होंगे उनसे समाज की रक्षा का उद्देश्य भी उसी भाँति पूरा होगा जितना प्राचीन दण्डवादी कारागार-प्रशासन-व्यवस्था से होता है। आधुनिक दण्डशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि उन कारागारों से समाज की रक्षा हो ही नहीं सकती जिनसे निकले हुए अपराधी सुधरने के स्थान पर और अधिक बिगड़े हुए होते हैं। अपराधी-सुधार की दिशा में प्रगति लाने के लिए कुछ अपराधशास्त्रियों का यह मत है कि उस प्रकार के समस्त कारागारों को समाप्त कर देना चाहिए जिन्हें अपराध की पाठशाला कहा जाता है। ये ही अपराधशास्त्री यह भी कहते हैं कि जब तक कारागारों को एक नया स्वरूप नहीं प्रदान किया जायेगा, कारागार अपराधी-सुधार के लक्ष्य को प्राप्त ही नहीं कर सकते। कारागारों की प्रशासनिक व्यवस्था का मानवीयकरण इस दिशा में प्रगति लाने के लिए पहला चरण होना चाहिए। कारागारों

1. जार्ज बी० वोल्ड, "इज दि प्रिजन रिफार्म", दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकादमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्सेज, नवम्बर 1952, पृ० 42।
2. रिचर्ड ए० हैन्डरसन, "दि करेक्शनल आफिसर ऐन्ड दि एजुकेशनल प्रोग्राम्स", अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन्स, मई-जून, 1970, पृ० 18।

में उन नियमों को भी समाप्त करना होगा जिनसे बन्दियों के आत्म-सम्मान की भावना को ठेस पहुँचती है और जो उन्हें यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि वे कारागार से मुक्त होकर उस समाज से बदला लें जिसने उन्हें जेल की यातना दी है। अन्त में कारागारों में सुनियोजित कार्यक्रमों की स्थापना के लिए साधनों की व्यवस्था करने की उस आवश्यकता पर बल दिया जाता है जिसके अभाव में कारागार केवल एक बन्दीगृह-केन्द्र बनकर रह गये हैं। एक सुधारात्मक कारागार की आवश्यकता है—आर्थिक साधन, भौतिक सुविधाएँ, प्रशिक्षित, सन्तुष्ट तथा कार्यकुशल कर्मचारी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा घोषित बन्दी-उपचार के नियम

कारागार-व्यवस्था में निहित दोषों को ध्यान में रखकर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1954 में विश्व के समस्त सदस्य देशों से यह माँग की कि वे अपनी कारागार-नीति में संघ द्वारा घोषित सुधारवादी नियमों का पालन करेंगे। इन समस्त नियमों में से प्रमुख नियमों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(1) बन्दियों को उनकी धर्म, जाति, राष्ट्रीयता, प्रजाति, रंग, लिंग, भाषा, तथा राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रख कर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायेगा।

(2) बन्दियों को उनकी आयु, लिंग, अपराधिक लेखा तथा वैधानिक कारणों को देख कर उपचार तथा देख-रेख के कार्यक्रमों में विभक्त किया जायेगा। महिला बन्दी पुरुष बन्दियों के साथ नहीं रखे जायेंगे तथा उनको अलग रखने की पर्याप्त व्यवस्था की जायेगी। उन बन्दियों को अलग रखा जायेगा जिनका मुकदमा चल रहा है और जिनके दोषी या निर्दोष होने का न्यायिक निर्णय नहीं हुआ है। कम उम्र, अधेड़ उम्र तथा बड़ी उम्र के बन्दी जहाँ तक सम्भव हो सके अलग ही रखे जाने चाहिए।

(3) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के रहने की पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए तथा प्रत्येक कारागार में उतने ही बन्दी रखे जाने चाहिए जितने सरलतापूर्वक बिना भीड़ भाड़ किये वहाँ रह सकते हैं।

(4) जिन कक्षों में बन्दी रखे जायेंगे उनमें सफाई, रोशनी, हवा, पाखाने, पानी पीने, नहाने आदि की सुविधाएँ होना आवश्यक है।

(5) कारागार के वे सभी स्थान स्वच्छ तथा उचित तरीके से रखे जायेंगे जिनका प्रयोग बन्दी करते हैं।

(6) बन्दियों को स्वच्छ रहने की सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

(7) उन सभी बन्दियों को पर्याप्त मात्रा में अच्छे प्रकार के कपड़े कारागार द्वारा प्रदान किये जायेंगे जिनको निजी कपड़े पहनने का अधिकार नहीं है।

(8) बन्दियों के कपड़ों की बदली तथा सफाई की पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान करनी पड़ेंगी।

(9) समस्त बन्दियों को बिस्तर प्रदान किये जायेंगे।

(10) समस्त बन्दियों को पर्याप्त मात्रा में अच्छा एवं पौष्टिक भोजन दो समय प्रदान किया जायेगा।

(11) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के लिए पीने वाले पानी की पर्याप्त सुविधा रहेगी।

(12) प्रत्येक बन्दी को मनोरंजन तथा खेल की उचित सुविधा मिलने की व्यवस्था प्रत्येक कारागार में करनी पड़ेगी।

(13) प्रत्येक कारागार में एक अच्छा चिकित्सालय होगा जिससे बन्दियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा की जायेगी।

(14) गम्भीर रूप से शारीरिक एवं मानसिक रोगों से ग्रस्त बन्दियों के लिए विशेष चिकित्सालयों में भेजने की सुविधा होगी।

(15) महिला बन्दियों को जच्चा-बच्चा अस्पताल में भेजने की सुविधा होगी।

(16) संक्रामक रोगों से ग्रस्त बन्दियों को अन्य रोगी बन्दियों से पृथक् रखा जायेगा।

(17) कारागार का चिकित्सक रोगी बन्दियों के रोग की जाँच तथा उनका उपचार करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करेगा।

(18) कारागार के चिकित्सा का यह भी कर्तव्य होगा कि वह जेल की सफाई तथा बन्दियों के खाना बनाने की प्रणाली की देख-रेख करेगा।

(19) बन्दियों को अनुशासनपूर्वक रहने के लिए अमानवीय दण्ड नहीं दिये जायेंगे।

(20) बन्दियों को केवल वे ही दण्ड दिये जायेंगे जो कानून द्वारा अधिकृत हैं।

(21) प्रत्येक दण्डित बन्दी को यह अधिकार दिया जायेगा कि वह अपने दोष के बारे में याचिका कर सके।

(22) जहाँ तक सम्भव होगा बन्दियों को अमानवीय शारीरिक दण्ड नहीं दिये जायेंगे।

(23) दण्ड की उन विधियों का प्रयोग नहीं किया जायेगा जिनमें हथकड़ी तथा बेड़ी डाल दी जाती है।

(24) प्रत्येक बन्दी को कारागार में प्रविष्ट करने पर उसे कारागार के नियमों एवं कार्यक्रमों से अवगत कराया जायेगा।

(25) प्रत्येक बन्दी को यह अधिकार होगा कि वह कारागार के सर्वोच्च अधिकारी को अपनी कठिनाइयाँ बता सके।

(26) प्रत्येक बन्दी को अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों से कारागार के अन्दर मिलने की सुविधा होगी और उसे यह अधिकार होगा कि वह उन्हें पत्र लिख सके।

(27) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के लिए एक ऐसा पुस्तकालय होगा जिसमें वह अपनी रुचि की पुस्तकों, पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों को पढ़ तथा प्राप्त कर सके।

(28) प्रत्येक बन्दी को अपने धार्मिक पर्वों पर व्रत रखने की सुविधा होगी तथा प्रत्येक कारागार में धार्मिक व्याख्यान देने वाले व्यक्तियों की सेवाएँ उपलब्ध होंगी।

(29) बन्दी की मृत्यु की सूचना तुरन्त उसके घर वालों को दी जायेगी।

(30) प्रत्येक कारागार में कर्मचारियों की नियुक्ति उनकी योग्यता, चरित्र-निष्ठा तथा व्यावसायिक दक्षता के आधार पर की जायेगी।

(31) कारागार-कर्मचारियों को अच्छे वेतन पर नियुक्त किया जायेगा जो उनकी योग्यता तथा पद के आधार पर निर्धारित किया जायेगा।

(32) कारागार-कर्मचारियों को अपनी व्यावसायिक दक्षता को बढ़ाने की सुविधा मिलती रहेगी। इसके लिए समय समय पर विशिष्ट प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करना पड़ेगा।

(33) प्रत्येक कारागार में पर्याप्त संख्या में सुधार-कार्य वाले कर्मचारी होंगे।

(34) महिला बन्दियों की देख-रेख, सुरक्षा तथा सुधार का कार्य महिला कर्मचारियों द्वारा सम्पादित किया जायेगा।

(35) प्रत्येक कारागार का त्रैमासिक निरीक्षण कारागार विभाग के उच्च अधिकारियों द्वारा किया जायेगा और उनकी रिपोर्ट के आधार पर आवश्यक परिवर्तन किये जाएँगे।

(36) मुक्त हुए बन्दियों के लिए पर्याप्त उत्तर-रक्षा-कार्यक्रमों की व्यवस्था होगी।

(37) कारागारों को समुदाय से सम्बन्ध बनाये रखना पड़ेगा तथा समुदाय के उन नागरिकों की सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न करने पड़ेंगे जिनके योगदान से मुक्त बन्दियों का सामाजिक पुनर्वास सम्भव हो सके।

(38) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के चरित्र, स्वभाव तथा उनके अपराधी दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाने की सुविधाएँ प्रदान करनेवाले कर्मचारी की नियुक्ति की जाएगी।

(39) अच्छा व्यवहार करनेवाले बन्दियों को पुरस्कृत करने की व्यवस्था होगी।

(40) बन्दियों से लिया जानेवाला तथा श्रम उनसे कराये जानेवाले कार्य दण्ड के रूप में नहीं देखे जाएँगे। कारागार-श्रम का उद्देश्य बन्दियों में औद्योगिक क्षमताओं का विकास करना होगा।

(41) बन्दियों से ऐसा कोई कार्य नहीं लिया जायेगा जिससे उनको शारीरिक तथा मानसिक क्षति पहुँचे।

(42) बन्दियों के लिए श्रम-निर्धारण की प्रणाली उनकी व्यक्तिगत योग्यता को ध्यान में रखकर निर्मित की जायेगी।

(43) बन्दियों को उनके श्रम के लिए पैसे देने की व्यवस्था भी की जायेगी।

(44) प्रत्येक कारागार में बन्दियों की शिक्षा के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होंगी। उन्हें प्रशिक्षित शिक्षकों द्वारा लाभप्रद शिक्षा दी जायेगी।

भारतीय कारागार-व्यवस्था

भारतीय कारागारों का इतिहास मनु, कौटिल्य तथा याज्ञवल्क्य के युग से प्रारम्भ होता है। दण्ड की अनेक विधियों (मृत्यु-दण्ड, देश-निष्कासन, अंग-भंग, जुर्माना आदि) के अतिरिक्त कारावास को भी अपराधियों को प्रायश्चित्त कराने की एक प्रमुख विधि के रूप में स्वीकार किया गया था। इस युग में जेल को एक लौकिक नरकके रूप में देखा गया और कारागार को उस प्रशासन-व्यवस्था का अनुमोदन किया गया जिसमें अपराधी बन्दी को अनेक प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक यातनाएँ दी जाती थीं। मुस्लिम शासन काल के कारागारों की व्यवस्था हिन्दू युग के कारागारों की व्यवस्था की ही भाँति कठोर, अमानवीय तथा बर्बर थी। ब्रिटिश शासन काल में स्थापित किये गये कारागार आधुनिक कारागार-व्यवस्था के जनक रूप में स्वीकार किये जाते हैं। ब्रिटिश शासन काल से ही कारागार-सुधार का अभियान प्रारम्भ होता है।

स्वतन्त्रता के पूर्व भारतीय कारागारों में जो भी सुधार किये गए उनका आधार इंगलैण्ड के कारागारों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तन थे। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैण्ड में कारागार-सुधार के जिस आन्दोलन का अभ्युदय हुआ उसका प्रभाव भारत के कारागारों में पाई जाने वाली प्रशासन-व्यवस्था पर भी पड़ा। जान हावर्ड की प्रसिद्ध पुस्तक दि स्टेट आफ प्रिजन्स (1776)

सम्भवतः यह पहली पुस्तक है जिसमें कारागारों के समस्त दोषों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है और कुछ ऐसे सुझाव प्राप्त होते हैं जिन्हें आज के अपराध एवं दण्ड के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् भी मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। हावर्ड ने कारागारों के प्राचीन भवनों को तोड़ने तथा उनके स्थान पर नये कारागारों को बनाने के साथ ही यह भी कहा कि कारागारों में बन्दियों का वर्गीकरण उनकी अपराधिक मनोवृत्ति, आयु तथा लिंग के आधार पर की जानी चाहिए। 1791 में बेन्थम ने कारागारों की जिस भवन-व्यवस्था का चित्र अपनी पुस्तक पेनोप्टिकन में खींचा था, उसे स्वीकार किया गया और उसी के अनुरूप वृत्ताकार कारागारों की स्थापना की गई। 1813 में कारागार-सुधार का कार्य सोसायटी आफ फ्रेन्ड्स के सदस्यों को सौंपा गया। 1817 में सोसायटी फार दि इम्प्रूवमेन्ट इन प्रिजन डिसिप्लिन की स्थापना की गई। 1821 में मिल बैंक नगर में एक राष्ट्रीय कारागार का निर्माण किया गया जिसमें उन बन्दियों को रखे जाने की व्यवस्था थी जिन्हें देश-निष्कासन का दण्ड मिलता था। 1824 में लार्ड के प्रयत्नों के फलस्वरूप कारागार के समस्त नियमों को ब्रिटेन की संसद द्वारा स्वीकार किया गया और यह प्राविधान किया गया कि नवीन कारागारों की स्थापना तभी हो सकेगी जब उनमें संसद द्वारा पारित व्यवस्था तथा सुविधाएँ प्राप्त हों और गृह-सचिव उन सुविधाओं को देख कर अपनी अनुमति प्रदान कर चुके हों। 1835 में ब्रिटेन के समस्त कारागारों की देख-रेख का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय सरकार को सौंपा गया और विशेष प्रकार के कारागार-निरीक्षकों की नियुक्ति की गई। 1839 में कारागार-अधिनियम पारित हुआ जिसका प्रमुख प्राविधान अलग-अलग प्रकार के बन्दियों को पृथक्-पृथक् रूप से रखना था। 1842 में पेन्टोनवाइल कारागार की स्थापना एक आदर्श कारागार के रूप में की गई। 1850 में ब्रिटिश संसद द्वारा एक कारागार-जाँच-समिति नियुक्त हुई जिसने कारागार-व्यवस्था के प्रमुख दोषों को ध्यान में रख कर सुधार के लिए अनेक सुझाव दिए। 1863 में हाउस आफ लार्ड्स द्वारा गठित समिति ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि अलग-अलग प्रकार के बन्दियों को एक ही साथ रखना न केवल अनावश्यक भी है वरन् हानिकारक भी है। इस समिति के सुझावों को 1865 के कारागार-अधिनियम में सम्मिलित किया गया। इस अधिनियम के पारित होने के बाद समस्त स्थानीय कारागारों को भंग कर दिया गया और 1877 के कारागार-अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटेन के समस्त कारागारों की देख-रेख का उत्तरदायित्व एक केन्द्रीय अधिकारी को सौंपा गया। इस स्थिति में देश भर के कारागारों के लिए एक ही प्रकार की प्रशासन-व्यवस्था

निर्धारित की गयी। करीब 20 वर्षों के बाद पुनः एक बार फिर से कारागारों की प्रशासन-व्यवस्था में दण्ड के सुधारवादी दर्शन को साकार करने की बात पर बल दिया गया। ग्लेडस्टन-समिति ने कारागारों के लिए ऐसी प्रशासन-व्यवस्था स्थापित करने का सुझाव दिया जिससे कारागारों में बन्दियों का सुधार हो सके। 1898 में एक आदर्श कारागार-अधिनियम पारित किया गया जिसके आधार पर उस समय के समस्त कारागारों की प्रशासन व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया गया। जिन अन्य अधिनियमों से कारागार-सुधार की दिशा को एक नया आयाम प्राप्त हुआ वे निम्नलिखित हैं—प्रोबेशन ऐक्ट आफ 1907, दि प्रिवेन्शन आफ क्राइम ऐक्ट आफ 1908, चिल्ड्रेन ऐक्ट आफ 1908, क्रिमिनल जस्टिस ऐक्ट आफ 1948।

कारागार-सुधार का जो नवीन दर्शन ब्रिटेन में विकसित होकर भारत के कारागरों तक आया उसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(1) समस्त बन्दियों के लिए ऐसी सजा का निर्धारण जिसके आधार पर उन्हें अपने कारावास की अवधि में शैक्षिक, नैतिक, मानसिक तथा व्यावसायिक रचनात्मक प्रशिक्षण की उपयुक्त एवं पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त हो सकें।

(2) इस प्रकार के रचनात्मक प्रशिक्षण के लिए विशेष प्रकार के कार्यक्रमों का आयोजन तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति।

(3) इस प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों का पालन करनेवाले कारागारों में बन्दियों की पहरेदारी के नियमों का सरलीकरण।

(4) मुक्त बन्दियों के लिए उत्तर-रक्षा-कार्यक्रमों तथा सेवाओं का आयोजन।

(5) मुक्त बन्दियों की सहायता के लिए समुदाय की सेवाओं की उपलब्धि।

भारतीय कारागारों में होने वाले सुधारों का इतिहास 1835 से प्रारम्भ होता है। उस समय देश भर में 43 सिविल, 75 क्रिमिनल तथा 68 मिले-जुले कारागार थे। इन कारागारों का प्रशासन जिला मजिस्ट्रेटों के हाथ में था। कारागारों में बन्दियों के रहने, खाने-पीने तथा काम करने की दशाएँ बहुत ही खराब थीं। उस समय की सरकार कारागारों के ऊपर पैसा नहीं खर्च करना चाहती थी। लार्ड मैकाले ने इन कारागारों की दुर्व्यवस्था तथा असन्तोषजनक दशाओं की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया और उन्हीं के सुझाव के आधार पर जनवरी 1836 में एक निरीक्षण समिति का गठन किया गया।

यह पहली समिति थी जिसकी रिपोर्ट में भारतीय कारागारों में फैले भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता तथा उनमें पाई जाने वाली प्रशासनिक दुर्व्यवस्था की ओर संकेत किया गया था। समिति ने यह सुझाव दिया कि ऐसे केन्द्रीय कारागारों का निर्माण होना आवश्यक है जिनमें दीर्घ काल की सजा पाये हुए अपराधियों को ऐसे कार्यों में लगाया जा सके जिससे उनमें औद्योगिक कुशलता का विकास हो सके। इस कमेटी के सुझाव को मानकर ही 1846 में पहली बार आगरा में एक केन्द्रीय कारागार की स्थापना की गई। इसके उपरान्त बरेली तथा इलाहाबाद में 1948 में, लाहौर में 1852 में, मद्रास में 1857 में, बम्बई में 1864 में, अलीपुर में 1864 में, बनारस तथा फतेहगढ़ में 1864 में तथा लखनऊ में 1867 में केन्द्रीय कारागारों की स्थापना हुई। 1844 में पहली बार उत्तर प्रदेश में इन्स्पेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स (कारागार महानिरीक्षक) की नियुक्ति की गई। 1850 में भारत सरकार ने देश भर की प्रान्तीय सरकारों से यह अनुरोध किया कि वे कारागार महानिरीक्षकों की नियुक्ति करें। 1862 में उत्तर प्रदेश के समस्त कारागारों में सिविल सर्जनों तथा अधीक्षकों (सुपरिन्टेन्डेन्ट) की नियुक्ति के बाद, केन्द्रीय सरकार ने 1864 में प्रान्तीय सरकारों से एक अन्य अनुरोध करते हुए उन्हें लिखा कि प्रत्येक जेल में सिविल सर्जनों तथा अधीक्षकों की नियुक्ति की जानी चाहिए। 1864 में ही केन्द्रीय सरकार द्वारा एक अन्य समिति नियुक्ति की गई जिसने यह सुझाव दिया कि बन्दियों के रहने, खाने-पीने तथा कपड़ों की सुविधाओं में सुधार की आवश्यकता है। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि प्रत्येक जेल में 15 प्रतिशत बन्दियों के लिए कोठरियाँ होनी चाहिए तथा बाल अपराधियों को वयस्क अपराधियों से पृथक् कक्षों में रखना चाहिए।

1870 में भारतीय सरकार द्वारा कारागार-अधिनियम (प्रिजन्स ऐक्ट) पारित किया गया जिसका उद्देश्य कारागार के पुराने नियमों में परिवर्तन करना था। इस अधिनियम के आधार पर कारागारों में अधीक्षक, चिकित्सा-अधिकारी, जेलर तथा अन्य निम्नस्तरीय कर्मचारियों की नियुक्ति का प्राविधान किया गया। इस अधिनियम ने स्त्री तथा पुरुष बन्दियों के पृथक् निवास की व्यवस्था स्वीकार करने भी माँग की। बन्दियों के लिए उपयोगी कार्य तथा उनको दिये जानेवाले अमानवीय शारीरिक दण्डों की व्यवस्था में सुधार के प्रश्न को इसी अधिनियम के माध्यम से मूर्त स्वरूप प्रदान किया गया।

तृतीय अखिल भारतीय कारागार-समिति का गठन 1877 में किया गया। इस समिति के सदस्य कारागार विभाग के वरिष्ठ अधिकारी थे। इस

समिति ने कारागार-प्रशासन के प्रमुख क्षेत्रों में सुधार करने की माँग की। राष्ट्रीय स्तर पर चौथी कारागार-समिति की स्थापना 188७ में की गई जिसमें कारागार-प्रशासन के अनेक नियम निर्मित किये गये। इस समिति ने बन्दियों के वैज्ञानिक वर्गीकरण के लिए कुछ विशिष्ट एवं उपयोगी नियम बनाये। 1892 में पाँचवीं बार एक ऐसी राष्ट्रीय-स्तरीय कारागार सुधार-समिति का गठन किया गया जिसने सम्पूर्ण कारागार-व्यवस्था का निष्पक्ष मूल्यांकन किया और कारागार में बन्दियों को दिये जानेवाले दण्ड के उद्देश्य एवं स्वरूप में परिवर्तन लाने के लिए एक योजना निर्मित की। इस समिति की रिपोर्ट को स्वीकार करने के बाद सरकार ने 1894 में कारागार-अधिनियम (प्रिजन्स ऐक्ट आफ 1894) पारित किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत सम्मिलित किये गये प्राविधानों का उद्देश्य ऐसी कारागार-व्यवस्था का अनुमोदन करना था जिसमें बन्दियों का उपचार एवं व्यवस्थापन सम्भव हो सके। 1897 में रिफारमेटरी स्कूल ऐक्ट पारित किया गया जिसे कारागार-सुधार के आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण प्रगतिवादी चरण माना गया। इस अधिनियम का उद्देश्य बाल तथा तरुण अपराधियों को वयस्क अपराधियों से अलग रख कर उनका उपचार तथा चारित्रिक सुधार करना था। इस अधिनियम के प्राविधान के आधार पर बाल-कारागारों (जुवेनाइल जेल्स) तथा रिफारमेटरी स्कूल्स (सुधार-विद्यालयों) की स्थापना की गई।

1919 की भारतीय कारागार-समिति (इंडियन जेल कमेटी, 1919) को कारागार-सुधार की दिशा का वह मोड़ माना जाता है जहाँ से सुधार के मार्ग की दिशा का बोध होता है। समिति ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट में अन्य देशों के कारागारों के सुधारवादी कार्यक्रमों का वर्णन करते हुए यह सिफारिश की कि भारतीय कारागार-व्यवस्था को मानवीय रूप प्रदान करना अति आवश्यक है। इस समिति ने कारागार के मुख्य उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कारागार-व्यवस्था अपने अपराध निरोध के उद्देश्य को तभी पूरा कर सकती है जब इस व्यवस्था के द्वारा बन्दियों का चारित्रिक सुधार हो सके। समिति की रिपोर्ट में कारागार कर्मचारियों, बन्दियों के पृथक्करण एवं वर्गीकरण, बन्दी-श्रम, कारागार-अनुशासन, कारागार-सुरक्षा, बन्दियों के स्वास्थ्य, उनके रहने, खाने-पीने, पहनने तथा उनकी मुक्ति जैसे प्रमुख विषयों पर अनेक सराहनीय सुझाव दिये गये।

भारतीय कारागार-समिति, 1919 के उपरान्त निम्नांकित समितियाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तथा उसके बाद गठित की गई :—

(अ) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व

(1) दि यूनाइटेड प्राविन्सेज जेल इंक्वायरी कमेटी, 1928–29।
(2) दि कमेटी आफ प्रिजन रिफार्म्स इन मैसूर, 1940–41।
(3) दि यू० पी० जेल रिफार्म्स कमेटी, 1946।
(4) दि बाम्बे जेल रिफार्म्स कमेटी, 1946–48।

(ब) स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त

(1) दि ईस्ट पंजाब जेल रिफार्म्स कमेटी, 1950–51।
(2) दि जेल रिफार्म्स कमेटी, उड़ीसा, 1952–55।
(3) दि जेल 'रफार्म्स कमेटी, ट्रावनकोर कोचीन स्टेट, 1953–55।
(4) दि यू० पी० जेल इंडस्ट्रीज इंक्वायरी कमेटी, 1955–56।
(5) दि राजस्थान जेल रिफार्म्स कमेटी, 1964।
(6) दि बिहार जेल रिफार्म्स कमेटी, 1972।
(7) दि जेल कोड रिविजन कमेटी, वेस्ट बंगाल, 1972।

केन्द्रीय सरकार का योगदान

सन् 1951 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के टेक्निकल असिस्टेंन्स प्रोग्राम (तकनीकी सहायता कार्यक्रम) के अन्तर्गत भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ से यह अनुरोध किया कि वह एक ऐसे कारागार-विशेषज्ञ अपराधशास्त्री की सेवाओं को उपलब्ध कराए जिससे भारतीय सरकार कारागार-कर्मचारियों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित करने तथा कारागारों में बन्दी-सुधार की व्यवस्था में परिवर्तन किये जानेवाले सुझावों को सावधानी तथा सफलतापूर्वक मूर्त रूप प्रदान कर सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने विश्वविख्यात अपराधशास्त्री डा० वाल्टर सी० रेकलेस को भारत भेजा। डा० रेकलेस ने देश भर के कारागारों का निरीक्षण करने के उपरान्त भारत सरकार को अपनी रिपोर्ट दी और वरिष्ठ कारगार-कर्मचारियों के लिए छह मास का एक प्रशिक्षण-कार्यक्रम बम्बई में आयोजित किया। डा० रेकलेस की रिपोर्ट में अनेक प्रशंसनीय सुझाव दिये गए जिनमें से प्रमुख दो ऐसे सुझाव थे जिन पर सरकार का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया गया। ये सुझाव सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज की दिल्ली में स्थापना तथा जेल मैनुअल में सुधार करने से सम्बन्धित थे। 1957 में डा० रेकलेस के सुझाव तथा कारागार महानिरीक्षकों के 1922 में हुए एक सम्मेलन के सुझाव को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने आल-इंडिया जेल मैनुअल कमेटी का गठन किया। इस समिति का उद्देश्य कारागार-प्रशासन की समस्याओं का मूल्यांकन करना तथा

एक माडल जेल मैनुअल (आदर्श कारागार नियमावली) की रचना करना था। इस समिति ने 1959 में अपनी रिपोर्ट दी। इस समिति द्वारा रचित आदर्श कारागार नियमावली के प्रमुख प्रस्ताव निम्नलिखित हैं :—

(1) कारागार एवं सुधार-सेवाओं को राज्य के गृहमन्त्रालय के नियन्त्रण में रखा जाए।

(2) कारागार विभाग की संगठनात्मक संरचना में राजकीय स्तर पर कारागार महानिरीक्षक, उप-कारागार महानिरीक्षक, निदेशक परिवीक्षा, बाल अपराध एवं उत्तर-रक्षा सेवा, अधीक्षक इंडस्ट्रीज, मुख्य शिक्षा-अधिकारी, मुख्य कृषि-अधिकारी आदि प्रकार के उच्चस्तरीय कर्मचारियों की नियुक्ति की जाए और उनके कर्तव्यों और अधिकारों का स्पष्ट वर्णन प्रत्येक राज्य के कारागारों की नियमावली में किया जाए।

(3) प्रत्येक राज्य में बन्दियों को रखने के लिए निम्नलिखित प्रकार की बंदी संस्थाओं की स्थापना की जाए—(1) बाल अपराधियों के लिए; (2) किशोर अपराधियों के लिए संस्थाएँ; (3) गैर-आदतन अपराध करने वाले वयस्क अपराधियों के लिए संस्थाएँ; (4) आदती, व्यावसायिक तथा संगठित अपराध करने वालों के हेतु संस्थाएँ; (5) उन अपराधियों के लिए विशेष संस्थाएँ जिनका नियंत्रण करना कठिन है; (6) महिला अपराधियों के लिए संस्थाएँ; (7) रुग्ण तथा मानसिक विकारग्रस्त अपराधियों के लिए संस्थाएँ; (8) वृद्ध तथा दुर्बल बन्दियों के लिए संस्थाएँ; (9) प्रत्येक कारागार में तपेदिक तथा क्षय रोगों से पीड़ित बन्दियों के लिए विशेष व्यवस्था; (10) उन बन्दियों के लिए विशिष्ट व्यवस्था या विशिष्ट कारागार जिनका मुकदमा अभी चल रहा है; (11) सब-जेल तथा (12) मुक्त बन्दी-गृहों की स्थापना।

(4) प्रत्येक केन्द्रीय कारागार में स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक अपराधियों को रखने की विशिष्ट व्यवस्था। इन कारागारों में केवल लम्बी सजा पाये हुए वयस्क अपराधी ही रखे जाने चाहिए और बंदियों की संख्या 750 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(5) प्रत्येक जिला स्तरीय कारागार में कम सजा पाये हुए बंदियों को उनकी अपराधिक प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर पृथक् रूप से रखा जाना चाहिए तथा बंदियों की संख्या 400 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(6) प्रत्येक कारागार की भवन-व्यवस्था में मुख्य द्वार, अगवानी भवन, चिकित्सालयों, रसोइयों, दंड कोठरियों, रहने के कक्षों, शौचालयों, स्नान

के स्थानों, खाना खाने के बड़े कक्षों, मिलन कक्षों, विद्यालय-भवनों तथा औद्योगिक केन्द्रों के भवनों की पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए। प्रत्येक कारागार के समीप ही कारागार के समस्त कर्मचारियों के लिए निवास-गृहों, मनोरंजन तथा चिकित्सा-केन्द्रों एवं पार्कों तथा स्कूलों की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(7) प्रत्येक कारागार में निम्नलिखित प्रकार के कर्मचारी नियुक्त होने चाहिए : अधीक्षक (ग्रेड I एवं ग्रेड II), उप अधीक्षक (ग्रेड I एवं ग्रेड II), सहायक अधीक्षक, महिला सहायक अधीक्षक, महिला प्रहरी, चिकित्सा अधिकारी, कम्पाउण्डर, नर्सें, मनश्चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता, शिक्षा-अधिकारी, शारीरिक शिक्षा-अधिकारी, औद्योगिक प्रशिक्षक, इन्स्ट्रक्टर, कृषि-अधिकारी, डेरी निरीक्षक तथा कारागार के कार्यालय में कार्य करने वाले लिपिक तथा अन्य कर्मचारी।

(8) कारागार-कर्मचारियों की नियुक्ति एवं चयन उनकी शारीरिक पुष्टता, कठोर कार्य करने की क्षमता, साहस, नेतृत्व, विश्वसनीयता, संतुलित व्यक्तित्व, प्रशासनिक निपुणता, चारित्रिक निष्ठा, मानववादी दृष्टिकोण तथा अपराधियों के सुधार में विश्वास रखने की मात्रा को ध्यान में रख-कर किया जाना चाहिए।

(9) कारागार के समस्त कर्मचारियों को उनकी नियुक्ति के तुरन्त बाद विशिष्ट प्रशिक्षण-केन्द्रों में रखकर उन्हें कारागार-व्यवस्था की वस्तु-स्थितियों से अवगत कराना आवश्यक है। इसके साथ ही साथ उनकी नियुक्ति के कुछ वर्ष उपरान्त उन्हें समय समय पर विशिष्ट कारागार प्रशिक्षण-केन्द्रों में भेजने की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(10) कारागार-कर्मचारियों की सेवा-दशाएँ ऐसी होनी चाहिए जिससे कुशल एवं कर्तव्यपरायण व्यक्ति इस सेवा में भर्ती होने का इरादा बना सकें। कारागार-कर्मचारियों का वेतन उनकी योग्यता तथा कार्य की प्रकृति को देखते हुए निर्धारित किया जाना चाहिए। समस्त कर्मचारियों को पदोन्नति की पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए। उनकी प्रवरता, स्थायीकरण तथा पदोन्नति के सभी विषयों पर स्पष्ट नियम बने होने चाहिए और उन नियमों का पालन बिना किसी पक्षपात तथा भेदभाव के निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए।

(11) प्रत्येक कारागार में कार्य करनेवाले कर्मचारियों के लिए एक ऐसी कल्याण-समिति का गठन किया जाना चाहिए जिसका कार्य कर्मचारियों के लिए कल्याण-कार्यक्रमों तथा सेवाओं का आयोजन करना हो। प्रत्येक कारागार में कर्मचारियों के लिए एक केन्द्रीय तथा सहयोगी उपभोक्ता-भंडार का होना आवश्यक है जिनमें वे उधार पर वस्तुएँ खरीद सकें।

(12) प्रत्येक कारागार में बन्दियों का वर्गीकरण उनकी आयु, लिंग, शिक्षा तथा अपराधी प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए तथा उनको एक दूसरे से पृथक् रखने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(13) प्रत्येक कारागार में बन्दियों की दिनचर्या सावधानी से निर्धारित होनी चाहिए जिससे उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को क्षति न पहुँचे।

(14) प्रत्येक कारागार में बन्दियों के रहने, पानी पीने, खाने, नहाने, शौचालय, वस्त्रों आदि की व्यवस्था उनकी आवश्यकता को देखकर की जानी चाहिए।

(15) प्रत्येक कारागार में बन्दियों की शिक्षा, मनोरञ्जन, स्वास्थ्य तथा उनको औद्योगिक प्रशिक्षण देने की सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए।

(16) बन्दियों को उनकी अनुशासनहीनता के लिए अमानवीय प्रकार के दण्ड नहीं दिये जाने चाहिए।

(17) बन्दियों को उनके द्वारा सम्पादित औद्योगिक श्रम के लिए प्रोत्साहन स्वरूप मजदूरी या वेतन मिलना चाहिए।

(18) मुक्त बन्दियों के लिए उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए।

डॉ० रेकलेस के सुझाव स्वीकार करने के बाद 1961 में गृह-मन्त्रालय द्वारा सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज की स्थापना दिल्ली में की गई। 1964-65 में ब्यूरो को केन्द्रीय शिक्षा तथा समाज-कल्याण विभाग के तत्वाधान में रखा गया। 1973-74 में सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज का नाम बदलकर नैशनल इन्स्टिटयूट आफ सोशल डिफेन्स कर दिया गया।

सन् 1969 में आयोजित एक अखिल भारतीय विचारगोष्ठी के सुझावों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने सेंट्रल ऐडवाइजरी बोर्ड की स्थापना की जिसमें विधि-शास्त्री, अपराधशास्त्री, पुलिस के वरिष्ठ अधिकारी तथा सुधार कार्य करनेवाले विद्वानों को सम्मिलित किया गया। अक्टूबर 1971 में आयोजित एक राष्ट्रीय विचारगोष्ठी में विभिन्न राज्यों के मुख्य कारागार-निरीक्षकों ने एक बार

फिर से कारागार-नियमावलियों में संशोधन करने की बात पर बल दिया और कहा कि कारागार-व्यवस्था में सुधार धनाभाव के कारण नहीं हो पा रहा है। 18 अक्टूबर 1972 को भारत सरकार ने एक वर्किंग ग्रुप आन प्रिजन्स इन दि कन्ट्री का गठन उन विधियों पर विचार करने के लिए किया जिन्हें कारागार-सुधार का प्रमुख आधार माना जा रहा है। कार्यशील समूह का उद्देश्य यह देखना था कि देश के कारागारों में उपलब्ध सुविधाएँ किस सीमा तक अपर्याप्त हैं और उनको किस प्रकार से बढ़ाया जा सकता है। इस वर्किंग ग्रुप की रिपोर्ट 1973 में केन्द्रीय सरकार को दे दी गई। इस रिपोर्ट में वर्णित प्रमुख निष्कर्ष निम्नलिखित थे :—

(1) पूरे देश में कारागार-प्रशासन की व्यवस्था सामान्य रूप से असंतोषजनक है।

(2) कारागारों की इमारतें बहुत पुरानी हो गई हैं और उनमें आवश्यक भौतिक सुविधाओं का अभाव है।

(3) कारागारों का वातावरण भीड़ भरा है।

(4) विभिन्न प्रकार के बंदियों को एक ही साथ रखा जा रहा है और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया जा रहा है।

(5) कारागारों में सुधार-कर्मचारियों की नियुक्ति नहीं संभव हो पाई है।

(6) कारागारों में की जाने वाली कृषि तथा उनमें चलाये जाने वाले कल-कारखाने उतने ही प्राचीन हैं जितने वे 50 वर्ष से भी अधिक पहले थे।

(7) कारागार-कर्मचारियों के व्यावसायिक प्रशिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

(8) कारागारों तथा अन्य सुधार-सेवा संस्थानों में कोई आपसी संबंध नहीं है।

(9) कारागार-प्रशासन के पास न तो पर्याप्त साधन हैं, न कुशल कर्मचारी और न आवश्यकतानुकूल धन। फलतः सुधार का उद्देश्य एक दिखावटी प्रपंच बन कर रह गया है :

(10) उपर्युक्त वर्णित कठिनाइयों के कारण अपराधी-सुधार एवं व्यवस्थापन को केवल सैद्धांतिक रूप से स्वीकार हो पा रहा है और कारागारों का प्रमुख उद्देश्य पहले की ही भाँति आज भी बंदियों की देखरेख करना मात्र है।

वर्किंग ग्रुप ने कारागार-प्रशासन में सुधार करने के लिए निम्नलिखित प्रकार की योजना प्रस्तुत की :—

(1) बन्दियों की अभिरक्षा के दर्शन पर आधारित कारागार की व्यवस्था को सुधारात्मक दर्शन में परिवर्तित करने की आवश्यकता ।
(2) कारागारों की एक राष्ट्रीय नीति का निर्माण करना जिसमें कारागार विकास के प्रमुख स्वरूपों को पंचवर्षीय योजनाओं में सम्मिलित करना आवश्यक है ।
(3) भारतीय संविधान में ऐसे संशोधन की आवश्यकता जिससे कारागार-प्रशासन का विषय समवर्ती सूची (कांकरेंट लिस्ट) में सम्मिलित हो जाए ।
(4) केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर उपयुक्त कारागार अधिनियमों को पारित करने की आवश्यकता ।
(5) देश में एक राष्ट्रीय सुधार प्रशासन संस्थान की स्थापना की आवश्यकता ।
(6) राज्य के कारागार विभागों का पुनर्संगठन करने की आवश्यकता ।
(7) कारागारों में भीड़भरा वातावरण कम करने के लिए थोड़ी अवधि की सजा पाये बन्दियों का पूर्वावलोकन करने की आवश्यकता ।
(8) सजा पाये बन्दियों को गैर सजा पाये बन्दियों से पृथक् रखने की आवश्यकता ।
(9) गैर सजा पाये बन्दियों के लिए पृथक् कारागारों की स्थापना करने की आवश्यकता ।
(10) बन्दियों को वैज्ञानिक वर्गीकरण के आधार पर पृथक् रखने की आवश्यकता ।
(11) कारागारों की प्रचलित चिकित्सा-सेवाओं तथा औद्योगिक प्रशिक्षण-कार्यक्रमों का आधुनिकीकरण करने की आवश्यकता ।
(12) कारावास के विकल्पों को ढूँढने तथा व्यापक रूप से उनका प्रयोग करने की आवश्यकता ।
(13) परिवीक्षा सेवाओं का विस्तार करने की आवश्यकता ।
(14) कारागार-कर्मचारियों की व्यावसायिक कुशलता को बढ़ानेवाले कार्यक्रमों का आयोजन करने की आवश्यकता ।
(15) कारागार-कर्मचारियों का वैज्ञानिक चयन एवं प्रशिक्षण ।

वर्तमान भारतीय कारागार-व्यवस्था की प्रमुख कार्य-पद्धतियाँ एवं प्रक्रिया

वर्तमान भारतीय कारागार-व्यवस्था जिन-प्रमुख सिद्धांतों, कार्य-पद्धतियों, दंड एवं सुधार प्रक्रियाओं पर आधारित है उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है :—

(क) कारागारों का वर्गीकरण

देश के विभिन्न कारागारों को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है :—

(1) **केन्द्रीय कारागार**—जिनमें 700 से लेकर 1,000 तक बंदियों के रखने का स्थान उपलब्ध रहता है।

(2) **जिला कारागार**—जिनमें 100 से लेकर 500 तक बंदियों को रखने का स्थान होता है। इन कारागारों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम श्रेणियों में बंदियों की संख्या के आधार पर पुनः विभक्त किया जाता है।

(3) **अल्पवयस्क कारागार**—जिनमें अल्प आयु के बंदी रखे जाते हैं।

(4) **हवालात कारागार**—जिनमें विचाराधीन बंदी रखे जाते हैं।

(ख) विभिन्न श्रेणियों के बंदियों के लिए कारागारों का आरक्षण

(1) **केन्द्रीय कारागार**—वयस्क बंदी जिनको आजन्म कारावास का दंड मिला है अथवा जिनके कारावास की अवधि 7 वर्ष से अधिक है।

(2) **जिला कारागार**—वे बंदी जिनको एक वर्ष से लेकर 7 वर्ष तक के कारावास का दंड मिला है। इन कारागारों में विचाराधीन तथा सिविल बंदी और साधारण कारावास की सजा पाये बंदी भी रखे जाते हैं।

(3) **विशेष बन्दी कारागार**—विशिष्ट श्रेणियों के बंदियों के लिए प्रत्येक राज्य में कतिपय जेलों का आरक्षण किया जाता है। इन विशेष बंदियों का वर्गीकरण निम्नांकित आधार पर किया जाता है : पुरुष (अ) अभ्यासिक, आकस्मिक मानसिक रोगों से पीड़ित, तपेदिक से ग्रस्त, कुष्ठ रोगी, मृत्यु-दंडित, अल्पवयस्क, आकस्मिक अभ्यासिक, बाल, तरुण तथा किशोर अपराधी (ब) महिला बंदी : आकस्मिक, अभ्यासिक, आकस्मिक तथा अभ्यासिक बालिकाएँ तथा किशोरियाँ एवं मृत्यु-दंड पाई हुई महिला बंदी।

(ग) बंदियों का प्रवेश

प्रत्येक कारागार में बंदियों का प्रवेश तथा उन्मुक्ति प्रिजन्स ऐक्ट (1894 का अधिनियम 9) की धाराओं के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक बंदी की परीक्षा मुख्य द्वार पर आने तथा संगरोध अहाते में बन्द किए जाने के पूर्व जेलर अथवा कर्तव्यस्थ अन्य अधिकारी के समक्ष, सहायक चिकित्सा अधिकारी द्वारा

सावधानी से की जाती है। बन्दी का नाम, परीक्षा का समय तथा परीक्षाफल और चोट, घाव, गुम चोट या अवघर्षण का जिसका पता लगता है, विशेष रूप से उल्लिखित करके जेलर की रिपोर्ट पुस्तक में दर्ज किया जाता है। प्रत्येक बन्दी को प्रवेश होने पर अपना शरीर और कपड़ा भली भाँति स्वच्छ करना पड़ता है।

(घ) बन्दियों की मुक्ति

प्रत्येक सिद्धदोष बन्दी को मुक्ति की तिथि मुक्ति के रजिस्टर में उस दिनांक के अन्तर्गत अभिलिखित किया जाता है जब उसकी सजा समाप्त होती है। यदि तत्पश्चात् उसे सजा में विशेष छूट दी जायगी तो उक्त दिनांक तदनुसार परिवर्तित कर लिया जायेगा। मुक्त किए जाने वाले बन्दियों को उस तारीख की पूर्व-सूचना दी जाती है जिस पर वे मुक्त किए जाएँगे। प्रत्येक बंदी को मुक्त करते समय उसकी सभी धनराशि या अन्य सम्पत्ति उसे लौटा दी जाती है। मुक्त किए गए बन्दियों को घर लौटने के लिए रेल या बस का किराया दिया जाता है।

(ङ) बन्दियों का स्थानांतरण

सभी सिद्धदोष बन्दियों को प्रारम्भ में जिला कारागार में प्रविष्ट किया जाता है और उसके उपरान्त उनकी आवश्यकता को देखते हुए प्रदेश के अन्य कारागारों में स्थानांतरित किया जाता है।

(च) सजा में छूट देने की प्रणाली तथा सजा की अवधि समाप्त होने के पूर्व मुक्ति

बन्दियों को पूर्णतया सद्व्यवहार करने तथा कारागार के सभी विनियमों का पूर्ण सावधानी से अनुपालन करने के लिए प्रतिमास तीन दिन की छूट दी जाती है तथा इसके साथ ही साथ उद्योग तथा निर्धारित दैनिक कार्यक्रम का यथोचित रूप से अनुपालन करने के लिए भी प्रतिमास तीन दिन की छूट प्राप्त होती है। बंदी वार्डरों, ओवरसियरों को प्रतिमास 7 से लेकर 10 दिन तक की छूट दी जाती है। ऐसे सिद्धदोष बंदियों को जिन्हें कारागार की सेवाओं पर, जैसे रसोइयादार, संमार्जक, स्टोरकीपर, अस्पताल के सेवक गण, नाई आदि के काम पर लगाया जाता है और जो रविवार या अन्य छुट्टी के दिनों में भी सामान्य रूप से काम करते हैं उन्हें भी महीने में एक दिन की अतिरिक्त छूट प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त साधारण छूट उन सभी बन्दियों को दी जाती है जो निम्नां-

कित काम करते हैं :—(1) पढ़ना और लिखना सिखाने में उल्लेखनीय रूप से परिश्रम करना; (2) पढ़ना और लिखना सीखने में विशेष प्रवीणता दिखाना तथा सराहनीय रूप से परीक्षा पास करना; (3) हस्तशिल्प सिखाने में उल्लेखनीय रूप से सफलता प्राप्त करना; (4) कार्य में विशेष रूप से दक्ष होना अथवा बढ़िया किस्म का कार्य अत्यधिक मात्रा में पूरा करना; (5) कारागार के किसी अधिकारी को आक्रमण से बचाना; (6) कारागार के अधिकारियों को आपत्तिक स्थिति में विशेष सहायता पहुँचाना; (7) कपड़ा पहनने में विशेष रूप से बचत करना तथा (8) कारागार का अनुशासन या विनियमों का पता लगाने में या उनकी रोकथाम करने में सहायता देना।

उन बन्दियों को सजा की अवधि समाप्त होने के पूर्व भी मुक्त किया जाता है जिनके बारे में अधीक्षक यह सिफारिश करे कि वे किसी घातक बीमारी से ग्रस्त हैं और वह बीमारी कारागार के अन्य बंदियों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। वृद्ध, अशक्त, घातक रोगग्रस्त तथा मरणासन्न बन्दियों को सजा की अवधि समाप्त होने के पूर्व किन्हीं शर्तों या बिना शर्त के मुक्त किया जा सकता है।

(छ) बंदी अधिकारीगण

कारागार प्रशासन में कर्मचारियों को सहायता पहुँचाने के लिए कतिपय बंदियों को अधिकारियों की श्रेणी में रखा जाता है और इनकी संख्या सम्पूर्ण बंदी संख्या की 10 प्रतिशत होती है। इन अधिकारी बंदियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जाता है : (1) रात के पहरेदार, (2) ओवरसियर तथा (3) वार्डर। साधारणतः ये ऐसे बन्दी होते हैं जिन्होंने अपनी सजा का निर्धारित भाग काट लिया है, जिनका स्वास्थ्य एवं व्यवहार अच्छा है और जो योग्य तथा बुद्धिमान हैं। इन अधिकारी बंदियों का काम अन्य बंदियों पर निगरानी रखना, उन्हें परेड पर ले जाते समय अनुशासन और शान्ति-व्यवस्था बनाये रखना तथा यह देखते रहना है कि उनके अन्तर्गत रखे गए बन्दी कारागार के नियमों का भली भाँति पालन कर रहे हैं। इन बंदी अधिकारियों का यह भी कर्तव्य है कि वे कारागार में होने वाले उपद्रवों को शांत करने में कारागार के अधिकारियों की मदद करेंगे तथा जेल से बंदियों के भाग निकलने की रोकथाम करेंगे।

(ज) बंदियों का वर्गीकरण तथा पृथक्करण

कारागारों में बंदियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(1) अपराधी बन्दी जिनका दोष सिद्ध हो चुका है या जिन्हें दोषी ठहराया

गया है परन्तु जिनका मामला विचाराधीन है, (2) राज्य द्वारा निरुद्ध बन्दी, (3) सिविल बन्दी। दोषी ठहराये गए बंदियों को पुनः दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है : (1) आकस्मिक बन्दी, जो प्रथम अपराधी हो और जो इस कारण अपराध न करता हो कि उसकी आपराधिक मनोवृत्ति है वरन् अपने वातावरण, शारीरिक असमर्थता पर मानसिक हीनता के कारण अपराध कर बैठा हो, (2) आकस्मिक बंदी अर्थात् ऐसे बंदी जिन्हें आकस्मिक बंदी के रूप में वर्गीकृत न किया गया हो। इन बंदियों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(क) गैर-पेशेवर : ऐसे बंदी जो वातावरण अथवा किन्हीं शारीरिक या मानसिक दोषों के कारण अपराध करते हों और जो प्रथम अपराधी न हों, (ख) पेशेवर ऐसे व्यक्ति जो कोई उद्देश्य रखते हों, स्वस्थ मन के हों, बहुधा उच्च कोटि की अपराधिक प्रवीणता रखते हों और जान-बूझ कर अपराधी जीवन व्यतीत करना पसन्द करते हों।

दोषी ठहराये गए अपराधिक बन्दियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—उच्च श्रेणी के बंदी तथा साधारण श्रेणी के बंदी।

सिविल बंदियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है : उच्च तथा साधारण।

प्रत्येक कारागार में जहाँ एक से अधिक श्रेणी के बन्दी रखे जाते हैं वहाँ भिन्न-भिन्न श्रेणियों के बंदियों को अलग-अलग रखने की व्यवस्था का नियम बना हुआ है। आकस्मिक सिद्धदोष बंदियों को सदैव अभ्यासिक सिद्धदोष बंदियों से अलग रखे जाने की व्यवस्था प्रत्येक कारागार में होना अनिवार्य है। उच्च श्रेणी के सिद्धदोष बंदियों को अन्य बंदियों से पृथक् रखा जाता है। महिला तथा बालक बंदियों को पुरुष तथा वयस्क बंदियों से पृथक् रखा जाता है। मृत्यु-दण्डित, विचाराधीन, सिविल तथा मानसिक रोग-ग्रस्त बंदियों को भी अन्य बंदियों से पृथक् रखा जाता है।

बन्दियों के लिए भोजन एवं वस्त्र-व्यवस्था

प्रत्येक बंदी को प्रतिदिन नियत समय में अपनी श्रेणी के लिए नियत मानक्रम के अनुसार भोजन तथा वस्त्र प्राप्त होते हैं। बंदियों को मिलने वाला प्रातःकाल, दोपहर तथा संध्या का भोजन कारागार-नियमावली में वर्णित मानक्रमों के अनुसार दिया जाता है। स्वतन्त्रता दिवस, गणराज्य दिवस तथा अन्य प्रमुख धार्मिक अवसरों पर बंदियों को धर्म के अनुसार विशेष भोजन दिया जाता

है। बंदियों को गर्मी और सर्दी में मिलने वाले वस्त्र कारागार-नियमावली में वर्णित नियमों के आधार पर प्रदान किए जाते हैं।

बन्दियों की स्वास्थ्य-रक्षा

प्रत्येक कारागार में चिकित्सालय और चिकित्सा-अधिकारियों की नियुक्ति बंदियों के स्वास्थ्य की रक्षा करने हेतु की जाती है। कारागार चिकित्सालयों का कार्य कारागार की सफाई, भोजन-व्यवस्था तथा रहन-सहन की सुविधाओं का निरीक्षण करना होता है।

भेंट और पत्र

प्रत्येक बंदी को अपने कारावास की अवधि में प्रतिमास एक पत्र लिखने और अपने सम्बन्धियों से एक बार भेंट करने की अनुमति प्रदान की जाती है। प्रत्येक बन्दी को यह अधिकार होता है कि वह अधीक्षक की अनुज्ञा से भेंट के बदले में पत्र लिख सके या पत्र के बदले में भेंट कर सके।

अनुशासन और रात की पहरेदारी

प्रत्येक बन्दी ऐसे सभी वैध आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है जो कारागार के किसी अधिकारी द्वारा उसे दिये जाते हैं। भूख हड़ताल करना एक बड़ा अपराध माना जाता है। बंदियों को चाकू, छुरा या अन्य कोई घातक हथियार रखने की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। बंदियों को भाग निकलने से रोकने के लिए सर्वाधिक सावधानी और सतर्कता बरती जाती है। प्रत्येक सुबह बैरक खुलने तथा शाम को बन्द होने पर बंदियों की गणना की जाती है। बंदियों की तालाबन्दी सूर्यास्त से पूर्व कर ली जाती है। रात को पहरेदारी करने वाले वार्डर यह देखते रहते हैं कि बैरकों में व्यवस्था और अनुशासन बना रहे। कारागार के मुख्य अधिकारी रात को बैरकों का निरीक्षण भी करते हैं और यह देखते हैं कि सभी ताला बन्द बैरकों में शान्ति और व्यवस्था बनी हुई है और बंदियों पर पहरा नियमपूर्वक दिया जा रहा है।

अपराध और दण्ड

प्रिजन्स ऐक्ट, 1894 की धारा 45 के अंतर्गत घोषित किए गए अपराधों के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य अपराध मानकर निषिद्ध घोषित किए गए हैं :—

(1) कतार में, ताला खोले जाने के समय या अन्य परेडों के समय बात करना, गाना, जोर से हँसना।

(2) किसी अन्य बंदी से झगड़ा करना।

(3) कोई वस्तु छिपाना।

(4) किसी कारागार-अधिकारी या वीक्षक के प्रति अनादर प्रकट करना।

(5) निराधार शिकायतें करना।

(6) कारागार के किसी अधिकारी या किसी वीक्षक द्वारा पूछे गए प्रश्न का झूठा उत्तर देना।

(7) कारागार के विनियमों की अवज्ञा करके उस व्यक्ति से बात करना जिससे सम्पर्क रखना वर्जित है।

(8) किसी बंदी को अपराध करने के लिए दुष्प्रेरणा करना।

(9) किसी कारागार के अपराध की सूचना देकर अनुशासन बनाये रखने में सहायता देने में या कारागार के किसी अधिकारी द्वारा ऐसा करने के लिए कहे जाने पर उसे सहायता देने में चूक करना।

(10) कोई ऐसा कार्य करना या ऐसी भाषा का प्रयोग करना जो किसी साथी बंदी की भावनाओं को चोट पहुँचाने के उद्देश्य से की गई हो।

(11) बंदियों या कारागार के अधिकारियों के दिमाग में अनावश्यक रूप से खतरा पैदा करने के विचार से कोई कार्य करना।

(12) कारागार के अधिकारी की अनुज्ञा के बिना उस टोली को छोड़ना जिससे वह सम्बद्ध हो या कारागार के उस भाग को छोड़ना जिसमें वह परिरुद्ध किया गया हो।

(13) कारागार के किसी अधिकारी की अनुज्ञा के बिना कतार में स्थान या उसके नियत किए गए स्थान अथवा शायिका को छोड़ना।

(14) प्रांगण में निरुद्देश्य टहलना तथा वार्डों के खुले होने पर उनमें देर तक ठहरे रहना।

(15) कारागार में चलते समय कतार में चलने में चूक करना या इनकार करना।

(16) नियत समय के अतिरिक्त कारागार के किसी अधिकारी की अनुज्ञा के बिना शौचालय तथा स्नानालय में जाना।

(17) खाना खाने से, भोजन स्वीकार करने से इनकार करना।

(18) भोजन करने से सम्बन्धित अन्य नियमों का उल्लंघन करना।

(19) कारागार द्वारा प्रदत्त वस्त्रों के पहनने में चूक करना, या उन्हें पहनने से इनकार करना या उन्हें खो देना, फेंक देना, हानि पहुँचाना या उनके किसी भाग में परिवर्तन करना।

(20) शरीर को साफ रखने में चूक करना या शारीरिक स्वच्छता के नियमों का उल्लंघन करना ।

(21) कारागार के तालों, लैम्पों या अन्य किसी सम्पत्ति को छेड़ना ।

(22) कारागार की या किसी बंदी की वस्तु या वस्तुओं की चोरी करना ।

(23) कारागार के किसी भाग में न्यूसेन्स करना ।

(24) कारागार की किसी वस्तु पर थूकना, दूषित करना या नष्ट करना ।

(25) कारागार द्वारा सौंपी गई समस्त सम्पत्ति की यथोचित देखभाल करने में चूक करना, उनकी रक्षा करने से इनकार करना, उन्हें नुकसान पहुँचाना, नष्ट करना या उनका दुर्विनियोग करना ।

(26) कारागार के किसी अधिकारी की जानकारी या अनुज्ञा के बिना किसी वस्तु का निर्माण करना ।

(27) किसी अन्य बंदी को दिए गए किसी कार्य को करना या स्वयं अपना कार्य करने में किसी अन्य बंदी की सहायता लेना ।

(28) कोई ऐसा कार्य करना जिसका आशय स्वयं को बीमारी या चोट या निर्योग्यता पहुँचाना हो ।

(29) हिंसा या किसी प्रकार की अवज्ञा करना ।

(30) किसी बंदी या कारागार के किसी अधिकारी पर आक्रमण करना या आक्रमण में भाग लेना ।

(31) कारागार के किसी अधिकारी के किसी वैध आदेश का पालन न करना या विहित की गई रीति से कर्तव्यों का पालन करने में चूक करना या इनकार करना ।

दंड

प्रिजन्स ऐक्ट, 1894 में उपबंधित दंड दो प्रकार के होते हैं—(i) हल्के दंड एवं (ii) भारी दंड ।

(i) हल्के दंड निम्नलिखित प्रकार के हैं :—

(1) औपचारिक चेतावनी जो अधीक्षक द्वारा बंदी को वैयक्तिक रूप से दी जायेगी और जो दंड रजिस्टर तथा बंदी के इतिवृत्त-पत्रक में अभिलिखित की जायेगी ।

(2) बंदी के निर्धारित श्रम को कठोर श्रम में परिवर्तित करना ।

(3) अर्जित की गई छूट को जब्त करना ।

(4) किसी ऊँची श्रेणी से नीची श्रेणी में स्थायी रूप से रखा जाना ।

(5) सात दिन से अधिक अवधि के लिए कोठरी में बन्द करना।
(6) चौदह दिन से अनधिक अवधि के लिए एकान्त परिरोध।
(7) हथकड़ियों का लगाया जाना।
(8) 30 दिन से अनधिक अवधि के लिए शृंखला बेड़ी (लिंक फेटर्स) का लगाया जाना।
(9) तीन महीने से अनधिक अवधि के लिए ऊनी वस्त्र के अतिरिक्त अन्य सामान से बने वस्त्र के स्थान पर टाट के या अन्य खुरदुरे कपड़े के बने वस्त्र दिया जाना।

(ii) भारी दंड निम्नलिखित प्रकार के होते हैं :—

(1) कठिन कारावास का दंड न पाये हुए बंदियों को सात दिन से अधिक अवधि के लिए कठोर श्रम प्रदान करना।
(2) अर्जित छूट के दिनों में 4 दिन से लेकर तीन महीने तक की अवधि की जब्ती।
(3) सात दिन से अधिक अवधि के लिए कोठरी में बन्द करना।
(4) 14 दिन से अधिक किन्तु तीन महीने से अनधिक अवधि के लिए अलग परिरोध।
(5) डंडा बेड़ी (बार फेटर्स) पहनाना।
(6) कोड़े मारना (यह दंड केवल विद्रोह या विद्रोह के लिए उभारने या गम्भीर आक्रमण के लिए ही दिया जाता है)।

कारागार के उद्योग एवं श्रम

मैकाले समिति (1838) की रिपोर्ट में कारागार-श्रम को कारागार-अनुशासन की एक प्रमुख विधि के रूप में स्वीकार किया था और यह सिफारिश की गई थी कि बन्दियों में कठोर परिश्रम करने की आदत का निर्माण किया जाना चाहिए। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंदियों से लिए जाने वाले कठोर श्रम की भर्त्सना की गई और यह कहा गया कि बंदी-श्रम के कार्यक्रमों का उद्देश्य बंदियों को दंड की पीड़ा पहुँचाना न होकर उनको ऐसे कार्यों तथा उद्योगों में लगाना है जिससे उनमें औद्योगिक क्षमता के विकास के साथ ही साथ सुधार की भावना उत्पन्न हो सके। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही यह स्वीकार किया जाने लगा था कि कारागार-श्रम का उद्देश्य निम्नलिखित लक्ष्यों की पूर्ति करना है—(1) कारागार अनुशासन को बनाये रखना, (2) बंदियों को आत्म-निर्भर बनाना, (3) बंदियों को दंडित करने का एक उत्तम साधन, (4) बंदियों

के मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, (5) बंदियों को आत्मनिर्भर बनाकर कारागार से मुक्त करने का साधन, (6) श्रम का वह प्रकार जो निजी श्रम से भिन्न है।

भारतीय कारागारों में कठिन कारावास का दंड पाये हुए प्रत्येक श्रेणी के सिद्धदोष बंदी के लिए औद्योगिक तथा गैर-औद्योगिक प्रकार की व्यवस्था यथासम्भव निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर की जाती है :—

(1) किसी विशिष्ट कार्य के लिए किसी सिद्धदोष बंदी की शारीरिक तथा मानसिक उपयुक्तता।

(2) सिद्धदोष बंदी का किसी उद्योग तथा व्यापार का पारिवारिक व्यवसाय में पूर्व-प्रशिक्षण या अनुभव।

(3) किसी विशेष कार्य के लिए सिद्धदोष बंदी की कार्योपयोगी बुद्धि या मानसिक झुकाव।

(4) पुनर्वासन की सम्भावनाएँ, अर्थात् सिद्धदोष बंदी को कारागार से मुक्ति पर उसके गाँव या जिले के आसपास उस विशेष कार्य में आसानी से लगाया जा सकता है कि नहीं।

कारागार के कारखानों में निर्मित की जाने वाली वस्तुएं तीन प्रकार से उपयोग की जाती हैं : (क) कारागार में उपयोग के लिए, (ख) सरकारी विभागों में उपयोग के लिए और (ग) जनता में बिक्री के लिए।

कारागार-श्रम के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण कठोर, मध्यम और हल्के श्रम के रूप में किया जाता है तथा बंदियों से 9 घंटे से अधिक श्रम नहीं लिया जाता।

कारागारों के सुधारवादी कार्यक्रम

कारागारों के सुधारवादी कार्यक्रमों को निम्नलिखित तीन खंडों में बाँटा जाता है—(1) धार्मिक और नैतिक, (2) शैक्षिक और (3) शारीरिक व्यायाम तथा मनोरंजन आदि।

(1) धार्मिक एवं नैतिक

जहाँ तक अनुशासन के अनुसार सम्भव हो सकता है, सभी मामलों में बंदियों की धार्मिक मान्यता तथा जातीय भावना का उचित आदर किया जाता है। प्रत्येक बंदी को शान्ति के साथ यथाविधि प्रार्थना करने या पूजा करने की सुविधा प्राप्त होती है। सभी श्रेणियों के बंदियों को अपने धार्मिक कृत्यों में

सम्मिलित होने के लिए, जिनमें उपवास के समय प्रार्थना और महत्वपूर्ण धार्मिक उत्सव मनाना भी है, सभी उचित सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जिला मजिस्ट्रेट धार्मिक और नैतिक विषयों के तथा बंदियों की सामान्य उपयोगिता के विषयों के लिए अवैतनिक शिक्षक नियुक्त करता है। पूर्णतः धार्मिक और नैतिक विषयों के अतिरिक्त शिक्षण में कृषि, प्राथमिक सहायता, सफाई, स्वास्थ्य-विज्ञान तथा इसी प्रकार के विषयों पर व्याख्यान भी आयोजित किये जाते हैं।

(2) शैक्षिक

प्रत्येक ऐसे सिद्धदोष महिला या पुरुष बंदी को जिसे तीन मास या इससे अधिक के कारावास का दंड दिया गया होता है और जो 50 वर्ष से कम उम्र का होता है, निम्न प्राथमिक स्तर पर पढ़ने लिखने की सुविधा प्रदान की जाती है। सभी श्रेणियों के बंदियों के लिए प्रत्येक कारागार में पुस्तकालय की व्यवस्था की जाती है। इन पुस्तकालयों से बंदी अपने पढ़ने के लिए पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं।

(3) शारीरिक व्यायाम तथा मनोरंजन

प्रत्येक कारागार में बंदियों के शारीरिक एवं नैतिक लाभ के लिए शारीरिक व्यायाम, सस्ते खेलों, जैसे वालीबाल, रस्साकशी इत्यादि मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

भारतीय कारागारों की वर्तमान दशा एवं प्रशासन की समस्याएँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत भारतीय कारागार-व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन अवश्य हुए परन्तु उन परिवर्तनों की दिशा, मात्रा तथा प्रभाव को ध्यान में रखकर ऐसा लगता है कि कारागारों की सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था में कोई बुनियादी फर्क अभी तक नहीं पड़ा है। सामान्य जेलों में बंदियों की दशा आज भी वही है जो अंग्रेजों के शासन-काल में थी। कारागार आज भी अंग्रेजों द्वारा निर्मित उन अधिनियमों (प्रिजन्स ऐक्ट, 1894 ; प्रिजनर्स ऐक्ट, 1900 तथा इण्डियन ल्यूनैसी ऐक्ट, 1912) के आधार पर चलाये जा रहे हैं जो आज के बदले हुए परिप्रेक्ष्य में असंगत प्रतीत होते हैं। कारागार विभाग राज्य सरकारों के अधीन है और हर राज्य की अपनी जेल नियमावली है।[1] ये नियमावलियाँ

---

1. आज का जेल, दिनमान, 4 अक्टूबर 1970, पृ० 27–28 ; हास्पिटल्स नाट जेल, हिन्दुस्तान टाइम्स का सम्पादकीय, नवम्बर 26, 1972 ।

व्यवहार में गुप्त दस्तावेज जैसी हैं जिन्हें आम आदमी देख नहीं सकता। ये वे ही नियमावलियां हैं जो अंग्रेजी राज्य में उन्नीसवीं सदी में बनी थीं। इनमें अगर कुछ हेर फेर हुआ है तो इतना ही कि कहीं कैदियों की दो श्रेणियां हैं तो कहीं तीन। कुछ प्रदेशों में लोहे के तसलों की जगह पीतल का तसला मिलने लगा है। सरकारी तौर पर बेत की सजा बंद कर दी गई है जिसका मतलब यह नहीं है कि कैदियों को डंडे नहीं पड़ते। कहीं कहीं (उत्तर प्रदेश, पंजाब, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान) खुली जेलों का प्रयोग किया गया है। चुने हुए कैदी कुछ खास परियोजनाओं में काम पर लगाये गये हैं लेकिन दूसरी तरफ एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कैदियों की संख्या तो तेजी से बढ़ती रही, अपराध बढ़ते रहे लेकिन जेलों की संख्या नहीं बढ़ी। दूसरे, जेलों की व्यवस्था में कोई कानूनी परिवर्तन नहीं किया गया है।

22 दिसम्बर, 1973 को सोशल ऐन्ड इकनोमिक वीकली में कलकत्ता की प्रेसीडेन्सी जेल की दुर्व्यवस्था पर छपे एक लेख में कारागारों के भीतर की व्यवस्था का जो वीभत्स चित्रण उपलब्ध होता है उससे कारागार-सुधार के ढोंग का पर्दाफाश होता है। इस प्रकार के अनेक लेख भारतीय समाचारपत्रों में कुछ वर्ष पूर्व तक छपते रहे हैं। कलकत्ता की जेल पर प्रकाशित इस लेख पर हिन्दुस्तान टाइम्स में एक संपादकीय 4 जनवरी, 1974 को छपा जिसमें कहा गया कि भारतीय कारागार दुर्व्यसनों तथा भ्रष्टाचार के संस्थानों की भांति हैं जिनमें भयंकर अमानुषिकता झलकती है। 4 अक्टूबर, 1970 के दिनमान में बिहार सेंट्रल जेल पर लेख छपा जिसमें लिखा गया कि "राजधानी के बंदीगृह बिहार सेंट्रल जेल का बाहरी रूपरंग अन्य सरकारी इमारतों की ही तरह एक शानदार इमारत होने का आभास देता है, पर इसके अंदर की दुनियां आज भी करीब-करीब वही दुनियां है जो अंग्रेजी राज में देश के स्वाधीनता-संघर्ष के सेनानियों ने भोगी थी....कारागार की इस दुनियां में चोरी और गिरहकटी से लेकर कत्ल और हत्या के प्रयत्नों जैसे बड़े अपराधों में फंसे व्यक्ति भी हैं....जेल का सुपरिंटेंडेंट बादशाह होता है और सहायक अधिकारी नवाब। जेल की व्यवस्था लम्बी सजा वाले कैदियों के सहारे चलती है....भ्रष्टाचार, समलैंगिक मैथुन तथा और न जाने क्या क्या इन जेलों में होता है जिन्हें अच्छी से अच्छी जेलें कहा जाता है।" जुलाई 1971 में उत्तर प्रदेश के उस समय के जेलमंत्री ने अपने एक बयान में कहा कि कारागार अधीक्षक ही बंदियों के शोषण तथा जेल सम्पत्ति के दुर्विनियोग के लिए उत्तरदायी है। सितम्बर 1974 में लंदन स्थित ऐमनेस्टी इन्टरनैशनल ने भारत

सरकार का ध्यान पश्चिमी बंगाल के कारागारों की उस दुर्व्यवस्था की ओर आकृष्ट किया जिसमें बंदियों को अमानवीय प्रकार से शारीरिक यातनाएँ दी जा रही थीं। हिन्दुस्तान टाइम्स के संवाददाता ने 17 सितम्बर 1974 को प्रकाशित होने वाली अपनी रिपोर्ट में लिखा कि अधिकांश भारतीय कारागारों में निर्धारित संख्या से दुगुने या तिगुने बंदी रखे जाने के कारण अनेक प्रकार की दुर्व्यवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। इस भीड़भरी स्थिति में न तो कारागार के कर्मचारी ठीक से कार्य कर पाते हैं और न बंदियों के रहने, खाने-पीने तथा सुधार की सुविधाएँ ही उपलब्ध हो पाती हैं। भीड़भरे कारागार की व्यवस्था में बंदियों का वर्गीकरण तथा पृथक्करण सम्भव ही नहीं हो सकता। जेलों की यह व्यवस्था सुधार के प्रश्न का मखौल उड़ाती है। जून 18, 1972 के टाइम्स आफ इण्डिया में बिहार जेल के बंदियों पर छपे लेख को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि बाहर से स्वच्छ तथा खूबसूरत दिखने वाला बिहार का केन्द्रीय कारागार अन्दर से कितना दूषित स्थान है। इस लेख के लेखक (जो स्वयं बंदी के रूप में वहाँ रहा था) ने लिखा कि पैसे वाला बंदी अपने आराम की वस्तुओं को किस प्रकार से उपलब्ध करता है। जेल की एक कहावत है कि स्त्री को छोड़कर सभी वस्तुएँ (मदिरा तथा अन्य मादक द्रव्य भी) वे सभी बंदी प्राप्त कर सकते हैं जिनके पास जेल के संतरियों को घूस देने के लिए पैसे होते हैं। टाइम्स आफ इण्डिया के इसी अंक में लीना साहा का एक और लेख छपा था जिसमें उन्होंने कहा कि जेल के अधिकांश वार्डर कामचोर तथा भ्रष्ट होने के कारण गरीब तथा कमजोर बंदियों के साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं। पश्चिमी बंगाल तथा बिहार के कारागारों में होने वाले दंगे (जिनमें बहुत से बंदी मारे गये थे) इस बात का प्रतीक है कि जेलों का वातावरण आज भी पहले जैसा घुटनभरा है। लेखक का निष्कर्ष यह था कि हमारे अधिकांश कारागारों में बंदी सुधरने के स्थान बिगड़ जाते हैं और वे समाज से बदला लेने की सोचने लगते हैं। 27 मई, 1973 के टाइम्स आफ इण्डिया वीकली में प्रकाशित एक लेख कारागार के सुधारात्मक लक्ष्य की दिशा में होने वाली वर्तमान प्रगति की समस्याओं का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष में यह बात कहने का प्रयत्न करता है कि भारतीय कारागार-व्यवस्था अपने स्वरूप में बंदी-सुधार के उद्देश्य को प्राप्त ही नहीं कर सकती है। लेख में यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि वर्तमान कारागारों में बंदियों को उपलब्ध रहन-सहन की सुविधाएँ 25 या 30 वर्ष पहले की जेलों से बहुत अच्छी हो गई हैं परन्तु फिर भी कारावास का मनोवैज्ञानिक प्रभाव बंदियों के स्वभाव को आज भी उतना ही दूषित करता है जितना कि पहले किया करता था।

भारतीय समाचारपत्रों, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक लेखों द्वारा कारागारों का जो चित्र उभरता है उसे देखकर ऐसा लगता है कि आज का कारागार अपनी उन्हीं पुरानी दीवारों से बना है, जिनकी नींव अंग्रेजों ने डाली थी। कुछ वर्णन अतिशयोक्ति जैसे लग सकते हैं, परन्तु उनकी तह में छिपी भर्त्सना की वास्तविकता को पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इण्डियन सोसाइटी आफ क्रिमिनालोजी की दूसरी वार्षिक विचार-गोष्ठी में कारागार विभाग के तीन वरिष्ठ अधिकारियों ने अपने द्वारा प्रस्तुत लेखों में कारागार-प्रशासन की वर्तमान समस्याओं का उल्लेख किया। महाराष्ट्र के कारागार महानिरीक्षक श्री के० शिवरामकृष्ण, आई० ए० एस० ने अपने लेख प्राब्लेम्स इन प्रिजन ऐडमिनिस्ट्रेशन में निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया :—

(1) हमारे अधिकांश कारागारों में सिद्धदोष तथा असिद्धदोष बन्दी एक ही साथ रखे जाते हैं।

(2) सिविल तथा मानसिक रूप से विकृत बन्दी आज भी सामान्य कारागारों में ही रखे जाते हैं।

(3) देश के विभिन्न प्रान्तों (पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि) में असिद्धदोष बन्दियों (अन्डर ट्रायल्स) की संख्या सिद्धदोष बन्दियों (कनविक्ट्स) से कहीं अधिक है।

(4) कारागारों में बन्दियों का अन्धाधुन्ध प्रवेश कारागार-कर्मचारियों को केवल दो ही काम करने के लिए विवश कर देता है—बन्दियों का प्रवेश एवं उनकी मुक्ति।

(5) कारागारों में बन्दियों की संख्या में बढ़ोतरी के साथ-साथ न तो कर्मचारियों की उसी अनुपात में संख्या बढ़ी है और न कारागार-भवनों का विस्तार हुआ है। इस स्थिति में कारागार के कर्मचारी केवल बन्दियों को सुरक्षापूर्वक जेल की दीवारों में अवरुद्ध करके रख पाने में अपना समस्त ध्यान लगा देते हैं। भीड़भरे कारागारों में बन्दियों की रखवाली ही कारागार-प्रशासन का प्रमुख कर्तव्य बनकर रह जाती है।

(6) अधिकांश कारागारों में बन्दियों की संख्या कागागारों की निर्धारित बन्दी-संख्या से करीब-करीब दुगुनी हो जाने के कारण, बन्दियों का वर्गीकरण तथा पृथक्करण सम्भव नहीं हो पा रहा है। इस स्थिति में अपराधिक, विचाराधीन तथा सिविल बन्दी एक ही साथ रख दिये जाते हैं। दोषसिद्ध बन्दियों का भी वर्गीकरण आकस्मिक तथा अभ्यासिक

बन्दियों के रूप में नहीं हो पाता। पृथक् निवास की सुविधाओं के अभाव में बहुधा बाल अपराधी बन्दी तथा वयस्क अपराधी बन्दी एक ही बैरक में भी रहते हुए पाये जाते हैं।

(7) कारागार-प्रशासन-व्यवस्था जिन कानूनों तथा नियमों के अधीन अपना कार्य सम्पादन कर रही है, उनमें बन्दियों की रखवाली करना कारागार-कर्मचारियों का प्रमुख कर्तव्य माना गया है, बन्दियों का सुधार करना उनका गौण कर्तव्य है।

(8) कारागारों की भवन-व्यवस्था करीब 100 वर्ष पुरानी है जिसमें इमारतें तथा बन्दियों को प्राप्त भौतिक सुविधाएँ सुधार को ध्यान में न रखकर, बन्दी की सुरक्षा के लिए बनाई गयी थीं।

(9) कारागार के अधिकांश कर्मचारी मेहनत और जोखिम का कार्य करने के बावजूद अन्य सरकारी विभाग में कार्य करनेवाले कर्मचारियों की तुलना में निम्न वेतन पाते हैं। इस स्थिति में प्रशिक्षित, कार्यकुशल तथा चारित्रिक निष्ठा के व्यक्ति कारागार-सेवा में भर्ती नहीं होना चाहते। जो भी निम्न स्तर के कर्मचारी (वार्डर आदि) कारागारों में कार्य कर रहे हैं, वे अपने कर्तव्यों के प्रति न केवल उदासीन हैं, वरन् अपनी आर्थिक-सामाजिक कुंठाओं के वशीभूत होकर भ्रष्ट एवं निष्क्रिय हो गये हैं। दोष उनका नहीं है, दोष है उन दशाओं का जिनके अन्तर्गत वे चाहे अनचाहे रूप से काम कर रहे हैं।

कारागार की वर्तमान स्थिति में सुधार के हेतु कुछ सुझाव

भारतीय कारागारों में पाई जानेवाली कमियों तथा दुर्व्यवस्थाओं की जानकारी का इतिहास 50 वर्षों से भी अधिक पुराना है, परन्तु खेद का विषय यह है कि जनता और सरकार दोनों ही कारागार-सुधार के प्रश्न पर आज भी उतने ही मौन हैं जितने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के दिनों में थे। हर बार जब कारागारों की दुर्व्यवस्था पर अखबारों में शोर मचाता है, सरकार कोई जाँच कमेटी बना देती है। इस प्रकार की अनेक समितियों की रिपोर्टें शासन की अलमारियों में धूल खा रही हैं। उनके द्वारा दिये गये सुझावों पर शासन गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर पाते। बहुधा पैसे का प्रश्न खड़ा कर दिया जाता है और उसके अभाव में कारागारों में मौलिक परिवर्तन ला पाने में असमर्थता प्रकट कर दी जाती है। कारागारों पर अध्ययन करनेवाले भारतीय अपराध-शास्त्री यह बात महसूस कर रहे हैं कि इन सुधार-समितियों का उद्देश्य केवल

दिखावा मात्र है। जेल कमेटी रिपोर्ट, 1919–20 के द्वारा किये गए सुझावों को ही यदि निष्ठापूर्वक मूर्त रूप दे दिया गया होता तो सम्भवतः कारागारों का स्वरूप बदल गया होता। रेकलेस कमेटी तथा माडल प्रिजन मैनुअल के सुझावों को मान लेने से ही कारागार सुधार-संस्था के रूप में परिवर्तित हो सकते थे। सत्य यह है कि कारागार विभाग के बारे में कोई भी राज्य सरकार विशेष रूप से चिन्तित नहीं है और कारागारों को एक सौतेले पुत्र की भाँति मानती है। एक ओर कमेटियों द्वारा सुझाव पर सुझाव दिये जा रहे हैं और दूसरी ओर सरकार कारागारों में बन्दियों की भीड़ इकट्ठी किए जा रही है। एक तरफ कारागारों को सुधार-संस्था के रूप में परिवर्तित करने की माँग जोर पकड़ रही है और दूसरी तरफ सरकार अपने पैसे की मुट्ठी को और अधिक जकड़ती जा रही है। इस वस्तुस्थिति में बहुत से सुझाव देने से कोई लाभ प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनेक कमेटियों ने हजारों की तादाद में सुझाव दे डाले हैं। ऐसे कुछ सुझावों का जिक्र यहाँ पर किया जा रहा है जिनको तुरन्त मानने की आवश्यकता है :—

(1) कारागारों को पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किए गए विकास के प्रश्नों में जोड़ा जाए। जब तक कारागार राष्ट्रीय विकास-योजनाओं का अंग नहीं बनेंगे, उनमें विकास के लिए पैसा नहीं उपलब्ध हो सकेगा।

(2) कारागारों में निधारित बन्दी-संख्या से अधिक बन्दी न रखे जाएँ।

(3) बन्दियों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए नये कारागारों की स्थापना की जाए।

(4) राजनैतिक बन्दियों, विचाराधीन बन्दियों तथा कम अवधि की सजा पाये हुए बन्दियों को सामान्य कारागारों में न रखा जाए। उनके लिए अलग-अलग प्रकार के कारागार प्रत्येक राज्य में उनकी अनुमानित संख्या को देखकर निर्मित किए जाएँ।

(5) सौ वर्ष पूर्व के कारागारों को हटाकर नये कारागार-भवन बनाये जाएँ।

(6) कारागार-नियमावलियों में ऐसे परिवर्तन किये जाएँ जिनसे कारागार-प्रशासन बन्दी-सुधार के लिए कार्यशील हो सके।

(7) कारागारों में बन्दियों को . रहने, खाने, पहनने, काम करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा मनोरंजन करने की मानवीय सुविधाएँ उपलब्ध की जाएँ।

(8) कारागारों में सुधार-अधिकारियों की नियुक्ति बन्दियों की संख्या के अनुपात में की जाए।

(9) कारागार-कर्मचारियों के वेतन तथा उनकी सेवा-दशाओं में सुधार किया

जाए, जिससे वे निष्ठा तथा कर्तव्यपरायण से अपना उत्तरदायित्व निभा सकें।

(10) कारागारों में नये कर्मचारी ऐसे प्रकार के व्यक्ति नियुक्त किये जाएँ जो व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित तथा शारीरिक एवं मानसिक रूप से कारागारों में कार्य करने के उपयुक्त हों।

(11) कारागारों के वर्तमान कर्मचारियों को पुनः प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधाएँ उपलब्ध की जाएँ।

(12) हर अपराधी को कारागार न भेजा जाए, अर्थात् कम सजा पाने तथा जुर्माना न भर पानेवाले अपराधियों को जेल में न भेजकर परिवीक्षा पर छोड़ा जाए।

(13) प्राचीर-विहीन कारागारों तथा आदर्श बन्दीगृहों की स्थापना पर्याप्त मात्रा में की जाए।

●

अध्याय 9

प्राचीर-विहीन कारागार

प्रस्तावना

भारतीय कारागार की ब्रिटिश प्रशासनिक व्यवस्था 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही एक ऐसे प्राविधान का अनुमोदन करती थी जिसके अनुसार बन्दियों को सार्वजनिक निर्माण के कार्यों के हेतु कारागार से बाहर भेजा जाता था। प्रथम अखिल भारतीय कारागार-समिति (1836-38) ने इस प्राविधान की आलोचना की और बन्दियों को कारागार से बाहर काम पर भेजे जाने की व्यवस्था को समाप्त कर देने की सिफारिश की। 1877 की जेल काम्फ्रेन्स ने इस प्रश्न पर पुनः विचार किया और इस बात की सिफारिश की कि बन्दियों को सार्वजनिक निर्माण के कार्यों (जैसे सड़कों का निर्माण तथा नहरों की खुदाई आदि) में लगाना न केवल महत्वपूर्ण है वरन् कारागार-प्रशासन का प्रमुख अंग है। आनेवाले वर्षों में इस संस्तुति का पालन किया गया और बन्दियों को कारागार से बाहर काम पर भेजने की व्यवस्था को पुनः लागू किया गया।

सन् 1919-20 में एक बार फिर से इस व्यवस्था का मूल्यांकन किया गया और यह पाया गया कि आसाम प्रान्त को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में यह योजना ठीक प्रकार से नहीं कार्यान्वित की जा रही है। कमेटी ने वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए इस व्यवस्था को समाप्त करने की सिफारिश की और कहा कि बन्दियों को सार्वजनिक निर्माण के कार्यों में केवल उन्हीं स्थानों पर लगाया जाना चाहिए जहाँ की जलवायु बन्दियों के स्वास्थ्य को देखते हुए उपयुक्त है। समिति ने सिफारिश की कि बन्दियों को कारागारों के भवन-निर्माण तथा कारागारों में खेती के कामों में लगाया जाना चाहिए। कमेटी की इस सिफारिश के बावजूद 1947 तक इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सका।

सन् 1947 में प्राप्त स्वतन्त्रता के बाद भारत में अपराधी-सुधार एवं अपराधियों के पुनर्वासन के दर्शन को एक नई दिशा प्राप्त हुई और भारतीय

अपराधशास्त्रियों तथा दण्डशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया कि कारागारों का वातावरण दमनात्मक न होकर सुधारात्मक होना चाहिए तथा कारागारों में बन्दियों के हेतु सुधार की सेवाएँ बड़ी मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिए। 1955 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक अपराध-निवारण तथा अपराधी-सुधार अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठी में इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया गया और अपराधी-सुधार के लिए अनेक सिफारिशें की गईं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की इन सिफारिशों में एक प्रमुख सिफारिश यह भी थी कि बन्दियों को मुक्त वातावरण में कार्य करने की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए और उन्हें ऐसे रचनात्मक कार्यों में लगाया जाना चाहिए जिससे वे औद्योगिक रूप से प्रशिक्षित हो सकें और कारागार से छूटने के बाद स्वतन्त्र रूप से कोई व्यवसाय करके अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने यह भी कहा कि चूँकि मुक्त बन्दी-संस्थाएँ आधुनिक कारागार-व्यवस्था के विकास में एक प्रमुख चरण हैं अतः इस व्यवस्था को मूर्त रूप प्रदान करने से बड़ी संख्या में बन्दी लाभान्वित हो सकेंगे।

भारत में प्राचीर-विहीन कारागारों की स्थापना

भारत में बन्दियों को मुक्त वातावरण में तथा न्यूनतम देख-रेख एवं पहरेदारी में काम पर लगाना एक प्रयोग के रूप में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में आरम्भ किया गया था। इसके पूर्व बन्दियों को सार्वजनिक निर्माण के कार्यों, जैसे बाँधों का निर्माण, पुलों का निर्माण, नहरों की खोदाई, सड़क बनाना आदि में लगाया जाता था। परन्तु उस समय इस प्रकार के कार्यक्रम के लिए कोई विशिष्ट नियम नहीं बने थे जिनसे बन्दियों के चयन तथा कार्य के स्वरूप को नियन्त्रित किया जा सके। उस समय के अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि अधिकांश बन्दी अपनी प्रदत्त स्वतन्त्रता की दशाओं का उल्लंघन नहीं करते और भागते नहीं हैं।

उत्तर प्रदेश ही वह पहला राज्य है जिसमें 1952 में प्राचीर-विहीन कारागार का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया। इस प्रकार के कारागार का उद्देश्य बन्दियों को सामान्य जीवन की स्वतन्त्रता तथा व्यवसाय प्रदान करके राष्ट्रीय हितों के कार्यों में लगाकर सुधार करना था। बन्दियों को मुक्त करके सुधारने का दर्शन स्वर्गीय डॉ॰ सम्पूर्णानन्द (जो उस समय उत्तर प्रदेश के गृहमन्त्री थे) के उदार मानवतावादी विचारों का फल है। डॉ॰ सम्पूर्णानन्द के ही कार्यकाल में यह विचार कार्यान्वित हुआ और उनके नाम से ही यह मुक्त बन्दी-शिविर अथवा प्राचीर-विहीन कारागार उत्तर प्रदेश में सम्पूर्णानन्द शिविरों के नाम से जाने

जाते हैं ।[1] इस साहसी कदम से यह अनुभव किया गया कि कारागार का कार्य केवल बन्दियों को चहारदीवारी के भीतर ही नहीं रखना है वरन् उनको शिक्षित करके उनका दृष्टिकोण बदलना, उनमें आत्म-सम्मान की भावना जागृत करना और उनके सुधार एवं पुनर्वासन के लिए उनमें रोजी-रोटी कमाने की इच्छा उत्पन्न करना है । इस प्रयोग का प्रारम्भ नवम्बर 1952 में हुआ जब उत्तर प्रदेश के विभिन्न कारागारों से दीर्घकालिक सजा पाये 200 बन्दियों को बनारस से 40 मील दूर चन्द्रप्रभा बाँध के निर्माण के लिए कार्य करने को कहा गया । इन बन्दियों के ऊपर किसी भी प्रकार की चौकीदारी नहीं की गई और उन्हें स्वतन्त्र रूप से रहने तथा कार्य करने की सुविधाएँ प्रदान की गई । इस प्रकार के समस्त बन्दी स्वतन्त्र मजदूर माने गये । इस प्रयोग में सम्मिलित किये गये बन्दियों ने उत्तम आचार-विचार से अपना विश्वास बनाये रखा । इस शिविर की सफलता के ज्वलन्त उदाहरण से इस प्रयोग की पृष्ठभूमि में निहित दर्शन को बल मिला और शीघ्र ही 3 हजार बन्दियों का दूसरा शिविर कर्मनासा नदी के किनारे नौगढ़ में खोला गया । इन दोनों शिविरों के प्रयोगों से प्राप्त अनुभवों तथा परिणामों से यह ज्ञात हुआ कि अधिकांश बन्दी विश्वास नहीं तोड़ते और उत्तरदायित्व समझते हुए कार्य करते हैं । केवल बहुत थोड़ी संख्या में बन्दी इन शिविरों से भाग निकले । उत्तर प्रदेश के इन प्राचीर-विहीन कारागारों तथा शिविरों ने यह सिद्ध कर दिया कि बन्दियों को दण्ड देने के लिए प्राचीर-युक्त कारागार-प्रणाली ही एकमात्र उपाय नहीं है । निरन्तर अनुभवों तथा अनेक प्रयोगों से यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध हो चुकी है कि कारागार-प्रणाली में खुली संस्थाओं का बन्दियों के सुधार तथा पुनर्वासन में एक विशिष्ट स्थान है । सेण्ट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विस ने प्राचीर-विहीन कारागारों के सम्बन्ध में निम्न-लिखित मत व्यक्त किया :

"भारत तथा कई अन्य यूरोपीय देशों में 1950 के उपरान्त सुधारात्मक प्रशासन के क्षेत्र में जो भी महत्वपूर्ण प्रगतियाँ हुई हैं उनमें प्राचीर-विहीन कारागारों की स्थापना भी एक है । इस प्रगति के मूल में बंदियों के अन्दर व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के प्रति जिज्ञासा पैदा करना है । इन संस्थाओं में बंदी उसी प्रकार से स्वच्छंद रहते हैं जैसे बाहर समाज में । इन संस्थाओं में स्वच्छंद जीवन को रोकने वाली दीवालें, ताला-कुंजी तथा सींकचे नहीं होते । इनमें प्रशासन-व्यवस्था मूलतः विश्वास पर निर्भर रहती है । इन संस्थाओं में

1. जेल्स विदाउट वाल्स, पब्लिकेशन ब्यूरो, इनफरमेशन डायरेक्टरेट, उत्तर प्रदेश ।

बंदियों को अन्य कामगरों की भाँति कार्य का पारिश्रमिक दिया जाता है। इन संस्थाओं के वातावरण में बंदी एक ईमानदार कामगर की ही भाँति उत्साहित अनुभव करते हैं, उनमें आत्मसंयम की भावना स्वयं उत्पन्न हो जाती है, वे अपने साथियों के साथ जिम्मेदारी का व्यवहार सीख जाते हैं तथा राष्ट्र-निर्माण-कार्यक्रमों में अपनी अधिकतम क्षमता के अनुसार योगदान देकर अपने को गौरवान्वित महसूस करते हैं।"

उत्तर प्रदेश के बाद देश के अन्य प्रान्तों में भी प्राचीर-विहीन कारागारों की स्थापना की गई। 1970 तक देश भर में निम्नलिखित 18 प्राचीर-विहीन कारागार स्थापित हुए[1] :—

राज्य	प्राचीर-विहीन कारागार का नाम	स्थापना का वर्ष
आंध्र प्रदेश	(1) मौला अली कालोनी, हैदराबाद	1954
	(2) प्रिजनर्स ऐग्रिकल्चरल कालोनी, अनन्तपुर	1965
आसाम	(1) ओपेन एयर ऐग्रिकल्चरल-कम-इंडस्ट्रियल कालोनी, बीरसेरो, जोरहाट	1964
गुजरात	(1) ओपेन प्रिजन, अमरेली	1968
केरल	(1) ओपेन प्रिजन, नेट्टुकेल्थेरी	1962
महाराष्ट्र	(1) ओपेन प्रिजन, यरवदा	1955
	(2) ओपेन प्रिजन, पैठन	1968
मैसूर	(1) ओपेन एयर जेल, कोलघाटी	1968
राजस्थान	(1) प्रिजनर्स ओपेन एयर कैम्प ऐट ऐग्रिकल्चरल रिसर्च फार्म, दुर्गापुर	1955
	(2) श्री संपूर्णानन्द बन्दी शिविर, सांगानेर (जयपुर)	1963
	(3) प्रिजनर्स ओपेन एयर कैम्प, सेन्ट्रल मेकेनाइज्ड फार्म, सूरतगढ़	1964

1. सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज, ओपेन प्रिजन्स इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1973, पृ० 5।

राज्य	प्राचीर-विहीन कारागार का नाम	स्थापना का वर्ष
उत्तर प्रदेश	(1) सम्पूर्णानन्द ऐग्रिकल्चरल-कम-इंडस्ट्रियल कैम्प, सितारगंज, नैनीताल	1960
	(2) सम्पूर्णानन्द कैम्प, पुरमा (मिर्जापुर)	1956
	(3) ओपेन प्रिजन अटैच्ड टु माडल जेल, लखनऊ	1949
हिमाचल प्रदेश	(1) ओपेन एयर जेल, बिलासपुर	1960
तमिलनाडु	(1) ओपेन एयर प्रिजन, सिंगनाल्लूर	1956
	(2) ओपेन एयर प्रिजन अटैच्ड टु सेंट्रल प्रिजन, सालेम	1966
पंजाब	(1) ओपेन एयर ऐग्रिकल्चरल प्रिजन, नाभा	1970

प्राचीर-विहीन कारागारों की विशेषताएँ

प्राचीर-विहीन कारागारों की निम्नलिखित विशेषताएँ इन्हें अन्य प्राचीर-युक्त कारागारों से विभेदित करती हैं :—

(1) इन कारागारों में बंदियों के भाग निकलने की सावधानियाँ उतनी सतर्कता से नहीं बरती जातीं जितनी अन्य सामान्य कारागारों में ।

(2) इन कारागारों में बंदियों पर रखवाली करने के लिए ताले, सींकचे, दीवालें तथा प्रहरी नहीं होते ।

(3) इनमें बंदी अपने समूह के प्रति आत्म-नियंत्रण तथा वैयक्तिक उत्तरदायित्व की भावना रखता है ।

(4) इनमें संवासी विश्वास तथा उत्तरदायित्व के वातावरण में रहते हुए मुक्त श्रमिक की भाँति श्रम करते हैं ।

(5) इनमें बंदियों को उनके श्रम के आधार पर पैसे मिलते हैं ।

(6) इनमें बंदी अपने खाने, रहने तथा अन्य प्रास जरूरी वस्तुओं पर किये गये व्यय का वहन करते हैं ।

(7) इनमें बंदियों तथा कारागार के कर्मचारियों के मध्य सौहार्द के सम्बन्ध बने रहते हैं ।

(8) इनमें बंदियों का सम्पर्क मुक्त समाज से बना रहता है ।

प्राचीर-विहीन कारागारों का भौतिक स्वरूप

भारत के अधिकांश प्राचीर-विहीन कारागार कृषि फार्मों के रूप में स्थापित किये गये हैं जिनका क्षेत्रफल 10 एकड़ से लेकर 50 एकड़ तक का है। कुछ प्रदेशों में, जैसे उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश तथा केरल में, इन कृषि फार्मों का क्षेत्रफल 400 एकड़ से लेकर 600 एकड़ तक का है। इन सभी कृषि फार्मों की बाउण्ड्री दीवाल नुकीले तार से खिंची रहती है। अधिकांशतः इस प्रकार के कारागार नगरों से 5 किलोमीटर से लेकर 40 किलोमीटर की सरहद में बने हुए हैं। इन कारागारों तथा नगर के बीच के यातायात का साधन सड़क है। अधिकांश कारागारों के पास बंदियों को नगर तक ले आने के लिए अपनी जीपें तथा ट्रकें हैं। इन कारागारों में बंदियों के रखने के लिए बैरकें तथा कमरे बने हुए हैं। प्रकाश की व्यवस्था बिजली अथवा गैसों के माध्यम से की जाती है। प्रत्येक कारागार में नल, ट्यूबवेल तथा कुएँ बने हुए हैं। कुछ प्रदेशों के कारागारों में फ्लश के शौचालय भी बने हैं। अन्य प्रदेशों के कारागारों में बंदी खुली जगह पर शौच के लिए जाते हैं।

नियोजता की दशाएँ

इन कारागारों में रखे जाने वाले बंदियों का चयन उनकी आयु, स्वास्थ्य, अपराध की प्रकृति, सजा की अवधि तथा कारागार में प्रदर्शित व्यवहार के आधार पर किया जाता है। 21 वर्ष से लेकर 50 वर्ष तक के वे आकस्मिक बंदी जिन्हें 5 वर्ष से अधिक की कड़ी सजा मिली होती है और जिन्होंने अपनी सजा का 1/3 या 1/4 भाग पूरा कर रखा है, इन कारागारों में भेजे जाने के योग्य समझे जा सकते हैं। वे ही बंदी इन कारागारों में भेजे जाते हैं जिनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य संतोषजनक है और जो कठोर शारीरिक श्रम कर सकते हैं। महिला तथा वे सभी बंदी इन कारागारों में नहीं भेजे जाते जिनको भारतीय दंड-संहिता की धारा 109 तथा 110 (दुष्प्रेरण के अपराध) या धारा 120-क (अपराधिक षड्यंत्र) से लेकर धारा 140 (राज्य के विरुद्ध अपराध), धारा 216 (ऐसे अपराधी को संश्रय देना जो अभिरक्षा से भाग निकला है या जिसको पकड़ने का आदेश दिया जा चुका है), धारा 224 (किसी व्यक्ति के द्वारा विधि के अनुसार अपने पकड़े जाने में प्रतिरोध या बाधा), धारा 225 (किसी अन्य व्यक्ति के विधि के अनुसार पकड़े जाने में प्रतिरोध या बाधा), धारा 231 (सिक्के का कूटकरण), धारा 232 (सिक्के के कूटकरण के लिए उपकरण बनाना), धारा 303 (आजीवन सिद्धदोष द्वारा हत्या), धारा 311 (ठगी के लिए दंडित),

धारा 328 (अपराध करने के आशय से विष इत्यादि द्वारा उपहतिकारक), धारा 376 (बलात्संग के लिए दंडित), धारा 377 (प्रकृति-विरुद्ध अपराध), धारा 382 (चोरी करने के लिए मृत्यु, उपहति या अवरोध कारित करने की तैयारी के पश्चात् चोरी), धारा 389 (उद्दीपन करने के लिए किसी व्यक्ति को अपराध का अभियोग लगाने के भय में डालना), धारा 392 से लेकर 402 तक (लूट और डकैती के अपराध), धारा 460 (प्रच्छन्न गृह-अतिचार जिसमें मृत्यु या घोर उपहति कारित हो) तथा धारा 489 (करेंसी नोटों या बैंक नोटों का कूटकरण) के विरुद्ध अपराध करने का दोषी ठहराया गया हो। उन्हीं बंदियों को इन कारागारों में भेजा जाता है जिनका कारागार का लेखा (जेल रिकार्ड) अच्छा है। वरीयता उन बंदियों को दी जाती है जो या तो कृषक होते हैं या जिन्हें किसी औद्योगिक कार्य अथवा व्यवसाय में दक्षता प्राप्त होती है।

प्राचीर-विहीन कारागारों के कर्मचारी

प्रत्येक कारागार में प्रशासनिक कार्य करने के लिए एक अधीक्षक, एक उप-अधीक्षक तथा एक कार्यालय जेलर की नियुक्ति की जाती है। प्रति 200 बंदियों पर एक जेलर, दो उप-जेलर, या कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की जाती है। बंदियों की रखवाली करने के लिए कम से कम 10 वार्डरों की नियुक्ति की जाती है। लिखा-पढ़ी का कार्य करने के लिए दो या दो से अधिक क्लार्क नियुक्त किये जाते हैं।

प्राचीर-विहीन कारागारों में अनुशासन

इन कारागारों में अनुशासन परामर्श तथा कर्मचारियों द्वारा प्रदर्शित व्यक्तिगत दृष्टांत के द्वारा कायम किया जाता है। बंदियों को उनके कानूनों के न पालन करने के कार्यों के विरुद्ध दी गई चेतावनी, वेतन में कटौती, प्राप्त छूट के दिनों में कटौती, बंद कारागारों में पुनः भेजने के प्राविधानों के माध्यम द्वारा अनुशासन में रखा जाता है।

प्राचीर विहीन कारागारों में बन्दियों को प्राप्त होनेवाली सुविधाएँ

इन कारागारों में रखे गये बन्दियों को मिलनेवाली छूट के दिनों की व्यवस्था बन्द कारागारों से कहीं अधिक उदार होती है। बन्दियों को अपने घर पर कुछ दिनों के लिए जाने की भी छुट्टी उनके द्वारा इन कारागारों में बिताई गई अवधि के आधार पर प्रदान की जाती है। बन्दियों को उनके द्वारा सम्पादित किये गये श्रम के लिए पारिश्रमिक बाजार से मिलनेवाले पारिश्रमिक की दर पर

प्रदान किया जाता है। बन्दी अपने द्वारा प्राप्त पारिश्रमिक की धनराशि का 1/3 भाग जमा करते रहते हैं और इस प्रकार अर्जित समस्त धनराशि उन्हें उनकी मुक्ति के समय प्रदान कर दी जाती है। इस धनराशि का उपयोग वे कोई धन्धा या व्यवसाय प्रारम्भ करने में कर सकते हैं।

प्राचीर-विहीन कारागारों में सुधार करने के हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये सुझाव

सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज ने दो इण्टर-स्टेट स्टडी टीम्स का गठन विभिन्न प्रान्तों में स्थापित प्राचीर-विहीन कारागारों की जाँच करने के लिए 1969 तथा 1973 में किया। इन स्टडी टीम्स ने इन कारागारों में सुधार करने के लिए जो प्रमुख सुझाव दिये वे निम्नलिखित थे[1] :—

(1) खुले कारागारों में उन समस्त बन्दियों को क्रमशः भेजने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए जिनका व्यवहार अच्छा है और जिनकी कारागार से मुक्ति की अवधि नजदीक है।

(2) जहाँ तक सम्भव हो सके खुले कारागारों को बन्दी-सुधार कार्यक्रम संस्थानों के रूप में परिवर्तित करने का प्रयास करना चाहिए। उनका केवल उत्पादन-केन्द्र बने आवश्यक नहीं है।

(3) बन्दियों, उनके परिवार के सदस्यों तथा कारागार-कर्मचारियों के लिए प्रत्येक कारागार में बाजार, स्कूल तथा निवास-स्थानों की पर्याप्त सुविधाएँ होनी चाहिए।

(4) बन्दियों की आवास-सुविधाओं को सन्तोषजनक बनाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

(5) प्रत्येक खुले कारागार में बन्दियों के लिए परामर्श तथा निर्देशन सेवाओं की व्यवस्था रहनी चाहिए। प्रत्येक ऐसे कारागार में 100 बंदियों के ऊपर कम से कम एक कल्याण-अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(6) प्रत्येक शिविर में बिजली, रोगी-वाहन तथा एक जीप की व्यवस्था होनी चाहिए।

(7) बंदियों को उनके द्वारा किये गये श्रम के लिए बाजार के रेट पर पारिश्रमिक मिलना चाहिए तथा उनके वेतन से उनके खाने तथा रहने पर

---

1. सेंट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज, ओपेन प्रिजन्स इन इंडिया (नई दिल्ली : 1970), पृ० 101-102।

कारागार द्वारा किये गये व्यय को काट लेना चाहिए। अपनी बचत का 50 प्रतिशत भाग बंदियों को खर्च करने के लिए दिया जाना चाहिए और शेष 50 प्रतिशत भाग बचत में जमा कर दिया जाना चाहिए। प्रत्येक बंदी का बैंक में या डाक घर में खाता खुला रहना चाहिए।

(8) राज्य के उद्योग विभाग को यह दायित्व सौंपा जाना चाहिए कि वह खुले कारागारों में उद्योग धन्धे उचित रूप में नियोजित करने में कारागार प्रशासन का हाथ बटाएँ।

(9) खुले कारागारों में अनेक प्रकार की रोजगार प्रशिक्षण सेवाएँ स्थापित की जानी चाहिए।

(10) बंदियों के खुले कारागारों से भागने की घटनाओं को सहिष्णुतापूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए।

(11) प्रत्येक राज्य के खुले कारागारों में सुधार सेवा, केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड द्वारा निर्धारित आदर्श नियमों को लागू किया जाना चाहिए।

(12) खुले कारागारों से मुक्त बन्दियों की उत्तर-रक्षा के उचित एवं व्यापक कार्यक्रम प्रारम्भ किये जाने चाहिए।

(13) बन्दियों के सन्तोषपूर्ण पुनर्वासन के हेतु पूर्व-मुक्ति शिविरों की स्थापना की जानी चाहिए।

(14) बन्दियों को जहाँ सम्भव हो सके, न्यूनतम देख-रेख में औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधा दी जानी चाहिए।

(15) जिन राज्यों में खुले कारागारों की स्थापना अभी तक नहीं की गई है उनको केन्द्रीय सरकार द्वारा यह आदेश दिया जाना चाहिए कि वे प्रयोगात्मक आधार पर कम से कम एक खुला कारागार स्थापित करें।

●

अध्याय 10

कारागार समुदाय

प्रस्तावना

यद्यपि 'समुदाय' शब्द का प्रयोग समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में बहुत समय से होता आ रहा है परन्तु कारागार जैसी सम्पूर्ण संस्था (टोटल इन्स्टिट्यूशन) के सन्दर्भ में इसका प्रयोग अभी कुछ वर्ष ही पुराना है। "कारागार समुदाय" के प्रत्यय का ऐतिहासिक वर्णन करते हुए कार्न एवं मैकाकिल ने लिखा कि यद्यपि कारागार के सम्बन्ध में लिखी जाने वाली पुस्तकों की परम्परा करीब 300 वर्षों से भी पुरानी है परन्तु कारागार समुदाय का वैज्ञानिक अध्ययन एक शताब्दी से भी कम वर्षों का है।[1] 1940 से पहले कारागारों के जीवन की कोई समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की गई। 1940 में डोनाल्ड क्लेमर ने अमरीका की इलीन्वाय जेल का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन किया। क्लेमर ने 1940 में अपनी बहुचर्चित पुस्तक दि प्रिजन कम्युनिटी प्रकाशित की और यह बताया कि कारागारों के अन्दर बन्दियों का जो एक समुदाय बनता है उसमें वे सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो बाहर के मुक्त समुदायों के सामाजिक जीवन को बताती हैं।[2] 1950 के बाद एक दर्जन से अधिक अमरीकी तथा ब्रिटिश समाजशास्त्रियों ने कारागारों के सामाजिक संगठन का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया। साइक्स,[3] क्रेसी,[4]

1. रिचर्ड आर० कार्न ऐन्ड लायड डब्ल्यू मैकाकिल, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1959), पृ० 512।
2. डोनाल्ड क्लेमर, दि प्रिजन कम्युनिटी (न्यूयार्क : 1940)।
3. ग्रेशम एम० साइक्स, दि सोसाइटी आफ कैप्टिव्स (प्रिन्स्टन : 1958)।
4. डोनाल्ड आर० क्रेसी, दि प्रिजन : स्टडीज इन इन्स्टिट्यूशनल आर्गनाइजेशन ऐंड चेन्ज (न्यूयार्क : 1961)।

क्लेयर,[1] ओह्लिन,[2] फाक्स[3] तथा मारिस एवं मारिस[4] ने कारागारों के अन्तर्गत पाए जाने वाले बन्दी समुदायों के अनौपचारिक सामाजिक संगठन की गतिविधियों, नियमों, निर्देशों तथा सामाजिक जीवन की विशेषताओं का विशद वर्णन प्रस्तुत किया। परन्तु इन सबके बावजूद कारागार समुदाय के प्रत्यय की स्पष्ट व्याख्या नहीं हो पाई।

कारागार समुदाय के प्रत्यय की व्याख्या

कम्युनिटी (समुदाय) शब्द की अनेक परिभाषाएँ समाजशास्त्रीय साहित्य में उपलब्ध हैं और सम्भवतः इस शब्द की कोई स्पष्ट व्याख्या अभी तक इसलिए नहीं हो पाई है क्योंकि विभिन्न समाजशास्त्री इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार से करते आए हैं। हिलरी ने इसे एक बहु-प्रयोजनीय शब्द बताया।[5] पापलिन ने कहा कि समुदाय शब्द एक ऐसा मनमोहक शब्द है जिसे अनेक सन्दर्भों में सरलता से प्रयोग कर दिया जाता है।[6] समाजशास्त्रियों ने इस शब्द का प्रयोग प्रमुखतः तीन प्रकार से किया है।[7] प्रथम, इसका प्रयोग एक पर्यायवाची की भाँति कारखानों, मजदूरों संघों, निगमों तथा व्यवसायों को वर्णित करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी इसे कारागारों, मानसिक चिकित्सालयों, सेना तथा धार्मिक सम्प्रदायों के व्यक्तियों के संगठित समूहों के सन्दर्भ में भी प्रयोग किया जाता है।[8] द्वितीय, इसका प्रयोग नैतिक एवं आध्या-

---

1. इ०जे० क्लेयर, दि आनाटोमी आफ प्रिजन (बाल्टीमोर : 1962)।
2. ओह्लिन, दि सोशयालोजी इन दि फील्ड आफ करेक्शन (न्यूयार्क : 1956)
3. लियोनेल फाक्स, दि इंगलिश प्रिजन ऐन्ड बार्स्टल सिस्टम (लंदन : 1952)
4. टेरेन्स मारिस ऐन्ड पालिन मारिस, पेन्टोनवाइल : ए सोशियालोजिकल स्टडी आफ ऐन इंगलिश प्रिजन (लंदन : 1963)।
5. जार्ज ए० हिलरी, "विलेजेज, सिटीज ऐन्ड टोटल इन्स्टिट्यूशन्स", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 28, अक्टूबर 1963, पृ० 779।
6. डेनिस ई० पापलिन कम्यूनिटीज—ए सर्वे आफ थ्योरीज ऐन्ड मेथड्स आफ रिसर्च (न्यूयार्क : 1972), पृ० 4–5।
7. डेविड डब्ल्यू० मीनार ऐन्ड स्काट ग्रीन, कानसेप्ट आफ कम्युनिटी : रीडिंग्स ऐन्ड इन्टरप्रिटेशन्स (शिकागो : 140)।
8. इरविंग गाफमैन, "दि कैरेक्टरिसटिक्स आफ टोटल इंस्टीट्यूशन्स" इन दि सिम्पोजियम आन प्रिवेन्टिव ऐन्ड सोशल साइकेट्री (वाशिंगटन : 1948), पृ० 43–84।

स्मिक घटनाओं को वर्णित करने में किया जाता है क्योंकि विश्व भर में कुछ लोग एक ऐसे विश्व समुदाय की खोज में लगे हैं जिसका उद्देश्य मानवीय एकता के आधार पर नैतिक विकास की विधियाँ खोजना है।[1] तृतीय, इसका प्रयोग सामाजिक जीवन के उन खण्डों को वर्णित करने में किया जाता है जिन्हें हम पुरवा, गाँव, नगर तथा महानगर कहते हैं।[2] साधारण रीति से विश्व भर के समाजशास्त्री इस शब्द का प्रयोग उन सामाजिक जीवन के उपखण्डों को वर्णित करने में करते हैं जिनका वर्णन अभी ऊपर किया गया है।

समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई अनेक परिभाषाओं में समुदाय की विशिष्टताओं के बारे में एकमतता का अभाव अवश्य है परन्तु फिर भी जिन प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख समुदाय शब्द की व्याख्या में सामान्यतः किया जाता है वे निम्नलिखित हैं :—

(1) अंतर्सम्बंधित तथा अंतर्निर्भर लोगों का एक ऐसा समूह जिसमें (क) रुचियों तथा उद्देश्यों की एकरूपता बड़ी सीमा तक पाई जाती है, (ख) जिसके प्रमुख मामलों तथा विचारणीय प्रश्नों पर एकमतता होती है, (ग) जिसमें साधनों तथा विधियों में तादात्म्य होता है, (घ) जिसमें लोगों के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के ढंग एक जैसे होते हैं, (ङ) जिसमें मूल्यों, व्यवहार-प्रकारों तथा परम्पराओं के प्रति एक जैसा लगाव होता है, (च) जिसमें मानवीय सम्बन्ध एक दूसरे के प्रति लगाव की भावना पर आधारित होते हैं, (छ) जिसमें एक साथ सहयोगपूर्वक कार्य करने की लोगों में इच्छा होती है, (ज) जिसमें लोग अपने को एक दूसरे से संलग्न अनुभव करते हैं तथा (झ) जिसमें लोग एक दूसरे के प्रति अधिकार तथा कर्तव्यों का सन्तुलन बनाये रखने की चेष्टा करते रहते हैं।

(2) लोगों का एक ही निश्चित भूभाग में रहना तथा

(3) लोकप्रिय रूप से स्वीकृत नेतृत्व का होना तथा व्यवहार-नियंत्रण के सामुदायिक रूप से अनुमोदित साधनों पर एकमतता।

---

1. राबर्ट ए० निस्बेत, "मारल वैलूज ऐण्ड कम्युनिटी", इन्टरनैशनल रिव्यू आफ कम्युनिटी डेवलपमेंट, वाल्यूम 5, अक्टूबर, 1960, पृ० 82।

2. जार्ज ए० हिलरी, "डेफिनिशन्स आफ कम्युनिटी : एरियाज आफ ऐग्रीमेंट", रूरल सोशियालोजी वाल्यूम, 20 जून 1955, पृ० 118।

जब भी कारागार की परिधि में अवरुद्ध व्यक्तियों के समूह की व्याख्या एक समुदाय के रूप में की जाती है तब इतना ध्यान अवश्य रखा जाता है कि कारागार का सामाजिक जीवन मुक्त समाजों से चूँकि भिन्न होता है अतः समुदाय की विशेषताएँ इस विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में थोड़ी बदल अवश्य ही जाती हैं परन्तु मूलतः उनकी प्रकृति मुक्त समुदायों की ही भाँति रहती है। ग्रासर ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा कि एक सामाजिक संगठन के रूप में कारागार को समाज के एक सेवा-संस्थान के रूप में देखना चाहिए।[1] गिल ने कारागार को एक समुदाय मानकर इसकी तुलना मुक्त समुदायों से की और यह कहा कि प्राचीरों से घिरा कारागार समुदाय खुले अथवा प्राचीर-विहीन समुदायों से कई मामलों में मिलता-जुलता है।[2] गिल के मत से कारागार समुदाय अंतःसम्बंधित तथा अंतःनिर्भर व्यक्तियों का समूह है। हेनर तथा ऐश ने अपने तीन लेखों[3] में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कारागारों के संवासी अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सैनफोर्ड्स बेट्स ने कहा कि बंदी एक दूसरे के प्रति वफादार रहते हैं।[4] हेनरी ई० फील्ड ने कहा कि सभी बंदी सामूहिक वफादारी की भावना से ओतप्रोत होकर एक दूसरे से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं।

क्लेमर ने समुदाय की दूसरी विशिष्टता—एक निश्चित भूभाग में निवास

---

1. जार्ज एच० ग्रासर, "एक्सटरनल सेटिंग ऐंड इन्टरनल रिलेशन्स आफ दि प्रिजन", इन दि थ्योरेटिकल स्टडीज आन प्रिजन (न्यूयार्क : 1971), पृ० 130।
2. हावर्ड बी० गिल, "ह्वाट इज ए कम्युनिटी प्रिजन", दि प्रिजन सर्विस जरनल, 6 अक्टूबर 1969, पृ० 2-7।
3. नारमन एस० हेनर ऐंड इलिश ऐश, (i) "प्रिजनर कम्युनिटी ऐज ए सोशल ग्रुप", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 4, जून 1939, पृ० 362-69; (ii) "प्रिजन ऐज ए कम्युनिटी", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 5, अगस्त 1960, पृ० 577-83 तथा (iii) "दि प्रिजन कम्युनिटी", दि कनेडियन जरनल आफ करेक्शन्स, वाल्यूम 6, जुलाई 1964, पृ० 32-34।
4. हेनरी ई० फील्ड, "दि ऐटीट्यूड आफ प्रिजनर्स ऐज फैक्टर इन रीहैबिलिटेशन", ऐनल्स आफ दि अकादमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइसेन्ज (न्यूयार्क 1951), पृ० 175।

करने वाले व्यक्तियों का समूह—के मामले पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इस प्रकार की बहस करने का कोई प्रयोजन नहीं है जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि कारागार समुदाय एक निश्चित भूभाग में बसे होते हैं। उनके मत से कारागार सेवा का एक क्षेत्र है जो एक निश्चित परिधि में अपना कार्य सम्पादित करता रहता है।[1]

कारागारों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने वाले विद्वानों ने मुक्त समुदायों की उस विशेषता को कारागार समुदायों में प्रचुरता से प्राप्त होना बताया जिन्हें एकमतता, समरूपता, सामान्यता, तादात्म्य, सामाजिक सम्बन्धों में पारस्परिकता तथा 'हम' भावना के रूप में जाना जाता है। ग्रासर ने कहा कि बंदी समाज के सभी सदस्य एक ही प्रकार के मूल्यों, नियमों, परम्पराओं तथा आदर्शों को स्वीकार करते हैं और ये आदर्श कारागार के औपचारिक संगठन के नियमों से भिन्न होते हैं।[2]

साइक्स तथा मेसिन्जर ने यह कहा कि कारागार समुदाय के अधिकांश सदस्य एक ही व्यवहार-संहिता का पालन करते हैं, एक दूसरे के हितों की पूर्ति में हस्तक्षेप नहीं करते हैं, संवासी एकता को बनाये रखने का भरसक प्रयत्न करते हैं कारागार के कर्मचारियों का विरोध करने के लिए सामूहिक रूप से तत्पर रहते हैं, अन्य साथी बंदियों के गुप्त कार्यों का पर्दाफाश नहीं करते हैं, एक दूसरे का शोषण करने में झिझकते हैं तथा कठोर श्रम एवं कारागार के नियमों का पालन करने में चतुरतापूर्वक बेईमानी करने का प्रयत्न करते हैं।[3]

बेलफोर्ड ने यह कहा कि कारागारों के अधिकांश संवासी "संवासी व्यवहार संहिता" में अपना विश्वास रखते हैं और इसी विश्वास के कारण एक जैसी रुचियाँ, आदतें तथा व्यवहार प्रतिपादित करते हैं।[4] डेविड स्ट्रीट ने कहा

---

1. डोनाल्ड क्लेमर, पूर्वोल्लिखित, पृ० 85।
2. जार्ज एच० ग्रासर, पूर्वोल्लिखित, पृ० 132।
3. ग्रेशम एम० साइक्स ऐण्ड शेल्डन एल० मेसिन्जर, "दि इनमेट सोशल सिस्टम", इन दि थ्योरेटिकल स्टडीज इन सोशल आर्गनाइजेशन आफ दि प्रिजन, पूर्वोल्लिखित, पृ० 5-19।
4. चार्ल्स बेलफोर्ड, "फैक्टर्स असोशियेटेड विद दि ऐडाप्शन आफ इनमेट कोड : ए स्टडी आफ नार्मेटिव सोशलाइजेशन", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 58, जून 1967, पृ० 197-203।

कि कारागार के बंदियों में सम्बन्धों का स्वरूप प्राथमिक समूहों के सम्बन्धों की भाँति होता है और जिसमें सभी सदस्य एक जैसे अनुभव तथा गुण एवं दुर्गुण रखते हैं।[1] क्लेमर ने इसी तथ्य पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा कि बंदी अपनी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, भौतिक तथा अपराधिक मनोवृत्ति के आधार पर एक दूसरे से बहुत अधिक मिलते हैं।[2] राफ्ट ने क्लेमर की बात का ही अनुमोदन करते हुए कहा कि बंदी एक जैसे जीवन के अनुभव रखते हैं, सभी ने अपराध किया है तथा सभी समाज के प्रति डर तथा घृणा की भावना रखते हैं।[3] स्ट्रीट ने बंदियों की इसी एक जैसी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पृष्ठिभूमि को कारागार समुदाय में बनने वाले गुटों तथा समूहों का प्रमुख कारण माना। इन्हीं बंदी गुटों तथा समूहों के द्वारा बंदी समाज की संरचना होती है।[4]

क्लेमर ने कारागार समुदाय के सदस्यों में पाई जाने वाली "हम भावना" की व्यवस्था करते हुए लिखा कि बंदी समाज सम्मिलित रूप से उन रुचियों को प्रदर्शित करता है जिससे उनकी एकता तथा 'हम' की भावना बढ़ती रहती है। आपस में होने वाले झगड़े, भेदभाव, वैमनस्य तथा प्रतिस्पर्धा की भावनाएँ उनकी सामूहिक एकता को समाप्त नहीं कर पाती हैं।[5] क्रेसी ने कहा कि हर सामूहिक संगठन की भाँति कारागार समुदाय के गुटों एवं समूहों में लड़ाई-झगड़े, प्यार तथा घृणा-प्रदर्शन की घटनाऐं होती ही रहती हैं परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कारागार एक सामाजिक युद्धस्थल में बदल जाता है।[6]

सम्प्रदायों की अन्तिम विशेषता लोकप्रिय रूप से स्वीकृत नेतृत्व को कारागार समुदाय में खोजने वाले विद्वानों ने यह पाया कि मुक्त समुदायों की ही भाँति कारागारों में भी कुछ ऐसे बंदी अवश्य पाये जाते हैं जिनमें नेतृत्व करने के गुण

---

1. डेविड स्ट्रीट "दि इनमेट ग्रुप इन कस्टोडियल एण्ड ट्रीटमेंट सेटिंग्स", दि अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 30, फरवरी 1965; पृ० 40-55।
2. डोनाल्ड क्लेमर, पूर्वोल्लिखित, पृ० 87।
3. डोनाल्ड आर० राफ्ट, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1956), पृ० 509।
4. डेविड स्ट्रीट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 42।
5. डोनाल्ड क्लेमर, पूर्वोल्लिखित, पृ० 85।
6. डोनाल्ड आर० क्रेसी, दि स्टडीज इन इन्स्टिट्यूशनल आर्गनाइजेशन ऐन्ड चेन्ज, पूर्वोल्लिखित, पृ० 2–3।

होते हैं और जो नेतृत्व की भूमिका स्वतः प्राप्त कर लेते हैं ।[1] कारागार में बंदियों की अगुवाई तथा उनके नेतृत्व का कार्य सम्पादन करने वाले कुछ बन्दी उसी प्रकार के वैयक्तिक गुण रखते हैं जो मुक्त समाज के नेताओं में पाए जाते हैं । साम, दाम, दंड एवं भेद की नीति बंदी नेता भी अपने समर्थक बनाने में उसी प्रकार से करते हैं जिस प्रकार से मुक्त समुदायों के नेतागण अपने दैनिक जीवन में करते रहते हैं ।[2] ग्रुस्की ने इस नेतृत्व की घटना की उत्पत्ति को कारागार के वातावरण में एक सहज प्रक्रिया माना ।[3]

बंदी नेता बाहर के नेताओं की ही भाँति बड़ी संख्या में अपने चमचे तथा गुर्गे रखते हैं और उन्हीं के सहारे अन्य बंदियों पर कारागार के कर्मचारियों की ही भाँति रोबदाब का शासन चलाते हैं । कारागारों में वे ही बंदी नेता बनते हैं जो लम्बी सजा पाए हुए होते हैं, जो बहुत वर्षों से उसी कारागार में रह रहे हैं, जिन्होंने गंभीर अपराध किए हैं और जो स्वभाव से अपराधी हैं । इन बन्दी नेताओं का काम अन्य बंदियों को भड़काना, उनका शोषण करना तथा अपने पैर छूने वालों का भला करना होता है ।[4]

निष्कर्ष

कारागार समुदायों की उपर्युक्त वर्णित विशेषताओं तथा उनकी मुक्त समुदाय से तुलना के प्रयत्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि कारागारों में बंदियों का सामूहिक जीवन उसी प्रकार से चलता है जैसे बाहर के उन समुदायों में जिनके व्यक्ति स्वतन्त्र हैं और जिनके चारों ओर दीवारें, ताले, सींकचे तथा प्रहरी नहीं फैले हुए हैं । दोनों प्रकार के समुदायों की इन समानताओं के आधार

---

1. डोनाल्ड क्लेमर "लीडरशिप फेनामेना इन ए प्रिजन कम्युनिटी", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐण्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 28, मार्च–अप्रैल 1938, पृ० 861–872 ।
2. क्लारेन्स श्रेग, "लीडरशिप अमंग प्रिजन इनमेट्स", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 29, फरवरी 1954, पृ० 37–42 ।
3. आसकर ग्रुस्की, "आर्गनाइजेशन ऐन्ड बिहेवियर आफ इनफारमल लीडर्स", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 55, जुलाई 1955 ।
4. मारिस जी० काल्डवेल, "ग्रुप डाइनैमिक्स इन दि प्रिजन कम्युनिटी", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 46, जनवरी-फरवरी 1956, पृ० 654 ।

पर वर्तमान अपराध एवं दण्डशास्त्री कारागारों को समुदाय की संज्ञा प्रदान करने लगे हैं जबकि, जैसा कि टाफ्ट ने कहा, सैद्धांतिक रूप से यह अभिव्यक्ति पूरी तरह से सही नहीं है।[1] कारागार समुदाय के प्रयत्न को स्वीकृत कराने का प्रयत्न उन सभी पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के द्वारा 1940 के बाद से किया जा रहा है जिन्होंने कारागारों की अनौपचारिक सामाजिक व्यवस्था पर वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किये हैं।



1. डोनाल्ड आर० टाफ्ट, पूर्वोल्लिखित, पृ० 428।

अध्याय 11

परिवीक्षा

प्रस्तावना

परिवीक्षा बीसवीं शताब्दी के मानववादी दर्शन की एक प्रमुख उपलब्धि है। अपराधी-सुधार एवं अपराधियों के सामाजिक-आर्थिक पुनर्वासन की यह वह विधि है जिसमें दण्ड के सुधारात्मक सिद्धांत को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। प्रथम बार आकस्मिक रूप से साधारण अपराध करनेवाले व्यक्तियों को प्रायश्चित्त कराने तथा उन्हें स्वयं सुधरने के लिए एक अवसर प्रदान करने की यह वह विधि है जिसे आधुनिक दण्डशास्त्री दण्ड के सुधारवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण युक्ति मानते हैं। अपराधी व्यक्तियों के चारित्रिक पुनर्निर्माण की यह वह विधि है जिसमें यह स्वीकार किया जाता है कि मानव अपनी त्रुटियों तथा चारित्रिक दोषों को स्वयं सुधार सकने की क्षमता रखता है और यदि उसे उचित परामर्श एवं मार्ग-निर्देशन की सुविधाएँ उपलब्ध की जाएँ तो इस बात की पूरी सम्भावना है कि वह अपने को सामाजिक तथा वैधानिक नियमों के अनुरूप समायोजित कर सकता है। अन्त में, परिवीक्षा वह विधि है जिसका विकास-कारावास प्रणाली में पाये जानेवाले दोषों से उन अपराधियों को बचाना है जो स्वभाव से अपराधी नहीं हैं और जिन्हें कुछ समय तक व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित सुधार-कार्यकर्ताओं की देखरेख में रखकर सुधारने का प्रयत्न किया जा सकता है।

परिवीक्षा इस प्रकार अपराधियों के सुधार की एक वह आधुनिक विधि है जिसका उद्भव एवं विकास आधुनिक युग के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में हुआ है। अपराधिक नीति के इतिहास में परिवीक्षा एवं इससे सम्बन्धित अन्य विधियाँ उस विचारधारा का एक अभिन्न अंग बन गई हैं जो अपराध-निरोध के क्षेत्र में दण्डात्मक एवं दमनात्मक साधनों को स्वीकार नहीं करती तथा जो

प्रतिरोध एवं प्रतिशोध की सहज मानवीय भावनाओं को मानववादी तथा उपयोगितावादी विचारों में परिणित करने का प्रयत्न करती है। अपराध-निरोध तथा अपराधी-सुधार के क्षेत्र में पाई जानेवाली यह नवीन दिशा अपराध की घटनाओं को सामाजिक दशाओं में परिवर्तन करके तथा सामाजिक सेवाओं का विस्तार करके रोकने का प्रयत्न करती है। इसके साथ ही साथ यह दिशा उस दर्शन की मान्यताओं को स्वीकार करती है जिसमें अपराधी के सामाजिक पुनर्वासन को अपराधिक नीति का एक प्रमुख लक्ष्य मानकर सुधार के साधनों का चयन एक बौद्धिक प्रक्रिया के आधार पर किया जाता है।

परिवीक्षा की उत्पत्ति एवं विकास का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण

यद्यपि परिवीक्षा पर अपराधियों की मुक्ति की विधि बहुत बड़ी सीमा तक दण्ड-विहीन सुधार की विधि है परन्तु फिर भी इसका जन्म और विकास उस वैधानिक व्यवस्था के ढांचे में हुआ जो मूलतः दंडात्मक है। 16वीं शताब्दी में इंगलैण्ड की लोक-विधि में परिवीक्षा के जन्म का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब वहाँ के न्यायाधीश कुछ विशेष प्रकार के अपराधियों को चर्च द्वारा निर्धारित शरण-स्थानों पर इसलिए भेज दिया करते थे क्योंकि उनको यह संदेह होता था कि आहत तथा क्षत व्यक्ति के परिवार के सदस्य या उसके मित्र अभियुक्त से बदला ले सकते हैं। अपराधियों की मुक्ति की यह विधि उन अपराधियों के लिए प्रयोग में लाई जाती थी जिन्हें "पादरी की कृपा का लाभ" प्रदान किया जाता था।

अपराधियों के दंड-स्थगन की यह परम्परा कालांतर में सप्रतिबंध दंड-स्थगन की एक आंग्ल-अमरीकी न्यायिक युक्ति के रूप में विकसित हुई। जिस अर्थ में आज हम परिवीक्षा को स्वीकार कर रहे हैं उसकी उत्पत्ति यद्यपि इंगलैण्ड में हुई परन्तु उसका विकास केवल अमरीका में ही हुआ। अमरीका ही वह देश है जिसे यह श्रेय प्रदान किया जाता है कि वहाँ से ही परिवीक्षा का आधुनिक स्वरूप विकसित हुआ। बोस्टन नगर के जूतों के एक व्यापारी जान आगस्टस को परिवीक्षा का जनक माना जाता है। उन्होंने 1941 में बोस्टन की अदालतों से उन बंदियों को अपनी जमानत पर छुड़वाया जिन्हें शराबी होने के लिए दंड दिया गया था। अपनी 17 वर्ष की सेवा-अवधि में आगस्टस ने 1,152 पुरुष तथा 794 महिला अपराधियों की जमानत लेकर मुक्ति कराई और उन्हें अपनी देख-रेख में रखकर सुधारने का सफल प्रयोग किया। आगस्टस के प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि बहुत से अपराधी अपने जमानतदार के विश्वास को बनाये रखते

हैं और उसके द्वारा कही गई बातों का पालन करते हैं। आगस्टस के इस प्रयोग से प्रभावित होकर 1878 में एक ऐसा अधिनियम पारित हुआ जिसमें बोस्टन नगर की अपराधिक अदालतों में एक अवैतनिक परिवीक्षा-अधिकारी की नियुक्ति का प्राविधान किया गया था। 1891 में मेसाचुसेट्स राज्य में परिवीक्षा सम्बन्धी दूसरा अधिनियम पारित किया गया जिसमें यह प्राविधान किया गया कि राज्य भर के समस्त अपराधिक न्यायालयों में परिवीक्षा अधिकारियों की नियुक्ति करके परिवीक्षा-सेवाओं का विस्तार किया जायेगा। 1899 में शिकागो नगर में बाल न्यायालय की स्थापना की गई और अमरीका के अधिकांश राज्यों में ऐसे परिवीक्षा अधिनियम पारित किये गये जिनमें विशिष्ट प्रकार के साधारण तथा आकस्मिक अपराधियों को परिवीक्षा पर न्यायालय द्वारा निर्धारित प्रतिबंधों का पालन करने के आश्वासन के नियम बने हुए थे। इंगलैण्ड में पहली बार 1905 में बाल अपराधियों की परिवीक्षा पर मुक्ति का प्राविधान किया गया और 1907 में परिवीक्षा अधिनियम पारित किया गया। आगे आने वाले वर्षों में विश्व के अनेक देशों ने अमरीका तथा इंगलैण्ड के प्रयोग से प्रभावित होकर परिवीक्षा अधिनियम पारित किये और परिवीक्षा-सेवाओं का विस्तार किया। आज विश्व के समस्त देशों में परिवीक्षा पर अपराधियों की मुक्ति की युक्ति को बड़ी ही आशा की दृष्टि से स्वीकार किया जा रहा है और इसे अपराधी-सुधार के आंदोलन की एक प्रमुख कड़ी माना जा रहा है।

परिवीक्षा की परिभाषा

(1) **अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसिएशन**—परिवीक्षा की परिभाषा एक दंडाज्ञा, एक व्यवस्था तथा एक प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है। एक दंडाज्ञा के रूप में परिवीक्षा एक ऐसी न्यायिक विधि का बोध कराती है जिसमें प्रतिवादी के वैधानिक स्तर को इस प्रकार से स्थापित किया जाता है जिससे वह परिवीक्षा के संगठन के द्वारा सम्पादित पर्यवेक्षण की न्यायालय द्वारा निर्धारित दशाओं में रहकर समुदाय में स्वतन्त्र व्यक्ति की भाँति अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। एक व्यवस्था के रूप में परिवीक्षा एक ऐसा सेवा-संस्थान है जिसका कार्य न्यायालय को सहायता पहुँचाना तथा अपराधिक न्याय-प्रशासन की सेवाओं का कार्यान्वयन करना है। एक प्रक्रिया के रूप में परिवीक्षा सजा के पहले की गई न्यायिक जाँच-पड़ताल तथा न्यायालय द्वारा मुक्त

किए जाने के उपरान्त उस व्यक्ति के सामुदायिक पर्यवेक्षण की एक विधि है।[1]

(2) नेशनल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल ऐसोसिएशन आफ अमेरिका[2]—आधुनिक न्यायालयों द्वारा प्रयोग में लाई गई परिवीक्षा की विधि सिद्धदोष अपराधी के पुनर्वास की ऐसी विधि है जिसमें उसे कारागार तथा सुधार-संस्था में न भेजकर पुनः समाज में परिवीक्षा-अधिकारी के पर्यवेक्षण के अन्तर्गत किसी निश्चित अवधि तक रहने और कार्य करने के आश्वासन पर न्यायालय द्वारा मुक्त कर दिया जाता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह न्यायालय द्वारा निर्धारित व्यवहार-प्रतिमानों का भली भांति पालन करके अपने को सुधारेगा।

(3) सदरलैण्ड ऐन्ड क्रेसी—वैधानिक दृष्टिकोण से परिवीक्षा दंडाज्ञा के निलंबन की एक विधि है जिससे सिद्धदोष अपराधी को उत्तम आचार-व्यवहार बनाए रखने के आश्वासन पर समुदाय में स्वतंत्र अवस्था में रहने का एक अवसर प्रदान किया जाता है।[3]

(4) वाल्टर सी० रेकलेस—एक सिद्धदोष अपराधी के लिए परिवीक्षा दण्ड-निलम्बन की वह विधि है जो उसे न्यायालय द्वारा प्रदान किया जाता है।[4]

लीविस डायना ने परिवीक्षा की अनेक परिभाषाओं का विश्लेषण करने के उपरांत यह पाया कि इन परिभाषाओं में परिवीक्षा के अर्थ को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जाता है[5]—(1) परिवीक्षा : एक दण्ड-निलम्बन

---

1. अमेरिकन करेक्शनल असोसियेशन, मैनुअल आफ करेक्शनल स्टैंडर्ड्स (वाशिंगटन : 1966), पृ० 98–99।
2. नैशनल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल असोसिएशन आफ अमेरिका, सर्वे आफ रिलीज प्रोसीजर, वाल्यूम 2, प्रोबेशन (वाशिंगटन : 1962), पृ० 1–2।
3. एडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, प्रिन्सिपल्स आफ क्रिमिनालोजी (इंडियन एडिशन, बम्बई : 1968), पृ० 421–422।
4. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम (इंडियन एडिशन, बम्बई 1967)।
5. लीविस डायना, "ह्वाइट इज प्रोबेशन", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 51, जुलाई–अगस्त, 1960, पृ० 189–204।

की वैधानिक युक्ति के रूप में, (2) परिवीक्षा : एक कानूनी रियायत की विधि के रूप में (3) परिवीक्षा : एक दण्ड की विधि के रूप में (4) परिवीक्षा : एक प्रशासनिक प्रक्रिया के रूप में तथा (5) परिवीक्षा : एक वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधि के रूप में ।

(1) परिवीक्षा : दंड-निलम्बन की वैधानिक युक्ति के रूप में

वैधानिक शब्दावली में परिवीक्षा दण्ड-निलम्बन की ऐसी विधि है जिसमें न्यायालय की दंडाज्ञा को एक निश्चित समय तक के लिए कार्यान्वित होने से रोक दिया जाता है। इस अवधि को सिद्धदोष अपराधी को दिए गए एक ऐसे अवसर के रूप में देखा जाता है जिसमें वह अपने व्यवहार को सुधार सके। इस अवधि में यह देखा जाता है कि क्या अपराधी परिवीक्षा पर की गई मुक्ति से लाभान्वित हो पा रहा है या नहीं।

(2) परिवीक्षा : एक कानूनी रियायत की विधि के रूप में

सामान्य जनता (तथा कभी-कभी परिवीक्षा पर मुक्त किए गए सिद्धदोष अपराधी भी) परिवीक्षा को एक कानूनी रियायत की विधि के रूप में देखते हैं जिसमें न्यायालय द्वारा अपराधी ठहराये गये कुछ सिद्धदोषियों को सजा भुगतने से बचा लिया जाता है। सामान्य जनता परिवीक्षा को एक न्यायिक मृदुलता के रूप में इसी कारण देखती है।

(3) परिवीक्षा : एक दण्ड की विधि के रूप में

परिवीक्षा को कुछ अपराधशास्त्री एक ऐसी दण्ड-विधि के रूप में देखते हैं जिसमें परिवीक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति को एक तरफ तो कारागार जाने से बचाया जाता है परन्तु दूसरी तरफ उसके ऊपर कुछ ऐसी दण्डात्मक शर्तें लगा दी जाती हैं जिनका पालन न करने पर उसे अपनी पूरी सजा कारावास जाकर काटनी पड़ती है।

(4) परिवीक्षा : एक प्रशासनिक प्रक्रिया के रूप में

परिवीक्षा अपराधियों को सुधारने वाली प्रशासनिक व्यवस्था की एक ऐसी विधि है जिसमें परिवीक्षा पर मुक्त किये गये अपराधियों को एक विशिष्ट सेवा-संस्था (परिवीक्षा विभाग) के द्वारा उनको व्यक्तिगत कठिनाइयों को ध्यान में रखकर व्यावसायिक रूप से सहायता सेवाएं उपलब्ध की जाती हैं।

(5) परिवीक्षा : एक वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधि के रूप में

परिवीक्षा अपराधी-सुधार की एक सामाजिक विधि के रूप में परिवीक्षा-अधिकारी द्वारा किया गया एक वैयक्तिक सेवा-कार्य है। वैयक्तिक सेवा-कार्य की

विधि के रूप में परिवीक्षा अपराधी व्यक्ति का वह वैयक्तिक स्तर है जिसमें उसे राज्य द्वारा नियुक्त परिवीक्षा-अधिकारी के माध्यम से उपचार एवं पुनर्वासन की सेवाएँ स्वतः उपलब्ध हो जाती हैं। परिवीक्षा अधिकारी इस प्रकार के अपराधियों की देख-रेख करते हैं तथा उनके पुनर्वासन के हेतु उन्हें वांछित सेवाएँ उपलब्ध कराने में सहायता पहुँचाते हैं।

परिवीक्षा से लाभ

परिवीक्षा पर अपराधियों को मुक्ति की वकालत करनेवाले अपराधशास्त्री यह नहीं कहते हैं कि समस्त अपराधियों को परिवीक्षा का लाभ प्रदान किया जाना चाहिए। उनका केवल इतना कहना है कि कुछ ऐसे अपराधी होते हैं जिन्हें यदि कारागार न भेज कर परिवीक्षा पर रखा जाये तो उनको तथा समाज को लाभ पहुँच सकता है। सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने परिवीक्षा से होनेवाले निम्नांकित लाभों का वर्णन किया[1] :—

(1) परिवीक्षा की नीति अपराधियों को समाज में रहने का एक ऐसा अवसर प्रदान करती है जिसमें वे सामाजिक मान्यताओं और कानूनों का पालन करने की आदत डालने के लिए प्रेरित किये जाते हैं।

(2) परिवीक्षा पर मुक्त होने के उपरान्त अपराधी अपने परिवार के सदस्यों की देखरेख करने के साथ ही साथ अपने ऊपर किये गये जुर्माने की धनराशि को अदा कर सकता है।

(3) परिवीक्षा कारावास से कहीं अधिक सस्ती विधि है।

(4) परिवीक्षा-अधिकारी की देखरेख में रहकर अपराधी व्यक्ति समाज तथा समुदाय में अपने को समायोजित कर सकता है।

टैनेनबाम ने परिवीक्षा की महत्ता को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया—"परिवीक्षा अपराधी को कारावास के दुष्परिणामों से बचाती है, अपराधी के व्यक्तित्व को सन्तुलित बनाने में सहायता पहुँचाती है, उस व्यक्ति के सामाजिक, सामुदायिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों को टूटने से बचाती है तथा उसे अपने आपको सुधारने का एक अवसर प्रदान करती है।"[2]

गिलिन ने परिवीक्षा के लाभों का वर्णन करते हुए लिखा कि इस आधुनिक विधि से अपराधी व्यक्ति कारागार की बुराइयों से बच जाता है, इससे अपराधिक

---

1. एडविन एच० सदरलैण्ड ऐण्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 440।
2. फ्रैंक टैनेनबाम, क्राइम ऐण्ड दि कम्युनिटी (सिनसिनाटी : 1928), पृ० 456।

न्यायविधि को एक समाजशास्त्रीय दिशा प्राप्त होती है तथा इस विधि के प्रयोग से सरकार को पैसों की बचत होती है क्योंकि अपराधी को कारागार में नहीं रखना पड़ता है।[1]

बार्न्स ऐण्ड टीटर्स ने परिवीक्षा से प्राप्त लाभों को निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभक्त किया :—

(अ) परिवीक्षा पर मुक्त किये गये अपराधी व्यक्ति के दृष्टिकोण से

(1) आत्म-सुधार के एक अवसर की उपलब्धि।

(2) उन आदतों तथा व्यवहार-प्रतिमानों को बनाये रखना जिन्हें समाज में सही माना जाता है।

(3) अपराधी की कारावास में रहने के कलंक से बचत।

(ब) समुदाय के दृष्टिकोण से

(1) परिवीक्षा-विधि की स्वीकृति मात्र से यह विदित होता है कि समुदाय अपराधी-सुधार की आधुनिक विधियों में विश्वास रखता है और उन व्यक्तियों को अपनाने की भावना रखता है जो अपना चारित्रिक सुधार कर सकते हैं।

(2) खर्चे की दृष्टि से परिवीक्षा समुदाय के लिए कोई बोझ नहीं है क्योंकि इसके समुदाय को अपराधी पर कारावास में किये जाने वाले व्यय का वहन नहीं करना पड़ता है।

(स) परिवीक्षा-अधिकारी के दृष्टिकोण से

इस विधि से परिवीक्षा-अधिकारी को एक अवसर प्राप्त होता है जिससे वह अपराधी को सामुदायिक सहायता उपलब्ध कराके तथा मार्ग-निर्देशन करके उसका पुनर्वासन एवं सुधार कर सकता है।

परिवीक्षा पर उठाई गई आपत्तियाँ

सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने परिवीक्षा के बारे में उठाई गई आपत्तियों का वर्णन करते हुए लिखा कि साधारण नागरिक यह समझता है कि—(1) चूँकि परिवीक्षा द्वारा सजा की अवधि घट जाती है अतः इससे समाज में अपराध की घटनाएँ बढ़ती हैं, (2) चूँकि परिवीक्षा पर मुक्ति के अपराध निश्चित हैं अतः

1. जान ऐण्ड गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1945), पृ० 322-325।

अपराधी व्यक्ति इन अपराधों को करने के लिए प्रोत्साहित होते रहते हैं क्योंकि उन्हें विश्वास रहता है कि परिवीक्षा का लाभ उन्हें प्राप्त हो जायगा, (3) चूँकि परिवीक्षा पर मुक्ति के बाद अपराधी उसी माहौल में पुनः लौट आता है जिसके वशीभूत होकर उसने अपराध किया था, अतः उसके सुधरने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, (4) चूँकि परिवीक्षा के होने से प्रतिशोध की भावना की पूर्ति नहीं होती है, अतः न्यायालय के अभियोग सिद्ध करनेवाले पक्ष में सतर्कता नहीं बरती जाती।

सदरलैण्ड तथा क्रेसी ने उपर्युक्त वर्णित आपत्तियों की वास्तविकता पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा कि इन चार प्रमुख आपत्तियों में पहली दो केवल जनता की उस शंका पर आधारित हैं जिन्हें समाचारपत्रों के द्वारा बढ़ावा दिया जाता है। इन आपत्तियों का खंडन करते हुए उन्होंने कहा कि जो भी साक्ष्य आज तक अपराधी-सुधार के क्षेत्र में उपलब्ध हैं, उनसे यह कहीं सिद्ध नहीं होता है कि परिवीक्षा के बने रहने के कारण उन अपराधों की संख्या बढ़ी जिनके करने पर परिवीक्षा का प्रयोग किया जाता है। उनके मत से तीसरी आपत्ति बहुत सीमा तक सही है और यह आपत्ति उन लोगों के द्वारा उठाई जाती है जो वैयक्तिक सेवा-कार्य की परिवीक्षा में प्रयोग की गई सुविधाओं को परिवीक्षा पर मुक्त किये हुए अपराधी व्यक्तियों तक सीमित न रखकर, उनके परिवार, उनके मित्रों तथा उनके समुदाय तक विस्तृत करना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि यह आपत्ति परिवीक्षा के विरुद्ध न होकर परिवीक्षा की एक कार्य-विधि के विरुद्ध है। चौथी आपत्ति पर मत व्यक्त करते हुए उन्होंने यह कहा कि यह मानना गलत है कि न्यायपालिका का अभियोग सिद्ध करनेवाला पक्ष केवल प्रतिशोध की भावना से प्रभावित रहता है। अपराधिक न्याय का लक्ष्य प्रतिशोध की अपेक्षा इस बात को ध्यान में रखता है कि अपराधी अपने अपराध की पुनरावृत्ति न कर सके।[1]

गिलिन ने परिवीक्षा की आलोचना के प्रमुख मुद्दों का वर्णन करते हुए लिखा कि लोग यह समझते हैं कि (1) परिवीक्षा में आहत व्यक्ति की अपेक्षा अपराधी व्यक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, (2) परिवीक्षा पर अपराधियों की अंधाधुन्ध मुक्ति अपराधिकता को बढ़ावा देती है, (3) चूँकि

---

1. एडविन एच० सदरलैण्ड ऐन्ड डोनाल्ड आर० क्रेसी, पूर्वोल्लिखित, पृ० 441–442।

परिवीक्षा में यह असंदिग्ध रूप से तय नहीं हो पाता है कि क्या अपराधी वास्तव में प्रथम अपराधी है अतः कभी कभी अभ्यासिक अपराधियों की मुक्ति परिवीक्षा पर हो जाती है, (4) अधिकांश परिवीक्षा-अधिकारी इतने काहिल तथा अयोग्य हैं जिनके कार्य करने का तरीका एक स्वांग मात्र है, (5) परिवीक्षा-विधि दंड के प्रतिशोधात्मक पहलू को समाप्त करती है और समाज को अपराध के खतरे में डाल देती है।[1]

परिवीक्षा के सिद्धांत

गिलिन ने परिवीक्षा के निम्नांकित सिद्धांतों का वर्णन किया :—

(1) एक अच्छे परिवीक्षा कार्य को सावधानीपूर्वक की गई छानबीन (अन्वेषण) पर आधारित होना चाहिए जिससे उसी प्रकार के अपराधी इस विधि का लाभ प्राप्त कर सकें जिनका सुधार इसके माध्यम से हो सकता है।

(2) अन्वेषण तथा उपचार को व्यक्ति-विशेष के चरित्र, स्वभाव, अपराधिक प्रवृत्ति तथा उसकी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए।

(3) परिवीक्षा पर रहने की अवधि को पहले से ही निश्चित नहीं होना चाहिए। यह अवधि उसी समय समाप्त हो जानी चाहिए जब परिवीक्षा-अधिकारी यह समझे कि अपराधी को पर्यवेक्षण की दशाओं से मुक्ति प्रदान की जा सकती है।

(4) परिवीक्षा पर मुक्त किये गये अपराधियों के पुनर्वासन के लिए परिवार, पास-पड़ोस तथा समुदाय की समस्त आवश्यक सेवाओं की सरलता से उपलब्धि होनी चाहिए।

(5) अपराधी की समस्या का निरूपण तथा उसका उपचार उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए।

(6) अपराधी व्यक्ति के पुनर्वासन की एक निश्चित योजना उसकी सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर बनाई जानी चाहिए।

(7) पुनर्वासन की इस योजना को सफल बनाने के लिए समुदाय की समस्त समाज-सेवी संस्थाओं का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

(8) परिवीक्षा-अधिकारी के पद पर वे ही व्यक्ति नियुक्त होने चाहिए जो समाज-कार्य करने के लिए व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित हों।

---

1. जान एल० गिलिन, पूर्वोल्लिखित, पृ० 325।

(9) योग्य, कुशल तथा प्रशिक्षित परिवीक्षा-अधिकारी तभी प्राप्त हो सकते हैं जब उन्हें उचित वेतन प्राप्त होने का प्राविधान हो।

(10) परिवीक्षा पर मुक्त व्यक्तियों का पर्यवेक्षण न तो बहुत सरल और न बहुत कठोर होना चाहिए। पर्यवेक्षण की मात्रा तथा प्रकार का निर्धारण उनके व्यक्तित्व को ध्यान में रख कर करना चाहिए।

(11) परिवीक्षा पर मुक्त हर व्यक्ति की सहायता वैयक्तिक समाज-कार्य-विधि के अनुसार होनी चाहिए।

(12) परिवीक्षा-सेवाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में भी उपलब्ध होनी चाहिए।[1]

वाल्टर रीवर्न ने अच्छे परिवीक्षा कार्य में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक बताया है[2] :—

(1) परिवीक्षा को केवल एक सम्भावना समझा जाना चाहिए और इसका प्रयोग उन अपराधियों के लिए नहीं होना चाहिए जिनमें सुधरने की सम्भावना कम है।

(2) परिवीक्षा पर मुक्ति का निर्णय जल्दी में नहीं करना चाहिए। पूरी जाँच-पड़ताल करने के बाद जब यह विश्वास हो जाये कि अपराधी व्यक्ति को इस मुक्ति से सुधारा जा सकता है, तभी परिवीक्षा का निर्णय करना चाहिए।

(3) परिवीक्षा से होनेवाले लाभों एवं हानियों के बारे में अपराधी व्यक्ति को पूरी पूरी जानकारी परिवीक्षा की दशा प्रारम्भ होने से पूर्व ही करा देनी चाहिए। उसे उन सभी दशाओं, नियमों तथा निर्देशों से भली भाँति अवगत कर देना चाहिए जिनके पालन की उससे आशा की जाती है।

(4) परिवीक्षा पाये हुए व्यक्ति को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दे देनी चाहिए कि यदि वह परिवीक्षा की दशाओं का पालन ठीक से नहीं करेगा तो उसे किस प्रकार के हानिकारक परिणामों का सामना करना पड़ेगा।

---

1. जान एल० गिलिन, पूर्वोल्लिखित, पृ० 328-331।
2. वाल्टर रीवर्न, "प्रोबेशन वाज मेड फार मैन," ब्रिटिश जरनल आफ डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 8, जनवरी 1958, पृ० 166-167।

(5) जब ऐसा प्रतीत हो कि परिवीक्षा पाने वाला व्यक्ति गैर-जिम्मेवार है तब उसकी मुक्ति उसी अवस्था में की जानी चाहिये जब वह कोई ऐसा संबंधी या मित्र न्यायालय के सामने प्रस्तुत करे जो उस व्यक्ति के उत्तम आचार-व्यवहार रखने का आश्वासन दे तथा गारंटी का पैसा जमा करे। यदि परिवीक्षा पाया हुआ व्यक्ति आश्वासन की दशाओं को तोड़ता है तो गारन्टी का पैसा जब्त कर लिया जाना चाहिये।

(6) जब परिवीक्षा पर मुक्त किये जाने वाले व्यक्ति का कोई स्थायी गृह नहीं है तब परिवीक्षा-अधिकारी को यह चाहियें कि उसके निवास तथा उसके रोजगार की कोई उचित व्यवस्था करें।

(7) परिवीक्षा पर रहने की निर्धारित अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(8) वे ही व्यक्ति परिवीक्षा-अधिकारी के पद पर नियुक्त किये जाने चाहिए, जो संतुलिति व्यक्तित्व रखते हैं तथा जिनमें साहस, शक्ति, बौद्धिक-परिपक्वता, संवेगात्मक स्थिरता, सत्यनिष्ठा, व्यवहार-कौशल, विश्वसनीयता, सहिष्णुता, धैर्य, चारित्रिक निष्ठा आदि विशेषताएँ हों।

(9) समाज में परिवीक्षा के दर्शन के बारे में पाई जाने वाली भ्रान्तियों को दूर करना चाहिए तथा साधारण नागरिक के मन में इस विधि के प्रति विश्वास उत्पन्न करना चाहिए।

भारत में परिवीक्षा का विकास

भारत में परिवीक्षा पर अपराधियों की मुक्ति का पहला प्राविधान 1898 में क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 562, 563 तथा 564 के अन्तर्गत किया गया। धारा 562 में न्यायालयों को यह अधिकार दिया गया कि वे उन सिद्ध-दोष अपराधियों को जिनकी आयु 21 वर्ष से कम की नहीं है तथा जिन्हें कोई ऐसा अपराध कारित करने के लिए दंडित किया गया है जिसमें सात वर्ष से अधिक कारावास की सजा नहीं मिलती है, या वे उस प्रकार के अपराधी हैं जिनकी आयु 21 वर्ष से कम है और जिन्हें ऐसा अपराध कारित करने का दोषी ठहराया गया है जिसमें मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास की सजा मिलने का प्राविधान नहीं है और जिन्हें इसके पहले कभी किसी न्यायालय द्वारा दोषी नहीं ठहराया गया है, तब यदि न्यायालय चाहे तो वह इस प्रकार के अपराधी व्यक्तियों की आयु, चरित्र, पहले के जीवन की विशेषताओं तथा कारित अपराध की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, उसे कारावास की सजा न देकर उत्तम

आचार-व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन पर एक बान्ड भराकर परिवीक्षा पर मुक्ति प्रदान कर सकते हैं। न्यायालयों को इसी धारा के मातहत यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे उन अपराधियों को, जिन्होंने चोरी, गृहादि में चोरी, जालसाजी या कोई ऐसा अपराध किया है जिसमें दो वर्ष से अधिक की सजा नहीं दी जा सकती और जिन्हें पहले कभी किसी न्यायालय द्वारा अपराध कारित करने का दोषी नहीं ठहराया गया है, यदि न्यायालय चाहे तो, उनकी आयु, चरित्र, पिछले जीवन की दशाओं, शारीरिक तथा मानसिक एवं अपराध करने की प्रेरणा प्रदान करने वाली परिस्थितियों को ध्यान में रखकर, कारावास की सजा देने के बजाय विविध रूपों से, जैसे डाँटकर, चेतावनी देकर या भर्त्सना करके, मुक्त कर सकता है। कोड की धारा 562 में यह प्राविधान किया गया कि यदि परिवीक्षा पर मुक्ति के बाद अपराधी अपने द्वारा दिये गये आश्वासन या बांड की शर्तों का ठीक से पालन नहीं कर रहा है तो न्यायालय उसके विरुद्ध वारन्ट जारी करके उसे न्यायालय में उपस्थित होने के लिए बाध्य कर सकता है और उसे अपने पुराने अपराध की सजा प्रदान कर सकता है। धारा 564 में यह प्राविधान किया गया कि परिवीक्षा पर मुक्ति उन्हीं अपराधियों की की जानी चाहिए जिसका कोई निश्चित निवास-स्थान है, कोई स्थायी व्यवसाय है तथा जो परिवीक्षा की अवधि तक उस न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में रहते।

1919-20 की भारतीय कारागार समिति (इंडियन जेल कमेटी) ने यह सिफारिश की कि परिवीक्षा के विषय पर एक विशिष्ट अधिनियम पारित किया जाना चाहिये। 1920 में मद्रास चिल्ड्रेन ऐक्ट पारित किया गया जिसमें बाल अपराधियों की मुक्ति पर्यवेक्षण की दशाओं में रहने के आश्वासन पर की जाने की व्यवस्था थी। बंगाल तथा बम्बई प्रान्तों ने मद्रास बाल अधिनियम से प्रेरित होकर 1922 तथा 1924 में बाल अपराधियों की परिवीक्षा पर मुक्ति करने के अधिनियम पारित किये। इस समय तक परिवीक्षा का प्रयोग केवल बाल अपराधियों को कारागार के दोषों से बचाने के लिए ही किया जाता था। 1931 में भारत सरकार ने वयस्क अपराधियों की परिवीक्षा पर मुक्ति के लिए एक बिल निर्मित किया और 1935 में राज्य सरकारों से यह अनुरोध किया गया कि वे केन्द्रीय बिल के अनुरूप अपने-अपने प्रान्तों के लिए परिवीक्षा अधिनियम पारित करें। 1936 में मद्रास प्रांत ने पहला प्रोबेशन आफ आफेन्डर्स ऐक्ट पारित किया। 1938 में बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में परिवीक्षा अधिनियम बनाये गये।

1936 से लेकर 1950 तक यही स्थिति बनी रही और राष्ट्रीय स्तर पर कोई परिवीक्षा अधिनियम नहीं बनाया जा सका। 1952 में परिवीक्षा-अधि-

कारियों के मद्रास में होने वाले एक सम्मेलन में एक केन्द्रीय अधिनियम बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। 1958 में केन्द्रीय सरकार ने इस सम्मेलन के सुझाव को स्वीकार करके परिवीक्षा अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य प्रतिशोध के स्थान पर सुधार तथा अपराध के स्थान पर अपराधी के पुनर्वासन के प्रश्न को महत्त्व प्रदान करना था। इस अधिनियम के अन्तर्गत आधुनिक दण्डशास्त्र की सुधारात्मक विधियों के प्रयोग की महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया गया। इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

(1) पहले भुगती हुई सजा उसकी परिवीक्षा पर मुक्ति के लिए कोई बाधा या रुकावट नहीं उत्पन्न करती है।

(2) अपराध की प्रकृति तथा अपराधी की आयु भी परिवीक्षा पर की जाने वाली मुक्ति में कोई बाधा नहीं उत्पन्न करती है।

(3) प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेटों के अलावा सभी मजिस्ट्रेट परिवीक्षा पर मुक्त किये जाने वाले अपराधियों के मुकदमे तय कर सकने के योग्य हैं।

(4) परिवीक्षा-अधिकारी के द्वारा दी गयी सजा से पूर्व की अन्वेषण रिपोर्ट (प्री-सेन्टेन्स इनवेस्टिगेशन रिपोर्ट) का होना उन अपराधियों के लिए आवश्यक है जिनकी आयु 21 वर्ष से कम है।

(5) परिवीक्षा को एक दंड-निलम्बन की विधि के रूप में स्वीकार किया गया है और इसलिए अपराधी के द्वारा परिवीक्षा की शर्तों को तोड़ने पर या उनका पालन न कर पाने पर उसे अपने मूल अपराध के दण्ड को भोगने की व्यवस्था अपने आप लागू हो जाती है।

(6) न्यायालय परिवीक्षा पर मुक्त किये गये उस अपराधी को न्यायालय में निश्चित तिथि पर उपस्थित होने के लिए बाध्य कर सकती है जो परिवीक्षा की शर्तों का पालन ठीक से नहीं कर पा रहे हैं।

(7) अपील कोर्ट तथा परिविक्षा-अधिकारी को यह अधिकार है कि वह उन अपराधियों के लिए उच्च न्यायालय में परिवीक्षा पर मुक्ति के लिए अपील कर सकते हैं जिन्हें नीचे के न्यायालय ने परिवीक्षा पर मुक्त किये जाने से मना कर दिया है और जिनकी आयु 21 वर्ष से कम है।

परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की इन उदारतावादी विशेषताओं को ध्यान में रखकर भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस अधिनियम को आधुनिक दंडशास्त्र के क्षेत्र में पाई जाने वाली अपराधी-सुधार की दिशा का आधार-स्तम्भ माना

और यह कहा कि इस अधिनियम का उद्देश्य आकस्मिक अपराधियों को कारावास के दुर्गुणों एवं यातनाओं से बचाना तथा मुक्त समाज में रखकर उन्हें आत्म-निर्भर तथा कानून एवं व्यवस्था को स्वीकार करने वाला नागरिक बनाना है।[1] सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में पुनः यह कहा कि इस अधिनियम में अनेक ऐसे प्राविधान हैं जिनका प्रयोग अपराधियों को रचनात्मक रूप से आधुनिक सुधार-विधियों से सहायता पहुँचाना है। यह अधिनियम ऐसे आकस्मिक अपराधियों को कारावास की बुराई तथा कलंक से बचाने की व्यवस्था करता है जो अभ्यासिक अपराधी नहीं हैं और जिन्होंने अपराध अपनी शारीरिक एवं मानसिक अपरिपक्वता अथवा किन्हीं विशिष्ट दुराग्रही परिस्थितियों में पड़कर किया है। यह अधिनियम उपर्युक्त वर्णित प्रकार के अपराधियों के सुधार एवं व्यवस्थापन की व्यवस्था को वैधानिक स्वीकृति प्रदान करता है।[2]

परिवीक्षा अधिनियम, 1958 के प्राविधान

इस अधिनियम की 19 धाराओं में निम्नलिखित प्रमुख धाराएँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं :—

(1) न्यायालय का वह अधिकार जिसमें कुछ विशिष्ट अपराधियों को डाँट-फटकार कर या उनकी भर्त्सना करके मुक्त किया जा सकता है (धारा 3)।

(2) न्यायालय का वह अधिकार जिसमें कुछ विशिष्ट अपराधियों को उत्तम आचार-व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन पर परिवीक्षा का प्रयोग करके मुक्त किया जा सकता है (धारा 4)।

(3) न्यायालय का वह अधिकार जिसमें परिवीक्षा पर मुक्त किये अपराधी से मुकदमे का खर्चा तथा प्रतिकर (कम्पेन्सेशन) वसूल किया जा सकता है (धारा–5)।

(4) 21 वर्ष से कम आयु के अपराधियों को कारावास की सजा देने पर लगने वाले प्रतिबन्ध (धारा–6)।

(5) परिवीक्षा-अधिकारी के कर्तव्य (धारा–14)।

(6) परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट का गोपनीय रखा जाना (धारा–7)।

(7) अपील एवं पुनरीक्षण के मामलों की सुनवाई करने के लिए न्यायालयों को प्रदत्त अधिकार (धारा 11)।

---

1. रतनलाल बनाम स्टेट आफ पंजाब, ए० आई० आर०, 1963, सुप्रीम कोर्ट, पृ० 444।
2. जुगुलकिशोर प्रसाद बनाम स्टेट आफ बिहार, ए० आई० आर०, 1972, सुप्रीम कोर्ट, पृ० 2522।

(1) न्यायालय द्वारा अपराधियों की भर्त्सना (ऐडमानीशन) करने के बाद उनकी मुक्ति

जब किसी व्यक्ति को भारतीय दण्ड संहिता की धाराओं के अन्तर्गत चोरी, सम्पत्ति का बेईमानी से दुर्विनियोग तथा छल करने के अपराध या उन अपराधों को पारित करने का दोषी ठहराया गया है जिसमें अधिकतम सजा की अवधि 5 वर्ष तक की है तथा उस व्यक्ति को किसी न्यायालय द्वारा पहले कभी कोई सजा नहीं दी गई है, तब उसके मुकदमे की सुनवाई करनेवाला न्यायालय उस व्यक्ति की आयु, चरित्र, अपराधिक स्वभाव तथा अपराध करने की दशाओं को ध्यान में रखकर यदि उचित समझे तो उसे कारावास न भेजकर एवं परिवीक्षा की दशाओं को बिना लागू करके उचित भर्त्सना कर सकता है।

देश के विभिन्न न्यायालयों ने अपने निर्णयों में इस धारा की वर्णित दशाओं का निम्नांकित प्रकार से स्पष्टीकरण किया है :—

(1) पूर्व दोष-सिद्धि न्यायालयों के द्वारा दिये जानेवाले आदेश के लिए एक पारिभाषिक (टेक्निकल) अवरोध है।

(2) पूर्व दोष-सिद्धि के तथ्य को विचारण के समय साबित करना होगा।

(3) यदि पूर्व दोषसिद्धि न्यायालय के द्वारा दिये आदेश से पहले साबित नहीं हुई है तो बाद में प्रस्तुत किया गया पूर्व दोषसिद्धि का साक्ष्य आदेश के पुनरीक्षण का साधन नहीं बन सकता।

(4) अपराधी की भर्त्सना करना न्यायालय का विशेषाधिकार है परन्तु इसका अर्थ यह है कि कम आयु के व्यक्तियों की भर्त्सना सावधानीपूर्वक तथा मानवीय भावनाओं को ठेस न पहुँचाते हुए की जाएगी।

(5) न्यायालय अपने इस विशेषाधिकार का प्रयोग केवल उन्हीं अपराधियों को मुक्त करने के हेतु करेगा जिन्होंने कोई साधारण अपराध किया है।

(6) न्यायालय इस विशेषाधिकार का प्रयोग बड़े उत्तरदायित्व की भावना को ध्यान में रख कर करेगा। किसी व्यक्ति का अल्पवय तथा प्रथम अपराधी होना ही सब कुछ नहीं है। न्यायालय को यह देखना पड़ेगा कि उस व्यक्ति का अपराध कितना भयावह है, वे कौन सी दशाएँ हैं जिनमें अपराध कारित किया गया है, उस व्यक्ति की आयु क्या है, उसका चरित्र कैसा है तथा उसके सुधरने की कितनी आशा है। जिन व्यक्तियों के अपराध गम्भीर प्रकृति के हैं और जिन्होंने ये अपराध जान बूझकर, सोच-समझकर तथा पूरी योजना बनाकर किये हैं उन्हें इस विशेषाधिकार

का प्रयोग करके कारावास की सजा से बचाने का प्रयत्न एक ऐसी छूट के रूप में देखा जायेगा जो न केवल गलत होगी वरन् अपराधी के प्रति अनावश्यक सहानुभूति के रूप में देखी जायेगी।

(2) न्यायालय द्वारा कुछ विशिष्ट अपराधियों की उत्तम व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन पर परिवीक्षा पर मुक्ति

जब कोई व्यक्ति किसी ऐसे अपराध को करने का दोषी ठहराया गया है जिसमें मृत्युदण्ड अथवा आजन्म कारावास की सजा नहीं मिल सकती तब उस व्यक्ति के मुकदमे की सुनवाई करने वाला न्यायालय यदि चाहे तो उस व्यक्ति के अपराध की परिस्थितियों, अपराध की गम्भीरता, अपराधी के चरित्र को ध्यान में रखते हुए यदि आवश्यक समझे तो उस व्यक्ति को कारावास की सजा देने के स्थान पर उत्तम व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन पर उससे परिवीक्षा की शर्तों का बांड भराकर तथा तीन वर्ष तक उन शर्तों को पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर मुक्त कर सकता है। न्यायालय इस धारा का प्रयोग उन अपराधियों की मुक्ति के लिए नहीं करेगा जिनका कोई स्थायी निवास-स्थान या स्थायी व्यवसाय नहीं है और जो न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में तीन वर्ष तक नहीं बने रहेंगे। इस धारा की उपधारा में न्यायालय से यह आशा की जाती है कि वह परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट को (यदि कोई ऐसी रिपोर्ट है तो) अपना निर्णय देने से पहले देख लेगा। इसके साथ ही साथ न्यायालयों को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह लोकहित को ध्यान में रखकर परिवीक्षा पर मुक्त किये व्यक्ति को कम से कम एक वर्ष तक परिवीक्षा-अधिकारी की देखरेख में रहने के लिए भी आदेश दे सकते हैं। *न्यायालय का यह कर्तव्य होगा* कि वह अपराधी से प्रतिभू (स्योरिटी) अथवा प्रतिभू सहित एक ऐसा बांड भराये जिसमें उत्तम व्यवहार की समस्त दशाएँ स्पष्ट रूप से लिखी हों। इस बांड की शर्तों को न्यायालय द्वारा अपराधी को मुक्ति से पहले भली-भाँति समझा देना आवश्यक है।

देश के विभिन्न न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों में इस धारा के मूल तथ्यों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया गया है :—

(1) परिवीक्षा अधिनियम की धारा 4 का प्रयोग उन व्यक्तियों की मुक्ति में नहीं किया जा सकता जिन्हें मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास की सजा दी गई है।

(2) धारा 4 का प्रयोग उन अपराधियों के लिए नहीं किया जा सकता जिन्हें केवल जुर्माना भरने की सजा दी गई है।

(3) धारा 4 की उपधारा 1 के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा दिया गया आदेश दोषमुक्ति नहीं है ।

(4) न्यायालय द्वारा धारा 4 के अन्तर्गत परिवीक्षा पर अपराधी व्यक्ति को मुक्त करने का अधिकार एक विशेषाधिकार है अतः इसको प्राप्त करने के लिए अभियुक्त व्यक्ति को न्यायालय के सम्मुख सभी आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करनी पड़ेगी ।

(5) न्यायालय द्वारा इस विशेषाधिकार का प्रयोग उस समय नहीं किया जा सकता जब व्यक्ति को सजा भुगतने का निर्णय दिया जा चुका है ।

(3) इक्कीस वर्ष से कम आयु के अपराधियों को कारावास की सजा देने पर प्रतिबंध

जब कोई व्यक्ति जिसकी आयु 21 वर्ष से कम है कोई ऐसा अपराध करने का दोषी पाया जाता है जिसमें आजन्म कारावास के अतिरिक्त अन्य सजा दी जा सकती है तो उसके मुकदमे की सुनवाई करने वाला न्यायालय उसके अपराध की प्रकृति, उसका चरित्र तथा अपराध की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर भी कारावास की सजा ही उचित समझता है तब न्यायालय को अपने इस प्रकार के निर्णय के लिए कारण लिखकर बताने पड़ेंगे । इसके साथ ही साथ न्यायालय को अपने यह निर्णय (जिसमें इस प्रकार के व्यक्ति को अधिनियम की धारा 3 अथवा 4 से मुक्त करना उचित नहीं समझा गया है) देने से पूर्व परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट मँगानी पड़ेगी तथा उस पर विचार करना पड़ेगा ।

देश के विभिन्न न्यायालयों ने इस धारा के वैधानिक आशय का स्पष्टीकरण निम्नांकित प्रकार से किया है :—

(1) न्यायालय का यह कर्तव्य होगा कि वह इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि उस अभियुक्त को धारा 4 के अन्तर्गत परिवीक्षा पर मुक्त करना ठीक नहीं है जिसकी अवस्था 21 वर्ष से कम की है ।

(2) न्यायालय को अपने इस प्रकार के निर्णय के लिए लिखित रूप से कारण बताने पड़ेंगे और कारणों को बिना बताये हुए न्यायालय का निर्णय अनियमित होगा ।

(3) अभियुक्त को यह सिद्ध करना पड़ेगा कि उसकी वास्तविक आयु 21 वर्ष से कम की है ।

(4) अभियुक्त की आयु का निर्धारण उस तिथि से माना जायेगा जिस तिथि से उसके मुकदमे की सुनवाई न्यायालय द्वारा की जा रही है ।

(5) परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट का प्राविधान चूँकि आज्ञापक (मैनडेटरी) है निर्णय को शून्य करार कर देता है। मजिस्ट्रेटों द्वारा परिवीक्षा पर मुक्ति हेतु लिए गये निर्णयों के लिए परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट मँगवाना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट का गोपनीय होना

अधिनियम की धारा 4 की उपधारा (2) तथा धारा 6 की उपधारा (2) में बताई गई परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट साधारणतः गोपनीय रखी जायेगी परन्तु यदि न्यायालय उचित समझे तो वह इस रिपोर्ट का मुख्य भाग अभियुक्त को अपने बचाव के लिए लिखकर दे सकता है या बता सकता है।

इस धारा के प्रयोग के विषय में कुछ न्यायाधीशों का मत है कि न्याय की निष्पक्षता के लिए आवश्यक है कि अभियुक्त को इस रिपोर्ट की एक प्रतिलिपि प्राप्त होनी चाहिए जिससे वह बचाव के लिए सबूत प्रस्तुत कर सके।

न्यायालय को परिवीक्षा की दशाओं में परिवर्तन करने का अधिकार

परिवीक्षा-अधिनियम की धारा 8 के अन्तर्गत न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपराधी तथा समाज के हित को ध्यान में रखते हुए बांड में वर्णित दशाओं का समयानुकूल परिवर्तन कर सकता है। परन्तु न्यायालय से यह आशा की जाती है कि दशाओं में परिवर्तन करने के पहले वह परिवीक्षित व्यक्ति को सुन ले।

बांड में वर्णित परिवीक्षा की दशाओं का अपालन एवं उल्लंघन करने की स्थिति में की जाने वाली न्यायिक पद्धति

यदि परिवीक्षा-अधिकारी की रिपोर्ट के आधार पर या किसी अन्य प्रकार से न्यायालय को यह विश्वास हो जाता है कि परिवीक्षा पर मुक्त किया गया व्यक्ति बांड की शर्तों का पालन ठीक से नहीं कर रहा है तब न्यायालय उसके विरुद्ध गिरफ्तारी का आदेश या न्यायालय में उपस्थित होने का समन जारी कर सकता है। इस प्रकार के आदेश पाये हुए व्यक्ति को सुनने के उपरांत यदि न्यायालय यह पाता है कि परिवीक्षा पर मुक्त अपराधी वास्तव में शर्तों का पालन न करने का दोषी है तो वह या तो परिवीक्षित व्यक्ति को अपनी पुरानी सजा भोगने का आदेश दे सकता है या उसे 50 रुपये तक के जुर्माने से दंडित कर सकता है। यदि परिवीक्षित व्यक्ति अपने जुरमाने की धनराशि को निर्धारित अवधि में जमा नहीं कर पाता है तो उसे अपने पुराने अपराध की सजा भोगनी पड़ती है।

इस धारा के ऊपर आलोचनात्मक टिप्पणी करने वाले भारतीय न्यायाधीशों का मत है कि यह प्राविधान क्रूरतापूर्ण है क्योंकि परिवीक्षा पर मुक्त अपराधी की एक या दो गल्तियों के लिए उसे अपने पुराने अपराध की सजा देना सुधार के दर्शन के प्रमुख सिद्धांतों की अवहेलना करना है। भारत जैसे देश के गरीब अपराधियों के लिए जुर्माने की धनराशि न जमा कर पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः जुर्माना न जमा कर पाने की स्थिति में उन्हें अपने पुराने अपराध के लिए दण्डित करना एक अन्यायपूर्ण वैधानिक व्यवस्था का प्रतीक है। कुछ न्यायाधीशों का यह भी मत है कि गरीबी से ग्रस्त अपराधियों से यह आशा करना भी व्यर्थ है कि वे क्षतिग्रस्त व्यक्ति को उसके द्वारा मुकदमे पर किए गए व्यय तथा हर्जाने की धनराशि अदा कर पायेंगे। अधिनियम में वर्णित इस प्राविधान का प्रयोग उन्हीं अपराधियों के लिए किया जाना चाहिए जो साधन-सम्पन्न हैं।

परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की कमियाँ एवं इसके ठीक से कार्यान्वित करने में उत्पन्न होने वाली समस्याएँ

यद्यपि परिवीक्षा अधिनियम, 1958 को भारत के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दण्डशास्त्र के क्षेत्र में सुधार की आधुनिक प्रवृत्ति की प्रगति की दशा का आधार-स्तम्भ अवश्य कहा गया है, परन्तु फिर भी 18 वर्ष के अन्तराल में इस अधिनियम में कुछ ऐसी कमियाँ सामने आई हैं जिनको दूर करना अति आवश्यक है। जिन वैधानिक कमियों का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जाता है वे निम्नलिखित हैं :—

(1) भारतीय न्यायपालिका के अनेक सदस्यों द्वारा आज तक इस अधिनियम को एक कानूनी रियायत की विधि (मेजर आफ लीनियेन्सी) समझा जाता है। इस प्रकार का विचार रखने वाले न्यायाधीश मजिस्ट्रेट साधारण अपराधियों को परिवीक्षा पर मुक्त करने में हिचकते हैं।[1]

(2) समस्त जिला स्तर के मजिस्ट्रेट इस अधिनियम के उद्देश्यों को उचित परिप्रेक्ष्य में समझ नहीं पाते हैं और यह समझते हैं कि परिवीक्षा न्याय-प्रशासन के सामान्य क्षेत्र से अलग है।

(3) न्यायपालिका स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले के समय की ही तरह आज भी पुरानी रीति से कार्य कर रही है और यह नहीं स्वीकार कर पा रही

---

1. जस्टिस एस॰एम॰ सीकरी, इनागुरल ऐड्रेस ऐट दि प्रोबेशन इयर सेलिब्रेशन, विज्ञान भवन, नयी दिल्ली, मई 8, 1971।

है कि अपराधिक न्याय का उद्देश्य प्रतिशोध एवं प्रतिरोध के स्थान पर अपराधी का सुधार एवं उसका पुनर्वासन करना है।[1]

(4) कुछ न्यायाधीश परिवीक्षा अधिनियम की धाराओं का इसलिए प्रयोग नहीं करते क्योंकि उनके मन में यह शंका बनी रहती है कि लोग उन्हें एक "रियायती जज" कहेंगे। कुछ न्यायाधीश यह भी समझते हैं कि परिवीक्षा अधिनियम उनके अधिकारों को नियन्त्रित करता है। कुछ न्यायाधीश यह भी समझते हैं कि परिवीक्षा अधिनियम के अन्तर्गत तय किये जाने वाले मुकदमों में बहुत समय लगता है और न्यायालय का काम बढ़ता है।[2]

(5) इस अधिनियम के कुछ प्रमुख शब्दों को स्पष्ट रूप से नहीं परिभाषित किया गया है। उदाहरणार्थ "भर्त्सना" (ऐडमानिशन), "उत्तम व्यवहार" (गुड बिहेवियर) तथा "पर्यवेक्षण" (सुपरविजन) की न तो कोई निश्चित रूपरेखा ही दी गयी है और न इन बार-बार प्रयोग किए गये शब्दों को कोई स्पष्ट परिभाषा ही की गई है। फल यह होता है कि प्रत्येक न्यायाधीश अपने-अपने ढंग से इन शब्दों का अर्थ समझ कर कार्य करता है या आदेश देता है।

(6) उन सभी अपराधों की कोई सूची न्यायाधीशों के मार्ग-निर्देशन के लिए अधिनियम में नहीं दी गयी है जिनमें परिवीक्षा का लाभ प्रदान करना न्यायालय का एक वांछनीय कार्य हो। इस कमी के कारण एक ही प्रकार का अपराध करने वाले व्यक्तियों में से कुछ को परिवीक्षा अधिनियम के मातहत मुक्त कर दिया जाता है और कुछ को कारावास भेज दिया जाता है। न्यायाधीश सामान्यतः अपने विशेषाधिकार का प्रयोग समान प्रकार से नहीं करते हैं।

(7) अधिनियम की धारा 3 के अन्तर्गत भर्त्सना के उपरांत अपराधी को मुक्त करने का अधिकार न्यायाधीश उचित प्रकार से प्रयोग में लाने के लिए साधारणतः इसलिए असमर्थ रहते हैं क्योंकि उनके पास यह पता

---

1. जस्टिस पी०वी० राजमनार, "रोल आफ कोर्ट इन प्रोबेशन", सोशल डिफेन्स, जनवरी 1972, पृ० 17।
2. जस्टिस एम० वी० कृष्णअय्यर, "रोल आफ जुडीशियरी इन प्रोबेशन प्रोग्राम", पेपर रेड इन नैशनल करेक्शनल काम्फरेन्स आन प्रोबेशन ऐन्ड एलाइड मेजर्स, नई दिल्ली, अक्टूबर 25,1971।

लगाने के लिए कोई ऐसी मशीनरी नहीं है जिससे अपराधी के चरित्र, व्यवहार तथा अपराध को परिस्थितियों का निष्पक्ष ज्ञान हो सके। कभी-कभी यह होता है कि न्यायालयों द्वारा वे अपराधी मुक्त हो जाते हैं जिन्हें मुक्त नहीं होना चाहिये। न्यायालय की इस भूल का फल यह होता है कि जनता परिवीक्षा अधिनियम को अपराधियों को बिना दण्ड दिये हुए छोड़ने का एक बहाना समझने लगती है।

(8) भारत जैसे देश में अपराधी की वास्तविक आयु का पता लगा पाना चूंकि मुश्किल काम है अतः कभी-कभी होता यह है कि वे अपराधी भी परिवीक्षा अधिनियम के अन्तर्गत फायदा उठा लेते हैं जिनकी आयु 21 वर्ष से अधिक है। इसके विपरीत कभी-कभी कुछ ऐसे अपराधी परिवीक्षा पर मुक्ति के लाभ से वंचित रह जाते हैं जिसकी आयु वास्तव में 21 वर्ष से कम है।

(9) यह समझ में नहीं आता है कि परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट 21 वर्ष से कम की आयु वाले अपराधियों के मामले में ही क्यों आवश्यक समझी जाती है। वास्तव में परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट समस्त प्रकार के अपराधियों को परिवीक्षा पर मुक्ति के लिए आवश्यक समझी जानी चाहिये।

(10) परिवीक्षा अधिनियम में कुछ अपराधियों को बिना पर्यवेक्षण के मुक्त किये जाने का प्राविधान परिवीक्षा-दर्शन के विरुद्ध है। बिना पर्यवेक्षण के परिवीक्षा की व्यवस्था अपने में एक मखौल है।

(11) कुछ न्यायालय परिवीक्षा के बाड में वर्णित शर्तों को अपराधी की मुक्ति के पहले ठीक से उसे बताते नहीं हैं अतः अशिक्षित अपराधी परिवीक्षा पर की गई मुक्ति को दोष-मुक्ति समझने लगते हैं और परिवीक्षा अधिकारी की देखरेख में रहने में आनाकानी करने लगते हैं।

(12) 21 वर्ष से कम आयु के जिन अपराधियों को न्यायालय परिवीक्षा पर मुक्त करने से मना कर देता है उनके मामले की अपील अधिकांश परिवीक्षा-अधिकारी उच्च न्यायालय में नहीं करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनके सम्बन्ध उन मजिस्ट्रेटों से खराब हो सकते हैं जिनके पास उन्हें बार-बार आना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि न्यायालय उपर्युक्त प्रकार के अपराधियों को इतने कम दिनों की सजा दे देते हैं हैं कि परिवीक्षा-अधिकारी के पास अपील करने का समय ही नहीं रहता।

(13) परिवीक्षा अधिकारी समाज-कल्याण विभाग के निदेशक तथा जिला मजिस्ट्रेट के अधीन रहने के कारण बहुधा इस संकट में पड़े रहते हैं कि किसकी बात पर अधिक ध्यान दे। निदेशक, समाज-कल्याण विभाग अपराधियों के सुधार पर बल देता है और जिला मजिस्ट्रेट अपराधी को दण्डित करने पर। परिवीक्षा-अधिकारी इन दो परस्पर विरोधी उद्देश्यों के मध्य तालमेल बैठा पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

(14) परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट जब मजिस्ट्रेट द्वारा अपराधी के वकील को जाती है तब कभी कभी यह देखने में आता है कि वे अपराधी जिनकी परिवीक्षा पर मुक्ति परिवीक्षा अधिकारी उचित नहीं समझता है, उन सभी व्यक्तियों को डराते धमकाते हैं जिन्होंने परिवीक्षा अधिकारी को उसके बारे में सूचनाएँ दी हैं। इस स्थिति में समुदाय के बहुत से नागरिक परिवीक्षा अधिकारी को सही बात बताने से डरते हैं या आनाकानी करते हैं।

(15) कुछ प्रांतों के प्रत्येक जिले में परिवीक्षा अधिनियम नहीं लागू है अतः एक ही प्रांत के कुछ अपराधी इसका लाभ उठाते हैं और कुछ अपराधी इस लाभ से वंचित रह जाते हैं। यह स्थिति व्यापक न्याय के विरुद्ध है।

(16) देश भर के सभी न्यायालयों को परिवीक्षा अधिकारियों की सहायता नहीं मिलती है क्योंकि परिवीक्षा अधिकारियों की संख्या मजिस्ट्रेटों की संख्या से कई गुना कम है।

(17) परिवीक्षा अधिकारी की संख्या कम होने से पर्यवेक्षण केवल नाममात्र का होता है।

(18) अधिकांश परिवीक्षा अधिकारी के पास केसों की संख्या इतनी अधिक रहती है कि वे केवल अपने कार्यालय में बैठकर ही पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व निभाते हैं। इस प्रकार का पर्यवेक्षण केवल एक कागजी कार्यवाही मात्र है।

(19) अधिकांश परिवीक्षा अधिकारियों के पास कार्यभार अधिक होने के कारण पर्यवेक्षण करने का न तो समय रहता है और न साधन ही।

(20) अधिकांश परिवीक्षा अधिकारियों के द्वारा न्यायालय में प्रस्तुत की गई सजा के पूर्व की रिपोर्ट बड़ी ही साधारण एवं सतही प्रकार की होती है जिस पर न्यायालय अपना निर्णय देने में संकोच करता है। फलतः अधिकांश न्यायाधीश परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में

फेंकने के लायक समझ कर अपना निर्णय अपने विवेक के अनुसार देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

(21) आज भी बहुत से परिवीक्षा अधिकारी ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें किसी प्रकार का व्यावसायिक प्रशिक्षण समाज कार्य करने के लिए नहीं प्राप्त है। उन्हें वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधियों का ज्ञान नहीं होता और वे उस प्रकार का पर्यवेक्षण करते हैं जिन्हें परिवीक्षा विभाग का कोई भी पुराना बाबू सरलता से कर सकता है।

(22) अधिकांश परिवीक्षा अधिकारियों को पुलिस तथा जनता का वांछित सहयोग नहीं प्राप्त हो पाता। पुलिस और जनता आज भी यह मानकर चलती है "एक बार का अपराधी सदैव का अपराधी है"।

(23) गरीबी और बेकारी की समस्या में फँसे देश में परिवीक्षा अधिकारी (जिसे स्वयं कोई दूसरी अच्छी नौकरी की तलाश करने की इच्छा बनी रहती है) अपने पर्यवेक्षण में मुक्त किये गये अपराधी को कोई नौकरी या आर्थिक सहायता नहीं प्रदान कर पाता है। वास्तव में उससे इस प्रकार की बड़ी आशा करना ही व्यर्थ है।

(24) कुछ ऐसे भी प्रांत हैं जिनमें परिवीक्षा सेवाएं सौतेले पुत्र की भाँति स्वीकार की जा रही हैं और जिनमें इस सेवा को केवल दिखावा करने के लिए चलाया जा रहा है।

(25) परिवीक्षा अधिकारी को प्राप्त वेतन तथा उनको पदोन्नति के कम से कम अवसर उन्हें अकर्मण्य तथा कुंठाग्रस्त करते हैं।

परिवीक्षा-सेवा में सुधार के हेतु सुझाव

अपराधशास्त्रियों, सुधार-कार्यकर्ताओं, समाजशास्त्रियों तथा अपराध एवं सुधार के क्षेत्र में नीति-निर्धारण एवं कार्यक्रम-संचालन करनेवाले उच्च प्रशासकीय अधिकारियों के अनेक सम्मेलनों तथा विचार-गोष्ठियों में परिवीक्षा-सेवा में सुधार लाने के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है और बहुत से सुझाव दिये गये हैं। इन समस्त सुझावों में निम्नांकित सुझाव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं :—

(1) अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 को पूरे देश भर में लागू किया जाये और इसके सफल कार्यान्वयन के लिए वांछित मशीनरी तथा सुविधाएँ उपलब्ध की जाएँ।

(2) आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक प्रान्त में उचित संख्या में

व्यावसायिक रूप से परिवीक्षा-अधिकारी नियुक्त किये जाएँ जो परिवीक्षा के विस्तृत कार्यभार को सरलता एवं सतर्कता से निपटा सकें।

(3) प्रत्येक जिले में कम से कम एक पूरे समय काम करने वाला परिवीक्षा अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए। इस अधिकारी की सहायता के लिए इस जिले के गैर-सरकारी समाज कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(4) प्रत्येक राज्य में एक परिवीक्षा डायरेक्टरेट का होना आवश्यक है जिसमें विभिन्न प्रकार के उच्चस्तरीय विभागाध्यक्षों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(5) केन्द्रीय सरकार के राष्ट्रीय समाज-रक्षा संस्थान द्वारा एक ऐसी निर्देशन-पुस्तक की रचना की जानी चाहिए जिसमें परिवीक्षा-सेवाओं के एक न्यूनतम स्तर का वर्णन होना चाहिए। राज्य सरकारों से संस्थान द्वारा अनुरोध किया जाना चाहिए कि वे परिवीक्षा-सेवाओं के संगठन, सजा के पूर्व प्रेषित की गई परिवीक्षा अधिकारी की अन्वेषण रिपोर्ट तथा पर्यवेक्षण में प्रयोग की गई वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधियों का एक न्यूनतम स्तर अवश्य बनाये रखें।

(6) अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 के अन्तर्गत कुछ ऐसे नियम बनाये जाने चाहिए जिससे जरूरतमन्द अपराधी व्यक्तियों को अपने सुधार तथा पुनर्वासन के लिए कुछ आर्थिक सहायता सरकार द्वारा प्राप्त हो सके।

(7) परिवीक्षा अधिकारियों को अपने कार्यालय से दूर रहने वाले पर्यवेक्षित व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए स्कूटर या मोटर सायकिल का उचित भत्ता प्राप्त होना चाहिए तथा उन्हें वरीयता क्रम से सरकारी आर्थिक सहायता से स्कूटर या मोटर सायकिल दी जाने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(8) प्रत्येक जिले में एक परिवीक्षा परामर्शदात्री समिति का गठन किया जाना चाहिए जिसका अध्यक्ष जिला न्यायाधीश को होना चाहिए। इस समिति में जनता के कुछ ऐसे प्रतिनिधि भी रखे जाने चाहिए जिनका समुदाय में प्रभाव है, जो साधन-सम्पन्न हैं और जो समाज-सेवा करने में रुचि रखते हैं।

(9) अधिनियम की धारा 4 में संशोधन किया जाना चाहिए और परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट को निर्णय-प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग माना जाना चाहिए। परिवीक्षा अधिकारी के द्वारा इस रिपोर्ट के प्रस्तुतीकरण की

अवधि एक मास निर्धारित की जानी चाहिए और केस का निर्णय इस अवधि तक स्थगित कर दिया जाना चाहिए।

(10) देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के द्वारा परिवीक्षा अधिनियम से सम्बन्धित दिये गये निर्णयों की सावधानी से जाँच की जानी चाहिए और उनमें बताये गये सुझावों के आधार पर अधिनियम में संशोधन किये जाने चाहिए।

(11) जिला स्तरीय न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेटों को प्रदेश के उच्च न्यायालय द्वारा यह आदेश दिया जाना चाहिए कि वे अपराधी-परिवीक्षा-अधिनियम के सुधारात्मक उद्देश्य को स्वीकार करते हुए इसके पालन में उदारता का दृष्टिकोण अपनाएँ और यह चेष्टा करें कि वे अपराधी कारागार न भेजे जाएँ जिनको दण्डित करने तथा जिनका सुधार करने के लिए परि-वीक्षा-सेवाओं का आयोजन किया गया है और परिवीक्षा अधिनियम को इतनी बड़ी आशा लेकर पारित किया गया है।

(12) राष्ट्रीय समाज-रक्षा संस्थान द्वारा यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि अधिक से अधिक जिला-स्तरीय न्यायाधीशों तथा मजिस्ट्रेटों को अल्प-कालिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों द्वारा परिवीक्षा के दर्शन एवं अपराधी-सुधार की दिशा में पाई जानेवाली नवीन गतिविधियों से अवगत कराया जाये और उनमें यह धारणा उत्पन्न की जाये कि अपराधी-परिवीक्षा-अधि-नियम अपराधिक न्याय-प्रशासन के क्षेत्र में एक ऐसा सुधारात्मक प्रयोग है जिसकी सफलता केवल न्यायाधीशों के सहयोग पर ही आधारित है। जब तक जिला स्तरीय न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट परिवीक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष के मूलभूत सुधारवादी दर्शन के प्रति अपनी आसक्ति नहीं प्रदर्शित करेंगे तब तक परिवीक्षा अधिनियम अपराधिक न्याय-प्रशासन की पुरानी व्यवस्था का एक हिस्सा बना रहेगा।

(13) परिवीक्षा अधिकारी के पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियुक्त किये जाने चाहिए जिन्हें वैयक्तिक सेवा-कार्य में दक्षता प्राप्त है और जिन्होंने समाज-कार्य तथा अपराधी-सुधार कार्य में डिग्री प्राप्त कर रखी है।

(14) परिवीक्षा अधिकारियों के पास परिवीक्षा के केसों की संख्या 50 से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(15) परिवीक्षा अधिकारियों का वेतन उनकी योग्यता के अनुसार बढ़ाया जाना चाहिए तथा उनके लिए पदोन्नति के अवसर उपलब्ध किये जाने चाहिए।

(16) परिवीक्षा को सफल बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता जनता को यह समझाने की है कि अपराधी-परिवीक्षा-अधिनियम एक कानूनी छूट या रियायत नहीं है। जब जनता यह समझ लेगी कि आकस्मिक तथा साधारण अपराधियों को अपने को सुधारने का एक अवसर प्राप्त होना चाहिए तब उसका दृष्टिकोण परिवीक्षा पर मुक्त अपराध किये हुए व्यक्तियों के प्रति बदलेगा। चूँकि जनता का सहयोग परिवीक्षा-सेवा को सफल बनाने के लिए सबसे अधिक आवश्यक है, अतः प्रचार एवं प्रसार के माध्यमों द्वारा जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(17) न्यायपालिका, पुलिस, परिवीक्षा विभाग तथा अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करनेवाले गैर-सरकारी व्यक्तियों एवं संस्थाओं में एक स्वस्थ समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न राजकीय सरकारों द्वारा किये जाने चाहिए।

●

अध्याय 12

पैरोल

प्रस्तावना

पैरोल परिवीक्षा की ही भाँति बीसवीं शताब्दी की अपराधी-सुधार की एक प्रमुख विधि है। यह विधि आधुनिक दंडशास्त्र के उस दर्शन का परिचायक है जिसमें यह स्वीकार किया जाता है कि जिन बंदियों को कारावास की सजा मिलती है उनमें से कुछ को अपनी सजा की न्यायालय द्वारा निर्धारित अवधि के समाप्त होने के कुछ वर्ष पूर्व पर्यवेक्षण की दशाओं में रहने के आश्वासन पर मुक्त किया जा सकता है। आधुनिक अपराधशास्त्री यह मानकर चलते हैं कि जब किसी न किसी दिन बंदी कारागार से निकल कर बाहर आयेगा ही, तो ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता है कि उन बंदियों को अपनी सजा के कुछ वर्ष पूर्व मुक्त कर दिया जाये जिनके बारे में कारागार-कर्मचारी सन्तुष्ट हैं कि उनकी मुक्ति से समाज को क्षति नहीं होगी तथा जिनका कारागार का व्यवहार सन्तोषजनक होने के साथ ही साथ उनके सुधर जाने का आभास कराता है। इस प्रकार की मुक्ति का प्रभाव बंदियों को यह सोचने के लिए विवश कर सकता है कि कारागार प्रशासन तथा अपराधिक न्याय-व्यवस्था उन पर विश्वास करके उन्हें पुनर्वासित होने के लिए एक अवसर प्रदान कर रही है। अपराधियों के सुधार के दर्शन में विश्वास रखने वाले कारागार के कर्मचारी भी यह स्वीकार करते हैं कि उन अपराधियों को पैरोल पर मुक्त करना खतरनाक है जो इस प्रकार की मुक्ति के योग्य नहीं हैं। परन्तु इसी के साथ वे यह भी कहते हैं कि उन अपराधियों को अनेक वर्ष तक कारागार की चहारदवारी में बंद किये रखना अनावश्यक तथा अपव्ययी है जिन्हें कुछ वर्षों तक कारागार में रखने के पश्चात् सरलतापूर्वक मुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार के बंदियों की मुक्ति की विधियाँ ढूंढ़ने की आवश्यकता उस समाज में अधिक है जिसमें अपराधी-सुधार के दर्शन को स्वीकार किया गया है।[1]

1. अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसिएशन, मैनुअल आफ करेक्शनल स्टैंडर्ड्स (वाशिंगटन : 1966), पृ० 113-116।

पैरोल बंदियों की कारागार से मुक्ति की निम्नलिखित चार विधियाँ हैं—(1) पैरोल, (2) आज्ञापक मुक्ति, (3) सशर्त क्षमा तथा (4) उन्मोचन।

(1) **पैरोल**—एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मुक्त किये जानेवाले बंदियों का चयन किया जाता है। इसके साथ ही साथ पैरोल एक ऐसी सेवा है जिसमें अपनी सजा की अवधि समाप्त होने के पूर्व मुक्त किये गये बंदियों को आवश्यक नियन्त्रण, सहायता तथा निर्देशन की सुविधाएँ उपलब्ध की जाती हैं।

(2) **आज्ञापक मुक्ति**—बंदियों की मुक्ति का वह प्रकार है जिसे कभी-कभी सशर्त मुक्ति भी कहा जाता है। इस प्रकार की मुक्ति कानून द्वारा आज्ञापक है और इसका प्रयोग उस समय आवश्यक रूप से किया जाता है जब बंदियों द्वारा भोगी गई सजा की अवधि तथा उनके द्वारा प्राप्त की गई छूट की अवधि जुड़कर उनको न्यायालय द्वारा दी गई सजा की अवधि के बराबर हो जाती है। इस प्रकार की मुक्ति में पैरोल बोर्ड को चुनाव नहीं करना पड़ता है और बंदी कारागार के अधीक्षक द्वारा ही मुक्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार की मुक्ति में बंदियों के केस को परिवीक्षा-मण्डल के सन्मुख रखने तथा मण्डल की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

(3) **सशर्त क्षमा**—एक प्रकार की राज्य-क्षमा है जिसमें बंदी को कुछ शर्तें लगाकर सदाचरण के आश्वासन पर मुक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार का निर्णय कार्यपालिका के किसी प्रमुख अधिकारी द्वारा लिया जाता है और बंदी के केस को पैरोल बोर्ड के सन्मुख नहीं भेजा जाता।

(4) **उन्मोचन**—बंदियों की कारागार से मुक्ति की वह विधि है जिसमें बंदी अपने न्यायालय द्वारा निर्धारित पूर्ण सजा को भोगकर बिना किसी शर्त तथा बिना किसी अधिकारी की देख-रेख में रहने पर रिहा कर दिया जाता है।

पैरोल का आरम्भ एवं विकास

पैरोल का आरम्भ इंगलैण्ड के कारागार के उन असन्तोषजनक परिणामों से हुआ जिनमें बहुत से अच्छे चरित्र वाले अपराधी कारागार के दूषित वातावरण में अनेक वर्षों तक रहकर सुधरने के स्थान पर बिगड़ जाते थे। 1791 में मीरबीन रिपोर्ट में सबसे पहले यह सिफारिश की गई कि कुछ बंदियों को सशर्त

लाइसेन्स देकर रिहा किया जा सकता है। सर विलियम मोल्सवर्थ ने 1838 में इंगलैण्ड की संसद को प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में यह कहा कि कारागारों के दूषित परिणामों से कुछ अच्छे स्वभाव के बंदियों को बचाने का एक ही उपाय हो सकता है—वह उपाय उन्हें अच्छा व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन पर की गई उनकी रिहाई है। आस्ट्रेलिया के गवर्नर सर जान फ्रैंक्लिन ने कैप्टेन अलेक्जैन्डर मेकोनोची द्वारा नारफाक द्वीप के कारागारों में 1840 में प्रयोग की गई बंदी-मुक्ति की व्यवस्था को आस्ट्रेलिया के कारागारों में एक प्रयोग के रूप में लागू किया और यह पाया कि इस प्रयोग में सफलता की संभावना असफलता की संभावना से कहीं अधिक है। इंगलैंड में छुट्टी के टिकट पर बंदियों की मुक्ति के विचार ने उस समय जोर पकड़ा जब कालापानी और देश निष्कासन के दंड की समाप्ति से कारागारों में बंदियों की एक भीड़ इकट्ठी हो गई। सर जोशुवा जेब (जो उस समय इंगलैंड के कारागारों के मुख्य अधिकारी थे) ने कारागारों में भीड़ करने पर छुट्टी के टिकट पर बंदियों की मुक्ति की व्यवस्था को लागू किया। इस व्यवस्था की आलोचना इसलिए हुई क्योंकि इसमें कुछ ऐसे बंदी छूट गये जिन्होंने छूटने के बाद और अधिक गंभीर अपराध किये। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आयरलैंड के कारागारों के मुख्य अधिकारी सर वाल्टर क्रापटन ने छुट्टी के टिकट पर छोड़े गये बंदियों के लिए कुछ ऐसे नियम बनाये जिनमें छुट्टी के टिकट पाये हुए बंदियों को पुलिस की देखरेख में रहना पड़ता था और महीने में दो बार पुलिस के कार्यालय में हाजिरी देनी पड़ती थी। इस प्रयोग से प्राप्त परिणाम लाभदायक सिद्ध हुए और मुक्त बंदियों के बहुत बड़े भाग ने अपनी मुक्ति के उपरांत ठीक व्यवहार किया। 1871 में इंगलिश प्रिवेन्शन आफ क्राइम ऐक्ट पारित हुआ जिसमें बंदियों के मुक्ति की उस व्यवस्था को स्वीकार किया गया जिसे आज पैरोल कहा जाता है। इंगलैंड में पैरोल के विकास तथा इससे उपलब्ध संतोषजनक परिणामों को ध्यान में रखकर अमरीका तथा अन्य यूरोपीय देशों में इसका विस्तार हुआ। आज के युग तक पैरोल अपराधी-सुधार की एक प्रमुख युक्ति के रूप में विश्व के उन सभी देशों में स्वीकार किया जा चुका है जिनमें कारागार तथा बंदी-सुधार के आधुनिक दर्शन को साकार बनाने के लिए संस्थागत तथा असंस्थागत कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है।

पैरोल की परिभाषा

पैरोल उस अपराधी की सुधारात्मक संस्था से मुक्ति की एक विधि है जो सुधार-कार्य प्राधिकारियों के नियंत्रण में रहता है और जिसे यह ज्ञात करने

के लिए संस्था से मुक्त कर दिया जाता है कि क्या वह बिना पर्यवेक्षण के समाज में रहने के योग्य है।[1]

(क) एडविन एच० सदरलैण्ड—पैरोल अपराधियों के उस दंड तथा सुधार-संस्था से मुक्तीकरण की एक प्रक्रिया अथवा उनके मुक्त होने की वह अवस्था है जिसमें उन्होंने अपनी अधिकतम सजा का कुछ भाग पूरा कर लिया है। यह मुक्ति सद्व्यवहार बनाये रखने के आश्वासन तथा उस संस्था के निर्देशन अथवा राज्य द्वारा अनुमोदित किसी अन्य संस्था की देखरेख एवं नियंत्रण में उस समय तक रहने के लिए की जाती है जब तक पूर्ण मुक्ति का आदेश न दिया जाये।[2]

(ख) बार्न्स एवं टीटर्स—पैरोल सशर्त मुक्ति का वह प्रकार है जिसका लाभ उस बंदी को प्रदान किया जाता है जिसने सुधार-संस्था में अपनी सजा का कुछ भाग पूरा कर लिया है।[3]

(ग) वाल्टर सी० रेकलेस—पैरोल मुक्ति की एक कार्यविधि है। अपराधी को उसके द्वारा सुधार-संस्था में अपनी सजा का कुछ भाग पूरा करने के उपरान्त कानून के आदेशानुसार मुक्त कर दिया जाता है।[4]

(घ) अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसियेशन—"पैरोल एक ऐसी कार्यविधि है, जिसमें मुक्त किये जाने वाले बंदियों का चयन किया जाता है तथा यह एक ऐसी सेवा है जिसके द्वारा उनको (बंदियों को) आवश्यक नियंत्रण, सहायता एवं निर्देशन में उस समय तक समाज में रखा जाता है जब तक वे अपनी सजा का शेष भाग पूरा न कर लें।"[5]

---

1. जान एल० गिलिन, क्रिमिनालोजी ऐण्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1945) पृ० 564।
2. एडविन एच० सदरलैंड, प्रिन्सिपल्स आफ क्रिमिनालोजी, भारतीय संस्करण (बम्बई : 1967), पृ० 566।
3. हैरी इल्मर बार्न्स एन्ड नेगली के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (भारतीय संस्करण, 1968), पृ० 562।
4. वाल्टर सी० रेकलेस, दि क्राइम प्राब्लेम (भारतीय संस्करण, 1967) पृ० 772।
5. अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसियेसन, मैनुअल आफ करेक्शनल स्टैंडर्ड्स (वाशिंगटन 1954), पृ० 113।

(छ) बेन मोर्स—पैरोल उस अपराधी की दंड अथवा सुधार-संस्था से मुक्ति है जिसने अपनी सजा का कुछ भाग पूरा कर लिया है। यह मुक्ति राज्य की निगरानी तथा उस दशा के अन्तर्गत रहने की शर्त पर की जाती है जिसमें दुर्व्यवहार करने पर उसे पुन: कारागार भेजा जा सकता है।[1]

(च) कनैडियन क्रिमिनालोजी ऐन्ड करेक्शन्स ऐसोसियेशन—पैरोल एक वह कार्यविधि है जिसके द्वारा कारागार के उस संवासी को, जिसे पैरोल बोर्ड द्वारा मुक्ति के योग्य समझा जाता है, उपयुक्त समझे गये समय पर उसकी सजा की निर्धारित अवधि की समाप्ति के पूर्व कुछ शर्तें लगाकर पर्यवेक्षण के अन्तर्गत रहने के लिए उसकी सजा की शेष अवधि भर के लिए इस समझौते पर मुक्त कर दिया जाता है कि यदि वह अपनी मुक्ति की निर्धारित शर्तों का ठीक से पालन नहीं करेगा तो उसे पुनः कारागार भेज दिया जायेगा।

पैरोल के सिद्धान्त

गिलिन के अनुसार एक आदर्श पैरोल व्यवस्था निम्नांकित सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए :—

(1) बंदियों का निरूपण बड़ी ही सावधानी से किया जाना चाहिए।

(2) मुक्त किये जानेवाले बंदियों का चयन इस बात पर किया जाना चाहिए कि वे अपनी मुक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे।

(3) वे ही बंदी पैरोल पर मुक्त किये जाने चाहिए जिनकी मुक्ति से समाज एवं समुदाय क्षुब्ध नहीं होगा।

(4) पैरोल पर बंदी की मुक्ति के पूर्व उसके लिए कोई नौकरी या व्यवसाय खोज लेना चाहिए।

(5) पैरोल पर मुक्त किये गये बंदी को सामाजिक रूप से उपयुक्त वातावरण में रखना चाहिए।

(6) पैरोल पर मुक्त किये जानेवाले बंदियों को उनकी मुक्ति के कुछ समय पूर्व इस योग्य बनाने का प्रयत्न कारागार या सुधार-संस्था को करना चाहिए कि वे अपनी मुक्ति के उपरान्त उत्तम आचरण करेंगे।

(7) पैरोल पर मुक्त बंदियों के अनुवर्तन (फालो अप) का उचित कार्यक्रम होना अति आवश्यक है।

---

1. बेन मोर्स, दि अटर्नी जेनरल्स सर्वे आफ रिलीजन प्रोसीजर्स (वाशिंगटन, 1933), पृ० 3।

(8) पैरोल पर मुक्त बंदियों के लिए उनकी समायोजन सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति सरकारी तथा गैर-सरकारी समाज-सेवी संस्थाओं द्वारा कराने के सभी प्रयत्न किये जाने चाहिए।

(9) प्रत्येक राज्य में एक ऐसा पैरोल बोर्ड होना चाहिए जिसके पास पर्याप्त संख्या में व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित वैज्ञानिक कर्मचारी हों।

(10) पैरोल बोर्ड में सदस्यों की नियुक्ति राजनैतिक जोर, दबाव तथा सिफारिश पर नहीं की जानी चाहिए। केवल उसी प्रकार के व्यक्ति इस बोर्ड के सदस्य नियुक्ति किये जाने चाहिए जो वैयक्तिक निष्ठा के अतिरिक्त इस कार्य को करने में रुचि रखते हैं तथा यह कार्य के करने के लिए योग्य हैं।

(11) पैरोल पर मुक्त किये गये बंदियों के पर्यवेक्षण तथा उनके हित अथवा उनके विरुद्ध की जानेवाली समस्त कार्यवाही का उत्तरदायित्व पैरोल बोर्ड के सुपुर्द होना चाहिए।

(12) उपयुक्त संख्या में ऐसे पैरोल अधिकारी की नियुक्ति की चाहिए जो सुधार-कार्य में विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित तथा कार्यकुशल हैं।

(13) पैरोल पर बंदियों की मुक्ति का अन्तिम निर्णय केवल पैरोल बोर्ड द्वारा ही लिया जाना चाहिए।

अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसिएशन ने एक उपयुक्त पैरोल व्यवस्था के निम्नलिखित आवश्यक तत्व बताये :—

पैरोल अधिनियमों एवं सजा देने की विधियों का नम्र होना

पैरोल का कानून कठोर न होकर नम्र तथा लचीला होना चाहिए जिससे वे बन्दी अपने तथा समाज दोनों के हित में पर्यवेक्षण की दशाओं के अन्तर्गत रहने के लिए कारागार से मुक्त किये जा सकें जिनको कारागार में बहुत समय तक रखना अनावश्यक एवं हानिकारक है।

योग्य पैरोल बोर्ड

पैरोल बोर्ड में वे ही सदस्य नियुक्त किये जाने चाहिए जिनके उत्तम चरित्र, योग्यता, प्रशिक्षण तथा अनुभव के बारे में कोई सन्देह नहीं है और जो मानव व्यवहार की जटिल समस्याओं पर निष्ठा एवं धैर्यपूर्वक उचित निर्णय ले सकते हैं।

योग्य पैरोल अधिकारी

पैरोल सेवा-कार्य को सम्पादित करने के लिए केवल उसी प्रकार के अधिकारी नियुक्त किए जाने चाहिए जो व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित होने के

साथ-साथ इस प्रकार के अपराधी-सुधार कार्य में विश्वास तथा योग्यता रखते हैं और जो इस कार्य को निष्ठा तथा धैर्यपूर्वक पूरा कर सकते हैं। इसके साथ ही साथ पैरोल व्यवस्था का एक ऐसा प्रशासनिक ढाँचा होना अति आवश्यक है जिसमें पर्याप्त संख्या में इस प्रकार के सभी कर्मचारी हों जिनकी आवश्यकता इस सेवा के विशिष्ट कार्यों के सम्पादन हेतु महत्वपूर्ण समझी जाती है।

पैरोल व्यवस्था राजनैतिक तथा प्रशासनिक जोर-दबावों से मुक्त हो

पैरोल सेवाओं को सम्पादित करनेवाले अधिकारी राजनीतिज्ञों तथा अफसरों के जोर-दबाव तथा सिफारिशों के प्रभाव में आकर अपने निर्णय न लें। इसके लिए यह आवश्यक है कि पैरोल बोर्ड एक ऐसा स्वाधीन विभाग घोषित किया जाये जो आवश्यक राजनैतिक एवं प्रशासनिक हस्तक्षेपों से मुक्त हो और जो कारागार विभाग, समाज-कल्याण विभाग, परिवीक्षा विभाग तथा न्यायालयों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करके आपसी सहयोग के आधार पर अपना समस्त कार्य सम्पादित कर सके।

उचित पैरोल प्रक्रिया

पैरोल पर बंदियों की मुक्ति की वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रक्रिया उन कार्य-विधियों पर आधारित रहनी चाहिए जिसमें वे सभी प्राविधान हों जिनसे बंदियों को उनकी पैरोल पर मुक्ति से पहले ठीक से परख लिया जाये, उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली जाये तथा उनके पर्यवेक्षण की सुविधाओं का प्रबंध तथा आयोजन कर लिया जाय।

सुधार-संस्थाओं तथा कारागारों में पैरोल पर मुक्त किये जाने वाले बंदियों की तैयारी

पैरोल पर बंदियों की मुक्ति के लिए आवश्यक है कि उनके कारावास की अवधि में ही उन्हें इस प्रकार से तैयार करने के प्रयत्न किये जाएँ जिससे वे शारीरिक, मानसिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक रूप से पैरोल पर मुक्ति के लिए योग्य बन जायें।

पैरोल अनुसंधान

पैरोल सेवाओं से सम्बन्धित आँकड़ों को जमा करने, उनका विश्लेषण करने तथा पैरोल सेवा सम्बन्धी अनेक विषयों पर नई जानकारी उपलब्ध कराने के लिए प्रत्येक राज्य में एक पैरोल अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की जानी चाहिए।

पैरोल पर मुक्त किये गये बंदियों के प्रति समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना

बहुधा यह देखा जाता है कि पैरोल पर मुक्त किये गये बंदियों को समाज शंका की दृष्टि से देखने के कारण उन्हें किसी भी प्रकार की आर्थिक तथा व्यावसायिक सहायता नहीं प्रदान करना चाहता। इस प्रकार की सामाजिक अवस्था में मुक्त बंदी निराश होता है और अंत में हताश होकर पुनः कोई न कोई अपराध कर बैठता है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर वर्तमान अपराधशास्त्री यह सिफारिश करते हैं कि कारागार विभाग, समाज-कल्याण विभाग तथा पैरोल बोर्ड द्वारा सम्मिलित रूप से सामान्य जनता को पैरोल के मानववादी दर्शन एवं इसके सुधारात्मक उद्देश्यों के बारे में जानकारी कराना अति आवश्यक है।

पैरोल पर बंदियों की मुक्ति का औचित्य

पैरोल के विरुद्ध सामान्य जनता का रोष अपराध-नियंत्रण की अन्य समस्त विधियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। बहुत से पढ़े तथा बेपढ़े व्यक्ति इसे अपराधियों को छोड़ देने तथा उनके साथ नर्मी दिखाने की एक वैधानिक तथा प्रशासकीय प्रक्रिया मानते हैं। इस सामान्य मत के विपरीत अपराधशास्त्री एवं दंडशास्त्री पूरे जोर शोर से बंदियों की पैरोल पर मुक्ति की व्यवस्था की सिफारिश करते हैं और दंड के आधुनिक विकल्पों में इसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विकल्प मानते हैं। इस प्रकार के विद्वानों का मत है कि पैरोल का मूल्यांकन एक अमूर्त एवं काल्पनिक सिद्धान्त के रूप में न करके उन उपलब्ध विकल्पों की तुलना में किया जाना चाहिए जिनसे अपराधिता का नियंत्रण तथा अपराधियों का सुधार किया जाता है। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि पैरोल अपराधियों को कारागार से मुक्त करने की रीति मृदुल विधि तथा चाल नहीं है। यह वह विधि है जिससे समाज की रक्षा अपराधी घटनाओं से होने के साथ साथ अपराधी को पुनर्समायोजित होने का एक अवसर प्राप्त होता है और वह दुबारा अपराध करने के लिए प्रेरित नहीं होता। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक आयोग ने पैरोल के लाभों का वर्णन निम्नांकित प्रकार से किया[1] :—

(1) पैरोल पर बंदियों की मुक्ति उन्हें कारागार के दोषपूर्ण वातावरण में अधिक समय तक रहने से बचा लेती है।

---

1. यूनाइटेड नेशन्स, पैरोल ऐण्ड आफ्टर केयर (न्यूयार्क : 1924), पृ० 2-5।

(2) पैरोल की विधि अपराधियों को उनकी सजा की अवधि समाप्त होने के कुछ वर्ष पूर्व ही ऐसा अवसर प्रदान करती है जिससे सरकार को यह ज्ञात हो जाता है कि मुक्त बंदी समाज में उत्तरदायित्वपूर्ण रह सकते हैं या नहीं।

(3) पैरोल पर बंदियों की मुक्ति से यह सिद्ध होता है कि बंदी ने कारागार में कुछ सीखा है या नहीं तथा उसका कितना सुधार हुआ है।

(4) पैरोल पर बंदो को मुक्त करने तथा उसे पर्यवेक्षण-सेवाओं के अन्तर्गत रखकर सरकार यह पता लगा सकती है कि कितने प्रतिशत बंदी अपराध के मार्ग त्याग सकने में समर्थ हैं और वे अपनी मुक्ति के उपरान्त अपराधी-व्यवहार की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे।

(5) पैरोल पर मुक्त होने की आशा में बंदी कारागार में अनुशासनपूर्वक रहता है और कारागार के बाहर के समाज में रहनेवाले व्यक्तियों से अपने सम्बन्ध टूटने नहीं देता है।

(6) पैरोल पर मुक्त होने की आशा में बन्दी कारागार के समस्त सुधारात्मक कार्यक्रमों का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहता है।

(7) पैरोल पर मुक्त बंदी पुनः अपराध करने में डरते हैं क्योंकि उनको यह मालूम होता है कि असंतोषजनक व्यवहार करने पर उन्हें पुनः कारागार भेजा जा सकता है।

(8) पैरोल सामाजिक रूप से एक उचित विधि इसलिए है क्योंकि इसके द्वारा समाज उन बंदियों की सहायता कर सकता है जिन्होंने अपराध दोषपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर किया है और जिनकी अपराधिता के लिए समाज उतना ही उत्तरदायी है जितना कि वे स्वयं।

(9) पैरोल दंड की उस कठोरता को कम कर देता है जिसे नैतिक रूप से आज के परिप्रेक्ष्य में अमानवीय समझा जाता है।

(10) पैरोल पर कुछ बंदियों को मुक्त कर देने से सरकार का वह खर्चा बच जाता है जो इन बंदियों को आगे के कई वर्षों तक कारागार में रखने के लिए करना पड़ता।

(11) पैरोल पर बंदियों की मुक्ति से कारागारों में बंदियों की भीड़ कम हो जाती है और कारागार अपने साधनों एवं सुविधाओं के अनुकूल अपना कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं। कारागारों से उन बंदियों की भीड़ छँट जाने पर जिन्हें बहुत समय तक बंद करके रखना आवश्यक है,

कारागार-कर्मचारी अपने सुधार-कार्य के लक्ष्य को पूरा कर सकने में समर्थ हो सकते हैं।

परिवीक्षा एवं पैरोल में सम्बन्ध तथा अन्तर

बहुधा परिवीक्षा और पैरोल को एक दूसरे का पर्यायवाची शब्द मान लेते हैं और उन्हें एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। इसी कारण अपराधशास्त्र की अधिकांश पुस्तकों में दोनों विधियों में सम्बन्ध तथा अन्तर स्पष्ट किया गया गया है। सदरलैंड ने परिवीक्षा तथा पैरोल के सम्बन्ध अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा कि पैरोल परिवीक्षा से सम्बन्धित अवश्य है परन्तु फिर भी इसे परिवीक्षा से भिन्न प्रकार की विधि समझा जाना चाहिए। दोनों विधियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित इसलिए मानी जाती हैं क्योंकि (1) दोनों में अपराधी-सुधार का दर्शन निहित है, (2) दोनों ही प्राचीन अपराधिक न्याय-विधि का विरोध करती हैं, (3) दोनों में मुक्त किये गये अपराधियों का चयन बड़ी ही सावधानी से किया जाता है, (4) दोनों में मुक्त किए गए अपराधियों को अच्छे आचरण की कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है, (5) दोनों में अपराधियों को अपने मनोसामाजिक समायोजन एवं सामाजिक-आर्थिक पुनर्वासन की सेवाएँ उपलब्ध की जाती हैं, तथा (6) दोनों में निर्धारित शर्तों का सन्तोषपूर्ण विधि से न पालन करने पर कारागार में पुनः भेज दिया जाता है। दोनों में असमानता इतनी है कि—(1) परिवीक्षा की अपेक्षा पैरोल में अपराधी के प्रति दण्डात्मक प्रक्रिया का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, (2) पैरोल प्रोबेशन की अपेक्षा पूर्ण रूप से उपचार की एक विधि नहीं है अर्थात् वह दण्ड के साथ जुड़ी है, (3) पैरोल पर अपराधी की मुक्ति एक बोर्ड द्वारा या किसी वरिष्ठ प्रशासकीय अधिकारी द्वारा उस समय की जाती है जब उसने अपने न्यायालय द्वारा निर्धारित सजा का कुछ या बहुत बड़ा भाग कारागार या सुधार-संस्था में व्यतीत कर रखा है। इसके विपरीत परिवीक्षा में परिवीक्षा पर मुक्ति न्यायालय द्वारा ही उसे बिना कारागार या सुधार-संस्था में भेजे हुए परिवीक्षा-अधिकारी की देख-रेख में रहने के आश्वासन पर कर दी जाती है, (4) परिवीक्षा पर मुक्त किये गये अपराधी पैरोल पर मुक्त किये अपराधियों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहते हैं, (5) परिवीक्षा में दण्ड का न्यायायिक स्थगन हो जाता है जबकि पैरोल में दण्ड मिलता है और मुक्ति उसी दशा में हो सकती है जब दण्ड पाने वाला व्यक्ति अपनी दण्ड-प्राप्ति की अवधि में ऐसा व्यवहार प्रदर्शित करे जिससे कारागार के कर्मचारियों तथा पैरोल बोर्ड के सदस्यों को यह विश्वास हो जाये कि उसे उत्तम

आचरण के आश्वासन पर उसकी सजा की समाप्ति के कुछ वर्ष पूर्व मुक्त किया जा सकता है, (6) परिवीक्षा की अपेक्षा पैरोल की विधि कठोर है और इसका लाभ उतनी सरलता से नहीं प्राप्त किया जा सकता जितनी सरलता से परिवीक्षा पर मुक्ति का लाभ प्राप्त हो जाता है, (7) परिवीक्षा की अपेक्षा पैरोल पर मुक्त होने के लिए अपराधी को बड़ी मेहनत तथा दौड़-धूप करनी पड़ती है, तथा (8) परिवीक्षा की अपेक्षा पैरोल में पुनः दण्डित होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

भारतीय पैरोल व्यवस्था

परिवीक्षा की ही भाँति पैरोल पर बन्दियों की मुक्ति का सर्वप्रथम प्राविधान अपराधिक विधि-संहिता (दि कोड आफ क्रिमिनल प्रोसीजर, 1898) की धारा 401 में किया गया। इस धारा के अनुसार उपयुक्त सरकार किसी सजा पाये अपराधी व्यक्ति को किसी भी समय बिना शर्तों के या उन शर्तों के ऊपर जिन्हें वह व्यक्ति स्वीकार करता है, उसकी सजा के कार्यान्वियन को निलम्बित कर सकती है या उसकी पूरी सजा अथवा उसके दण्ड के किसी भी भाग को समाप्त कर सकती है। इस धारा का प्रयोग करने के लिए समुचित सरकार उस न्यायालय के न्यायाधीश (जिसने सजा दी है) से यह लिखकर पूछती है कि वह (न्यायाधीश) अपने मत को तर्क सहित लिखकर भेजे कि क्या अपराधी के प्रार्थनापत्र पर उसे कारागार से मुक्ति प्रदान की जा सकती है। इसके अतिरिक्त धारा 402 के अन्तर्गत समुचित सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह भारतीय दण्ड-संहिता की धारा 54 तथा 55 के अन्तर्गत दिए गए मृत्यु-दण्डादेश एवं आजीवन कारावास के दण्डादेश का न्यूनीकरण कर सकती है। निम्नलिखित अपराध करने वाले बंदियों को पैरोल पर मुक्त नहीं किया जाता—बलात्संग, ठगी, डकैती, डरावने अपराध, भ्रष्टाचार तथा काला-बाजारी आदि। इस प्रकार भारतीय दण्ड-संहिता, 1860 (दि इंडियन पेनल कोड) की धारा 376 (बलात्संग के लिए दण्ड), धारा 396 (हत्या सहित डकैती), धारा 400 (डाकुओं की टोली का होने के लिए दण्ड), धारा 402 (डकैती करने के प्रयोजन से एकत्रित होना), धारा 467 (मूल्यवान प्रतिभूति, विल इत्यादि की कूटरचना), धारा 471 (कूटरचित दस्तावेज को असली के रूप में प्रयोग में लाना), धारा 472 (धारा 467 के अधीन दण्डनीय कूटरचना करने के आशय से कूटकृत मुद्रा आदि का बनाना या कब्जे में रखना), धारा 474 (धारा 466 या 467 में वर्णित दस्तावेज को, उसे कूटरचित जानते हुए और उसे असली

के रूप में उपयोग में लाने का आशय रखते हुए कब्जे में रखना) तथा धारा 489 (करेन्सी नोटों या बैंक नोटों का कूटकरण और कूटरचित या कूटकृत करेंसी नोटों या बैंक नोटों को असली के रूप में उपयोग में लाना) के अंतर्गत अपराध करने वालों को पैरोल पर मुक्त नहीं किया जाता।

पैरोल पर परिवीक्षा की भाँति भारत में आज तक कोई राष्ट्रीय स्तर का अधिनियम नहीं पारित किया जा सका है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाना तथा मध्य प्रदेश ही ऐसे कुछ प्रांत हैं जिनमें बंदियों की सजा की अवधि समाप्त होने के पूर्व मुक्ति के अधिनियम बने हुए हैं। अन्य प्रांतों में पैरोल पर बंदियों की मुक्ति उन प्रशासनिक कानूनों के द्वारा की जाती है जो इन प्रांतों की जेल नियमावलियों में दिये गये हैं किंतु पैरोल का अधिनियम नहीं पारित किया जा सका है। नैशनल इंस्टिट्यूट आफ सोशल डिफेन्स डिपार्टमेण्ट आफ सोशल वेलफेयर, गवर्नमेंट आफ इण्डिया, न्यू दिल्ली ने सेण्ट्रल ऐडवाइजरी बोर्ड आन करेक्शनल सर्विसेज की 20 मार्च 1976 को होने वाली सातवीं मीटिंग में पैरोल के विषय पर एक राष्ट्रीय अधिनियम की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :—

(1) इस अधिनियम को प्रिजनर्स रिलीज आन पैरोल ऐक्ट कहा जाये।

(2) इस अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार दिया जाये कि वह उन समस्त सजा पाये हुए बंदियों को उनके पहले के जीवन-वृत्तांत, आचरण एवं व्यवहार की जाँच करने के बाद पैरोल पर पर्यवेक्षण की दशा में परिवीक्षा अधिकारी या किसी राज्य द्वारा स्वीकृत संस्था या व्यक्ति की देख-रेख में रहने के आश्वासन पर मुक्त कर सके जिन्हें भारतीय दंड-संहिता की कुछ विशिष्ट धाराओं (धारा 376, 396, 400, 402, 467, 471, 474, 489) के अंतर्गत अपराध करने का दोषी ठहरा कर दंड नहीं दिया गया है।

(3) इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकार के बन्दियों को पैरोल पर मुक्ति के लिए योग्य समझा जाना चाहिए :—

संख्या	बन्दी का प्रकार	सजा की पूर्ण अवधि	पुनरीक्षण का समय
1.	महिला अपराधी	उन समस्त अपराध के लिए मिली कारावास की सजा जो सामाजिक परिस्थितियों के दबाव में आकर किये गये हों	कारागार में प्रवेश के अवसर पर।

संख्या	बन्दी का प्रकार	सजा की पूर्ण अवधि	पुनरीक्षण का समय
2.	अनभ्यासिक महिला अपराधी	तीन वर्ष या उससे अधिक कारावास की सजा	अपने द्वारा काटी गई सजा के दिनों तथा छूट के दिनों को मिलाकर पूरी सजा का आधा भाग पूरा कर लेने के बाद।
3.	अनभ्यासिक वयस्क पुरुष अपराधी	तीन वर्ष या उससे अधिक के कारावास की सजा	अपने द्वारा काटी गई सजा के दिनों तथा छूट के दिनों को मिलाकर पूरी सजा का आधा भाग पूरा कर लेने के बाद।
4.	अनभ्यासिक वयस्क पुरुष अपराधी	पाँच वर्ष या उससे अधिक के कारावास की सजा	अपने द्वारा काटी गई सजा के दिनों तथा छूट के दिनों को मिलाकर दो तिहाई भाग पूरा कर लेने के बाद।
5.	अभ्यासिक अपराधी	पाँच वर्ष या उससे अधिक के कारावास की सजा	अपने द्वारा काटी गई सजा के दिनों तथा छूट के दिनों को मिलाकर दो तिहाई भाग पूरा कर लेने के बाद।
6.	(क) आजन्म कारावास की सजा पाये हुए महिला अपराधी	आजन्म कारावास की सजा	छूट के दिन मिलाकर 10 वर्ष की सजा काट लेने के बाद।
	(ख) अनभ्यासिक किशोर अपराधी	आजन्म कारावास की सजा	छूट के दिन मिलाकर 10 वर्ष की सजा काट लेने के बाद।
	(ग) अभ्यासिक तथा अनभ्यासिक वयस्क अपराधी	आजन्म कारावास की सजा	छूट के दिन मिलाकर अपनी सजा का दो तिहाई भाग काट लेने पर।
7.	वृद्ध तथा शारीरिक रूप से शिथिल अपराधी	तीन वर्ष या उससे अधिक की सजा	छूट के दिन मिलाकर अपनी सजा का आधा भाग काट लेने पर।

(4) प्रत्येक राज्य में एक पुनरीक्षण मंडल (रिव्यू बोर्ड) की स्थापना सरकार द्वारा की जानी चाहिए।

(5) इस पुनरीक्षण मंडल में निम्नलिखित पदाधिकारी होने चाहिए :—

(क) सभापति—प्रदेश के कारागारों का महानिरीक्षक।

(ख) सदस्य सचिव—कारागार का अधीक्षक।

(ग) सदस्य—

(i) जिला मजिस्ट्रेट।

(ii) अपराध-निरोध एवं अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करने वाले दो समाज-कार्यकर्ता।

(iii) अपराध-निरोध एवं अपराधी-सुधार के क्षेत्र में प्रशिक्षण तथा शोध कार्य करने वाला एक विश्वविद्यालय स्तर का विशेषज्ञ।

(iv) जिला न्यायाधीश।

(v) बाल तथा वयस्क अपराधियों की संस्थाओं का प्रशासन कार्य सम्पादित करने वाले दो ऐसे व्यक्ति जिन्हें अपराधी-सुधार के क्षेत्र में आवश्यक अनुभव प्राप्त हो।

(vi) पुनरीक्षण मंडल के सभापति एवं सदस्यों का कार्य-काल तीन वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिए।

(vii) पुनरीक्षण मंडल की बैठक जल्दी जल्दी होनी चाहिए और इन बैठकों में उन सभी पैरोल पर मुक्त किये जाने के योग्य व्यक्तियों के मामलों को निम्नलिखित आधारों पर तय किया जाना चाहिए : (अ) कारागार अधीक्षक की रिपोर्ट, (ब) कारागार के चिकित्सा अधिकारी की रिपोर्ट, (स) परिवीक्षा अधिकारी की रिपोर्ट, तथा (द) पुलिस अधीक्षक एवं जिला मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट।

(viii) यदि पुनरीक्षण मंडल उपर्युक्त वर्णित अधिकारियों की रिपोर्टों पर विचार करने के बाद यह तय करता है कि बंदी को पैरोल पर मुक्त नहीं किया जा सकता तब पुनरीक्षण मंडल को अपने इस निर्णय के लिए तर्क लिखकर प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही साथ इन बंदियों के मामलों पर पुनः विचार की तिथि भी पुनरीक्षण मंडल को बतानी चाहिए।

(ix) यदि पुनरीक्षण मंडल उपर्युक्त वर्णित अधिकारियों की रिपोर्टों में पैरोल पर बंदी के मुक्त न किये जाने की सिफारिश को अस्वीकार

करके बंदी की पैरोल पर मुक्ति का निर्णय लेता है तब मंडल को ऐसा निर्णय लेने के लिए अपने तर्क लिख कर प्रस्तुत करने चाहिए।

(x) पुनरीक्षण मंडल की समस्त मीटिंगों की कार्यवाही का विवरण राज्य सरकार को भेजना चाहिए।

(xi) राज्य सरकार को यह अधिकार होना चाहिए कि वह पुनरीक्षण मंडल की सिफारिश को स्वीकार करके निर्दिष्ट बंदी को पर्यवेक्षण की शर्तों पर या शर्तों के बिना परिवीक्षा अधिकारी की देख-रेख में रहने अथवा न रहने की दशा पर मुक्त होने का आदेश दे सके।

(xii) पैरोल पर बंदी की मुक्ति का आज्ञापत्र उसी दिन से कार्यान्वित माना जाना चाहिए जिस दिन से उसे कारागार से मुक्त किया गया है।

(xiii) सरकार को यह अधिकार होना चाहिए कि वह किसी भी समय अपने द्वारा बंदी को लिख कर बताये गये कारणों के आधार पर पैरोल पर मुक्ति की आज्ञा का प्रतिसंहरण करने के पहले पैरोल पर मुक्त किये गये बंदी के द्वारा अपने बचाव के लिए दी गई दलीलों को सुन सके।

(xiv) पैरोल पर मुक्त बंदी के द्वारा पुनरीक्षण मंडल द्वारा लगाई गई शर्तों का ठीक से पालन न करने पर उसे पुनः उस अवधि तक के लिए कारागार भेज दिया जाना चाहिए जो अवधि उसके दंड की पूर्ण अवधि के समाप्त होने में शेष रह गई है।

पैरोल की व्यवस्था की समस्याएँ

परिवीक्षा व्यवस्था की अपेक्षा पैरोल पर अपराधियों को मुक्ति की विधि भारत में आज भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाई है। इस प्रकार के भी अपराधी अपनी पूरी सजा की अवधि इन भीड़भरे कारागारों में बिता रहे हैं जिनमें उनका रहना हानिकारक है तथा जिनके पैरोल पर मुक्त कर देने से समाज को क्षति पहुँचने की सम्भावना बहुत कम है। लगभग सभी राज्यों के पुनरीक्षण मंडल उस कंजूस व्यापारी की भाँति कार्य कर रहे हैं जो अपने अच्छे तथा खोटे दोनों प्रकार के सिक्कों को एक ही तिजोरी में जमा करके रखना चाहता है। बहुत बार यह भी देखा गया है कि पुनरीक्षण मण्डल राजनैतिक जोर दबावों में आकर उन अपराधियों की मुक्ति कर देते हैं जो पैरोल पर मुक्ति के योग्य नहीं हैं, परन्तु जिन्हें इसलिए मुक्त कर दिया जाता है कि वे घूस देकर या कोई बड़ी

सिफारिश लाकर कारागार अधीक्षकों, परिवीक्षा अधिकारियों, जिला मजिस्ट्रेटों, पुलिस अधीक्षकों तथा न्यायाधीशों से अपने बारे में अच्छी रिपोर्ट लिखवा लेते हैं। इस स्थिति में जनता का विश्वास पैरोल व्यवस्था की निष्पक्षता से हट जाता है। बहुधा यह भी देखने में आता है कि पुनरीक्षण में उस प्रकार के सदस्य नियुक्त हो जाते हैं जिनको अपराधी-सुधार के क्षेत्र का कोई विशेष ज्ञान नहीं है और जिनका प्रमुख कार्य मंडल के निष्ठावान सदस्यों के निर्णयों में हस्तक्षेप करना है। सामान्य बंदियों के मन में पैरोल की न्यायिक निष्पक्षता के बारे में अनेक सन्देह इसलिए बने रहते हैं क्योंकि वे रोज देखते रहते हैं कि कुछ ऐसे बंदी पैरोल पर मुक्त हो जाते हैं जो इस मुक्ति के योग्य नहीं हैं और जिनकी मुक्ति का कारण केवल उनका सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक रूप से साधन-सम्पन्न होना है। पैरोल पर मुक्त किये गये बंदियों की सबसे बड़ी समस्या कुछ पुलिस अधिकारियों की धांधली से उत्पन्न होती है। बहुधा पुलिस के अधिकारी पैरोल पर मुक्त किये गये बंदियों को शंका की दृष्टि से देखते हैं और इस फिराक में रहते हैं कि उन्हें फिर किसी अपराध की घटना में कैसे फँसाकर कारागार भेज दिया जाये। जब भी कभी गाँव, नगर या समुदाय में कोई अपराध की घटना घटित होती है तब सबसे पहले पुलिस पैरोल पर मुक्त बंदियों की पकड़-धकड़ करने की चेष्टा करती है और बहुधा उन्हें पुनः पकड़कर बंद कर देती है। इस कारण पैरोल की असफलता के मामलों की संख्या पैरोल के सफल मामलों की संख्या से बढ़ जाती है और साधारण नागरिक इन असफलता के आँकड़ों को देखकर चिल्लाने लगता है कि पैरोल अपराधी-सुधार की एक असफल विधि है। पैरोल व्यवस्था की एक अन्य समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि जिला मजिस्ट्रेट अपनी रिपोर्ट बहुधा पुलिस के द्वारा दी गई सूचना के आधार पर तैयार करता है और पुलिस के सिपाही और दारोगा एक बार अपराध करने वाले व्यक्ति की मुक्ति के बारे में कभी भी सहायतात्मक दृष्टिकोण नहीं रखते। फल यह होता है कि जिला मजिस्ट्रेट तथा पुलिस अधीक्षक की रिपोर्ट एक जैसी होती है और इन दोनों रिपोर्टों में बंदी के पैरोल पर मुक्त होने से अपराध बढ़ने की सम्भावना व्यक्त की जाती है और यह कह दिया जाता है कि बंदी अपने विगत अपराधिक कार्यकलापों में पुनः कार्यरत हो जायेगा। पैरोल पर मुक्त बंदियों की देख-रेख करने वाले परिवीक्षा अधिकारी अपनी कार्यव्यस्तता तथा पर्यवेक्षण की आवश्यक सुविधाओं के अभाव में इस प्रकार से मुक्त बंदियों का मार्ग-निर्देशन करने तथा उन्हें वांछित सहायता के साधन एवं सेवाएँ उपलब्ध करने में असमर्थ रहते हैं। अन्त में पैरोल व्यवस्था की वह समस्या आती है जो जनता के दृष्टिकोण

से उत्पन्न होती है। आम जनता इन व्यक्तियों को शंका की दृष्टि से देखती है और उन्हें अपराधी प्रवृत्ति का व्यक्ति मानकर किसी भी प्रकार की सामाजिक या आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर देती है। पैरोल पर मुक्त बंदियों को साधारण लोग नौकरी देने में झिझकते हैं और यह कहते हैं कि जब सरकार स्वयं इन व्यक्तियों को स्वीकार नहीं करती तो साधारण नागरिक से यह आशा करना ही व्यर्थ है कि वह इनको सहायता पहुँचायेगा। इस सामाजिक-आर्थिक वातावरण में पैरोल पर मुक्त अपराधी अपने अपराध के कलंक को ढोते ढोते हताश हो जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि उनके लिए कारागार ही ऐसा स्थान है जहाँ उन्हें शरण मिल सकती है। परिणाम यह होता है कि वे पुनः अपराध करते हैं और अपने पुराने शरणालय (कारागार) में लौट जाते हैं।

पैरोल व्यवस्था में सुधार करने के हेतु सुझाव

पैरोल व्यवस्था में व्याप्त कमियों तथा इसके उचित कार्यान्वयन में उत्पन्न समस्याओं को दूर करने के लिए जो सुझाव अपराधशास्त्रियों द्वारा दिये जा रहे हैं उनमें प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(1) पुनरीक्षण मण्डल के सदस्यों तथा इसके अधिकारियों एवं कर्मचारियों की व्यावसायिक रूप में प्रशिक्षित होने के साथ साथ कर्तव्यनिष्ठ तथा अनुभवी एवं कुशल कार्यकर्ता होना।

(2) जिन सूचनाओं पर पुनरीक्षण मण्डल बन्दी की पैरोल पर मुक्ति का निर्णय लेता है उनका सम्पूर्ण तथा विश्वसनीय होना।

(3) पुनरीक्षण मण्डल के निर्णयों का निष्पक्ष एवं समदर्शी होना। इसके लिए आवश्यकता है एक ऐसी नीति के निर्धारण की जिसका प्रयोग एक जैसे मामलों में एक जैसा ही होता रहे।

(4) पैरोल पर मुक्त किये जानेवाले बन्दियों में वरीयता उन बन्दियों को दी जानी चाहिए जिनका कोई स्थायी निवास, संगठित परिवार तथा स्थायी उद्यम एवं व्यवसाय है और जिनका पिछला जीवन-वृत्तान्त अपराधिक नहीं है।

(5) पैरोल की दशाओं का उल्लंघन करनेवाले अपराधियों के प्रति कड़ी कार्यवाही करना आवश्यक है। परन्तु इस स्थान पर यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि छोटा मोटा प्राविधान उल्लंघन करने पर इस प्रकार के अपराधी व्यक्तियों को पुनः कारागार भेजने पर बल नहीं दिया जाना चाहिए। साधारण प्रकार का उल्लंघन करनेवाले पैरोल पर मुक्त

अपराधियों के लिए दण्ड के स्थान पर मार्ग-निर्देशन एवं सहायतात्मक परामर्श को महत्व प्रदान किया जाना चाहिए।

(6) पैरोल पर मुक्त बन्दियों का पर्यवेक्षण पुलिस की निगरानी जैसा न होकर वैयक्तिक सेवा-कार्य की विधियों पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार का पर्यवेक्षण एक मनोसामाजिक चिकित्सा की भाँति होगा जिसमें परिवीक्षा अधिकारी पैरोल पर छूटे बन्दी के लिए एक मार्ग-निर्देशक तथा मित्र की भाँति कार्य करेगा। इस प्रकार के पर्यवेक्षण में परिवीक्षा अधिकारी एक ट्रैफिक पुलिसमैन की भाँति कार्य कर सकेगा। परिवीक्षा अधिकारी का यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि वह अपने सेवार्थी (अपराधी व्यक्ति) को सहायता हर सम्भव प्रकार से करने का भरसक प्रयत्न करेगा।

(7) पैरोल व्यवस्था के पर्यवेक्षण पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक यह होगा कि पैरोल पर मुक्त किये गये अपराधियों के पर्यवेक्षण का दायित्व परिवीक्षा अधिकारियों को न सौंप कर पैरोल अधिकारियों को सौंपा जाये। ऐसा तभी किया जा सकता है जब प्रत्येक जिले में पैरोल पर मुक्त किये गये बन्दियों की संख्या को ध्यान में रखते हुए ऐसे पैरोल अधिकारियों की नियुक्ति की जाये जो व्यावसायिक समाज-कार्य में डिग्री लिए हुए हैं और जिनमें अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करने की कुशलता तथा रुचि है। अतः इन अधिकारियों का मनोबल ऊँचा बनाये रखने के लिए उन्हें अच्छा वेतन देना पड़ेगा, उन्हें आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करनी पड़ेंगी तथा उनको पदोन्नति के पर्याप्त अवसर प्रदान करने पड़ेंगे।

(8) पैरोल पर मुक्त किये गये बन्दी कारागारों के वे ही संवासी होने चाहिए जिन्हें कारागार में उनकी सजा के आरम्भ से ही इस स्वतन्त्रता के जीवन का प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका है। वास्तव में पैरोल पर एक न एक दिन मुक्त होने की सम्भावना को ध्यान में रखकर कारागार के कर्मचारियों के द्वारा बन्दियों की तैयारी उसी दिन से आरम्भ की जानी चाहिए जिस दिन से उन्होंने कारागार में प्रवेश लिया है। चूँकि आत्म-नियन्त्रण में स्वतन्त्रता की दशाओं का प्रयोग एक कला है अतः पैरोल पर मुक्त किये बन्दियों को इस कला का ज्ञान अपने कारावास के दिनों में ही कराया जाना आवश्यक है। ऐसा होने से ही वे अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर पाएँगे।

(9) पैरोल पर वे ही बन्दी मुक्त किये जाने चाहिए जिनकी मुक्ति की सिफारिश कारागार के अधिकारियों के द्वारा की गई है।

(10) पैरोल व्यवस्था को सफल बनाने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी समाज-कल्याण संस्थाओं, मुक्त बन्दी सहायता संगठनों तथा वैयक्तिक रूप से समाज-सेवा करनेवाले व्यक्तियों का पूरा पूरा सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की जानी चाहिए।

(11) पैरोल व्यवस्था के बारे में जनता की इस प्रमुख भ्रांति को दूर करना आवश्यक है जिसमें जनता समझती है कि पैरोल एक वह विधि है जिसमें कुछ सिफारिश करा सकनेवाले अपराधी व्यक्ति छोड़ दिये जाते हैं। यह भ्रांति तभी दूर हो सकती है जब पुनरीक्षण मण्डल द्वारा निष्पक्षता एवं ईमानदारी से निर्णय लिए जाएँ तथा ये ही बन्दी मुक्त किये जाएँ जो अपनी प्रदत्त स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर सकें तथा अपराध की पुनरावृत्ति न करें।

(12) पैरोल बोर्ड का एक स्वाधीन विभाग के रूप में काम करना तथा राजनैतिक एवं प्रशासकीय हस्तक्षेप और जोर दबाव से मुक्त होना।

(13) एक आदर्श पैरोल अधिनियम पारित होना जिसमें बहुत अधिक कानूनी बारीकियाँ न हों और जिसमें वर्णित कार्य-विधियाँ सरल एवं स्पष्ट हों।

(14) प्रत्येक राज्य में एक ऐसे पैरोल डायरेक्टरेट का होना जिसकी शाखाएँ प्रत्येक जिले में हों।



अध्याय 13

उत्तर-रक्षा

प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी में पाई जाने वाली अपराधी-सुधार एवं पुनर्वासन की नई योजना में अपराधियों के सुधार के संस्थागत कार्यक्रमों को उन कार्यक्रमों के साथ जोड़कर देखा जा रहा है जो कारागार तथा सुधार-संस्थाओं से हटकर समुदाय एवं समाज में स्थापित हैं और जिनका उद्देश्य सुधारात्मक संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों की रक्षा उस समय तक करना है जब तक समुदाय तथा समाज में संतोषजनक पुनर्वासन सम्भव न हो जाये। आज के समस्त दण्डशास्त्री तथा सुधार-कार्य करने वाले सरकारी एवं गैर-सरकारी व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि अपराधी-सुधार के संस्थात्मक कार्यक्रम पूरी तरह से व्यर्थ इसलिए सिद्ध होते हैं क्योंकि इन कार्यक्रमों के एकाएक समाप्त होने के बाद इन कार्यक्रमों से लाभान्वित व्यक्ति समुदाय एवं समाज में अपने को निस्सहाय पाते हैं और पुनर्वासन सम्बन्धी आवश्यक सेवाओं की प्राप्ति के अभाव में अपराधिकता के चक्रव्यूह में पुनः फँस जाते हैं। पीटर गरावेदियन के अनुसार ऐसा इसलिए होता है क्योंकि समुदाय तथा समाज में सुधार-संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों की देख-रेख का कोई सन्तोषजनक कार्यक्रम अधिकांश देशों में सामान्यतः नहीं पाया जाता। इनके अनुसार सुधार-व्यवस्था की असफलता उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों की अनुपस्थिति में होती है। उन्होंने यह भी कहा कि जब तक समुदाय सुधार-संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों की उचित रक्षा एवं सहायता कर पाने में असमर्थ है तब तक जो अपराधी व्यक्ति कारागार या सुधार संस्था से मुक्त होकर आएंगे, वे पुनः अपराध करने के लिए विवश होंगे और पुनः उसी कारागार या सुधार-संस्था में पहुँच जायेंगे।[1]

---

1. पीटर गरावेदियन, "चैलेन्जेज़ फार कान्टेम्पोररी करेक्शन्स," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 33, मार्च 1969, पृ० 3–10।

उत्तर-रक्षा की अवधारणा

उत्तर-रक्षा एक व्यापक अवधारणा है जिसके अन्तर्गत वे समस्त कार्यक्रम एवं सेवाएँ सम्मिलित हैं जो ऐसे व्यक्तियों के लिए आयोजित की जाती हैं जो शारीरिक तथा मानसिक रूप से विकलांग हैं और जिन्होंने कभी न कभी सुधार एवं चिकित्सा की संस्थाओं में कुछ वर्ष तक रहकर संस्थात्मक कार्यक्रमों की सेवाएँ प्राप्त की हैं।[1] उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों एवं सेवाओं का उद्देश्य विचलित, रुग्ण तथा असामाजिकता की मनोवृत्तियों से ग्रस्त व्यक्तियों के सुधार एवं पुनर्वासन की प्रक्रिया को इस प्रकार से पूरा करता है जिससे वे पुनः अपने पुराने जीवन में लौट जाने के लिए विवश न हों। आलंकारिक भाषा में उत्तर-रक्षा के कार्यक्रम तथा सेवाएँ अपराधियों को प्रदान की गई स्वास्थ्य-लाभ की वह व्यवस्था है जो चिकित्सालयों से मुक्त रोगियों की देख-रेख के कार्यक्रमों से बहुत सीमा तक मिलती है। अखिल भारतीय कारागार नियमावली समिति ने उत्तर-रक्षा को एक वह सेतु (पुल) माना जो अपराधियों को कारागारों के कृत्रिम एवं संशोधित वातावरण से बाहर निकाल कर उन्हें ऐसे मार्ग पर खड़ा कर देता है जहाँ से वे अपना लक्ष्य स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। अपराधी-सुधार की दिशा का यह वह बिन्दु है जहाँ पर संस्थागत सुधार-सेवाएँ समाप्त हो जाती हैं और असंस्थागत सुधार एवं पुनर्वासन की सामुदायिक तथा सामाजिक सेवाएँ आरम्भ होती हैं।[2] उत्तर-रक्षा इस प्रकार सुधारात्मक एवं पुनर्वासात्मक सेवाओं को जारी रखने की वह प्रक्रिया है जो उस समय तक चलती है जब तक सुधार-संस्थाओं से मुक्त अपराधी व्यक्ति समाज में समायोजित न हो जाएँ।[3] इस प्रकार उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों तथा सेवाओं का मुख्य उद्देश्य यह है कि सुधार-संस्थाओं से मुक्त अपराधी व्यक्ति एक आदर्श नागरिक की भाँति आत्म-सम्मान तथा आत्म-विश्वास सहित सामान्य जीवन व्यतीत करने लगे।[4] संक्षेप में उत्तर-रक्षा अपराधी-सुधार एवं पुनर्वासन की दिशा में वह अगला चरण है जो मुक्ति-पूर्व दी गई सहायता की एक प्रमुख विधि होने के साथ ही साथ अपराधी-सुधार संस्थाओं के चिकित्सात्मक एवं प्रशिक्षणात्मक कार्यक्रमों से जुड़ा है। यह

---

1. सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड, रिपोर्ट आफ दि ऐडवाइजरी कमेटी आन आफ्टर केयर (दिल्ली : 1954), पृ० 1।
2. रिपोर्ट आफ दि आल इण्डिया जेल मैनुअल कमेटी (1957), पृ० 69।
3. माडेल प्रिजन मैनुअल, 1970, पृ० 270।
4. रिपोर्ट आफ दि यूनाइटेड प्राविंसेज जेल रिफार्म्स कमेटी, 1946, पृ० 54।

वह प्रक्रिया है जिससे अपराधी-सुधार संस्थाओं से मुक्त व्यक्ति सरलता से समाज में पुनर्वासित होते हैं ।[1]

उत्तर-रक्षा सेवा की विशेषताएँ

रिपोर्ट आफ दि ऐडवाइजरी कमेटी आन आफ्टर केयर ने उत्तर-रक्षा सेवा की निम्नलिखित विशेषताएँ बतायीं[2] :—

(1) यह सेवा उन व्यक्तियों के लिए बनी है जो कुछ समय तक सुधार-संस्थाओं में रह चुके हैं और जिन्हें संस्थागत सुधार-सेवाएँ प्रदान की जा चुकी हैं।

(2) यह सेवा उन व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण समझी जाती है जो सामाजिक, शारीरिक तथा मानसिक रूप से विकलांग समझे जाते हैं।

(3) यह सेवा उपर्युक्त वर्णित व्यक्तियों के सुधार एवं पुनर्वासन की प्रक्रिया को इस प्रकार से पूरा करने के लिए उपलब्ध की जाती है जिससे वे पुनः अपने पुराने जीवन को न अपनाएँ ।

(4) यह सेवा चिकित्सा एवं सुधार-संस्थाओं से व्यक्तियों में आत्म-विश्वास की भावना को बढ़ाने के लिए उपलब्ध की जाती है ।

उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों के विकास का इतिहास

कारागारों से मुक्त बन्दियों की उत्तर-रक्षा का विकास सबसे पहले अमरीका के फिलाडेलफिया नगर में 1787 के लगभग हुआ। बन्दियों को सहायता पहुँचाने वाले इस संगठन को फिलाडेलफिया सोसाइटी फार दि रिलीफ आफ डिस्ट्रेस्ड की संज्ञा प्रदान की गई। इस सोसाइटी को फिलाडेलफिया के उन प्रबुद्ध एवं साधन-सम्पन्न नागरिकों का सहयोग प्राप्त था जो कारागारों से मुक्त बन्दियों को सामाजिक एवं आर्थिक सहायता पहुँचा कर उन्हें समाज में पुनर्वासित करना चाहते थे। 1846 में प्रिजन ऐसोशिएसन आफ न्यूयार्क ने अपराधियों की उत्तर-रक्षा का एक कार्यक्रम बनाया और जनता से यह अनुरोध किया कि वह कारागारों एवं सुधार संस्थाओं से मुक्त अपराधियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखे। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में मुक्त बन्दीगृहों (होम्स फार दि डिसचार्ज्ड प्रिजनर्स) तथा हाफ वे हाउसेज की स्थापना अमरीका के सभी बड़े शहरों में की

1. सेन्ट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज, वर्किंग पेपर आन प्रिजन प्रोबेशन ऐन्ड आफ्टर केयर, 1969, पृ० 18।
2. रिपोर्ट आफ दि ऐडवाइजरी कमेटी आन आफ्टर केयर, पृ० 1-2।

गई जिसमें कारागार अथवा सुधार-संस्थाओं से मुक्त बन्दियों के रहने, खाने-पीने तथा उनके मार्ग-निर्देशन की सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। आज के सन्दर्भ में अमरीका में अपराधियों की उत्तर-रक्षा के कार्यक्रम व्यापक स्तर पर चलाये जा रहे हैं और उत्तर-रक्षा संगठनों द्वारा उन समस्त प्रकार के व्यक्तियों को आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है जो कारागारों तथा सुधार-संस्थाओं से मुक्त किए जाते हैं।

इंगलैंड में उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों का विकास 1948 में क्रिमिनल जस्टिस ऐक्ट पारित होने के बाद हुआ। 1949 में इंगलैंड के केन्द्रीय उत्तररक्षा संघ (सेंट्रल आफ्टर केयर ऐसोसियेशन) की स्थापना की गई। यह संघ सरकार के द्वारा दी गई आर्थिक आनुदानिक सहायता पर आधारित है और मुक्त बंदी-सहायता समाजों के राष्ट्रीय संघ (नैशनल ऐसोसियेशन फार डिसचार्ज्ड प्रिजनर्स एण्ड सोसायटीज) के साथ सहयोग स्थापित करके निम्नांकित प्रकार के व्यक्तियों को सहायता पहुँचाता है :—(1) केन्द्रीय कारागारों से मुक्त व्यक्ति, (2) अन्य कारागारों से मुक्त वे व्यक्ति जिन्होंने चार वर्ष या इससे अधिक की सजा काटी है तथा (3) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कारागारों से मुक्त महिलाएँ जिन्होंने तीन वर्ष या इससे अधिक की सजा काट ली है।

इस केन्द्रीय उत्तर-रक्षा संघ के अतिरिक्त इंगलैंड में गैर-सरकारी समाज-सेवियों के द्वारा एक अन्य महत्वपूर्ण संस्था अपराधियों की उत्तर-रक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रही है जिसे नैशनल ऐसोसियेशन फार डिस्चार्ज्ड एड सोसायटीज के नाम से जाना जाता है। इस संस्था की शाखाएँ इंगलैंड के प्रत्येक नगर में पाई जाती हैं। नगर-स्थित मुक्त बंदी सहायता संघों के द्वारा निम्नलिखित प्रकार की सेवाएँ उन अपराधियों को प्रदान की जाती हैं जो कारागारों अथवा सुधार-संस्थाओं से मुक्त होते हैं :—

(1) अपराधियों को उनकी मुक्ति के उपरान्त किसी प्रकार की नौकरी ढूंढ़ने में मदद करना। यह मदद श्रम तथा रोजगार मंत्रालय के साथ सम्पर्क स्थापित करके प्रदान की जाती है।
(2) कारागार से मुक्त होने के तुरन्त बाद अपराधी व्यक्ति को नये कपड़े प्रदान करना जिससे वह अच्छे कपड़े पहनकर अपने घर लौटे।
(3) बंदी को रेल का भाड़ा देना जिससे वह अपने घर पहुँच सके।
(4) मुक्त बंदी को उस समय तक आर्थिक सहायता पहुँचाना जब तक वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर न हो जाय।

(5) जिन बंदियों के पास रहने को घर नहीं है उनके लिए शरणालय की व्यवस्था करना।

(6) कामगार बंदियों को औजार तथा औद्योगिक सहायता प्रदान करना।

(7) मुक्त बंदियों का पारिवारिक, सामुदायिक तथा सामाजिक समायोजन कराना तथा उनकी वैयक्तिक तथा पारिवारिक समस्याओं को दूर करने में उनकी मदद करना।

भारत में वयस्क एवं बाल अपराधियों के हेतु आयोजित उत्तर-रक्षा सेवाओं के विकास का इतिहास

भारत में वयस्क तथा बाल अपराधियों के हेतु आयोजित की जाने वाली उत्तर-रक्षा सेवाओं का इतिहास बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से आरम्भ होता है। 1919-1929 की भारतीय कारागार समिति ने कारागारों तथा अपराधी-सुधार-गृहों से मुक्त बंदियों के हेतु उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों तथा सेवाओं की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए यह सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य में उत्तर-रक्षा समितियों का गठन किया जाना आवश्यक है। यह सिफारिश उन मुक्त बंदी सहायता समितियों की बुरी हालत देखकर की गई थी जिनका प्रारम्भ 1894 में उत्तर प्रदेश, 1907 में बंगाल तथा 1914 में बम्बई प्रांत में हुआ था। ये समितियाँ जनता एवं सरकार की उदासीनता और उनके सक्रिय सहयोग के अभाव में अपना कार्य सम्पादन न कर सकीं। भारतीय कारागार समिति की इस सिफारिश को ध्यान में रखकर 1921 में मद्रास प्रिजनर्स एड सोसायटी की स्थापना की गई। इस सोसायटी के कार्य से प्रभावित होकर पंजाब (1927), बंगाल (1928), बम्बई (1933), दिल्ली (1930) तथा उत्तर प्रदेश (1937) में बंदी सहायता सभाओं की स्थापना हुई। यद्यपि प्रांतीय स्तर के ये सभी बंदी-सहायता-समाज गैर-सरकारी संस्था के रूप में चलाये गये परन्तु फिर भी सरकार द्वारा इन समस्त समाजों को आर्थिक अनुदान प्रदान किया गया। इन सभाओं की शाखाएँ राज्य के अधिकांश जिलों में खोली गईं। चूँकि ये सभी संस्थाएँ वयस्क बंदियों की सहायता के लिए बनाई गई थीं, अतः बाल अधिनियमों के पारित होने के बाद मद्रास (1925) तथा बम्बई (1927) में चिल्ड्रेन एड सोसायटीज की स्थापना हुई। बम्बई प्रांत की चिल्ड्रेन एड सोसायटी के कार्य को विस्तृत रूप से चलाने के लिए बाम्बे स्टेट प्रोबेशन एवं आफ्टर केयर ऐसोसियेशन की स्थापना की गई।

मुक्त बन्दी सहायता समाजों के उद्देश्य एवं कार्य

(अ) दि मद्रास डिस्चार्ज्ड प्रिजनर्स ऐड सोसायटी

(1) अपराधियों को उनकी मुक्ति के उपरान्त ऐसी समस्त सहायता पहुँचाना जिसकी आवश्यकता उन्हें कारागार से मुक्त होने के तुरन्त बाद महसूस होती है।

(2) अभ्यासिक अपराधियों को अपराध के जीवन से मुक्त कराना तथा उन्हें उनकी कारागार से मुक्ति के उपरान्त ईमानदारी का जीवन बिताने में मदद करना।

(3) आकस्मिक तथा बाल अपराधियों को अभ्यासिक अपराधी बनने से बचाने के लिए विशेष सहायता सेवाओं का प्रबन्ध करना।

(4) अपराधिक अधिनियमों तथा अपराधिक न्याय-व्यवस्था में संशोधन करने का प्रयत्न करना जिससे केवल वे ही अपराधी कारागार भेजे जाएँ जिनका समाज में रखकर सुधार करना सम्भव नहीं है।

(5) उपर्युक्त कार्यों को करने के लिए चन्दे द्वारा धन एकत्रित करना जिससे कारागारों से मुक्त बन्दियों को उनके आर्थिक-सामाजिक पुनर्वासन हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की जा सके।

(ब) दि महाराष्ट्र प्रोबेशन ऐन्ड आफ्टर केयर ऐसोसिएशन

(1) बाम्बे चिल्ड्रेन ऐक्ट के कार्यान्वियन के लिए प्रयत्न करना।

(2) बाम्बे बोर्स्टल स्कूल्स ऐक्ट के तत्वावधान में कार्य करना।

(3) बाम्बे प्रोबेशन आफ आफेन्डर्स ऐक्ट के अन्तर्गत सुधार-सेवाओं का आयोजन करना।

(4) कारागारों तथा सुधार-संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों को सहायता पहुँचाना।

(5) आफ्टर केयर होस्टलों की स्थापना करना।

(6) उन अपराधियों की देख-रेख करना जो लाइसेन्स पर छोड़े गये हैं।

(7) अपराधियों को उनकी मुक्ति के बाद अपनी निगरानी में रखना।

(स) पश्चिमी बंगाल आफ्टर केयर ऐसोसिएशन फार जुवेनाइल्स ऐन्ड ऐडोलिसेन्ट्स

(1) अपराधियों के साथ उनकी कारागार से मुक्ति के पहले सम्पर्क स्थापित करना।

(2) कारागार से मुक्त अपराधियों को नौकरी दिलाना।

(3) अपराधी बच्चों को उनके माता-पिता तथा अभिभावकों के पास पहुँचाना।

(4) अपराधियों को उनकी मुक्ति के बाद देख-रेख करना।
(5) उत्तर-रक्षा हॉस्टलों की स्थापना करना।
(6) उत्तर-रक्षा हॉस्टलों के संवासियों की शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित करना।

(ब) उत्तर प्रदेश अपराध-निरोधक समिति

अपराधियों के पुनर्वासन के क्षेत्र में कार्य करनेवाली समस्त गैर-सरकारी संस्थाओं में उत्तर प्रदेश अपराध-निरोधक समिति का एक प्रमुख स्थान है। यू० पी० डिसचार्ज्ड प्रिजनर्स ऐड सोसाइटी के नाम से इसकी स्थापना 1938 में की गई और 1947 में इसका नाम बदलकर उत्तर प्रदेश अपराध-निरोधक समिति कर दिया गया। इस संस्था का मुख्य कार्य अपराध के विरुद्ध प्रचार करना तथा ऐसे अपराध-विहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें लोग अपराध से घृणा करें, अपराधी से नहीं। यह संस्था प्रदेश स्तर से लेकर जिला स्तर तक सेमिनार, मीटिंगों, गोष्ठियों तथा साहित्य एवं बातचीत के द्वारा अपराध-निरोध का प्रचार करती है। इस समिति के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) प्रान्त में बाल अधिनियम को शीघ्रताशीघ्र लागू करने के लिए प्रयत्न करना तथा लागू होने के उपरान्त उसे गैर-सरकारी संस्था अथवा संस्थाओं द्वारा कार्यान्वित होने के सभी प्रबन्ध करना।
(2) बाल अधिनियम के अन्तर्गत विचाराधीन बालकों के लिए हवालाती संस्थाओं तथा बालकों के लिए पाठशालाओं तथा घरों की स्थापना करना तथा बालकों की सहायता और सुधार के लिए एक रिफार्मेशन सर्विस की स्थापना करना।
(3) बाल अधिनियम के अन्तर्गत हवालाती संस्थाओं, बाल पाठशालाओं तथा बाल भवनों से मुक्त बालकों की देखभाल और निगरानी के लिए रिफार्मेशन अफ़सरों के कार्य का संचालन और ऐसे मुक्त बालकों के लिए हॉस्टलों तथा भवनों का प्रबन्ध करना।
(4) यू० पी० फर्स्ट आफेन्डर्स प्रोबेशन ऐक्ट को कार्यान्वित करना।
(5) यू० पी० प्रिजनर्स रिलीज आन प्रोबेशन ऐक्ट को कार्यान्वित करने में सभी सहयोग देना।
(6) यू० पी० प्रिजनर्स टिकट आफ लीव रूल्स के अन्तर्गत कार्य करना।
(7) यू० पी० बोर्स्टल ऐक्ट को प्रदेश में लागू करने की चेष्टा करना और

तत्पश्चात् उसको कार्यान्वित करने में पूर्ण सहयोग एवं बोर्स्टल संस्थाओं से मुक्त हुए युवा अपराधियों की देखभाल।

(8) अवधि से पूर्व मुक्त होने के लिए प्रौढ़ बन्दियों के सम्बन्ध में जाँच करना तथा ऐसे मुक्त बन्दियों की देखभाल।

(9) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार द्वारा लागू उन सभी ऐक्ट्स तथा रूल्स को कार्यान्वित करने में सहयोग देना जो समिति के उद्देश्यों से सम्बन्ध रखते हों।

(10) बाल तथा युवा अपराधियों को अभ्यस्त अपराधी बनने से रोकना तथा उनका उपचार।

(11) अभ्यस्त अपराधियों तथा भूतपूर्व अपराधी जातियों का पुनर्वासन।

(12) निर्धन और निस्सहाय अभियुक्तों की पैरवी का प्रबन्ध करना।

(13) प्रदेश में गैर-सरकारी जेल परीक्षण का कार्य।

(14) बन्दी, मुक्त-बन्दी तथा भिन्न-भिन्न ऐक्ट्स और रूल्स के अन्तर्गत छूटे हुए व्यक्तियों तथा उनके परिवारों की सहायता, जिससे उनका सुधार हो और वे शान्तिप्रिय नागरिकों का जीवन व्यतीत कर सकें।

(15) उत्तर प्रदेश के बच्चों को अपराध के मार्ग पर जाने से रोकने के लिए पूर्ण प्रयास करना।

(16) कारागार के बन्दियों की शिक्षा, धार्मिक प्रचार, नैतिक उत्थान, खेलकूद तथा मनोरंजन के प्रबन्ध में जेल विभाग को सहायता देना इत्यादि।

(17) भूतपूर्व अपराधी जातियों एवं अभ्यस्त अपराधियों के हित के लिए नोआबादियों को खोलना तथा उनका अथवा पुराने नोआबादियों के प्रबन्ध में सहायता देना।

(18) मृत्यु-दण्ड के विरोध हेतु प्रचार करने, नये कानून बनवाने तथा पुराने कानूनों का इस प्रकार प्रयोग करने के लिए जोर देना जिसके द्वारा जेल की सजा केवल उन्हीं व्यक्तियों को दी जाय जिसके सुधार की सम्भावना किसी अन्य रीति से न हो सके।

(19) प्रोबेशन अफसरों तथा अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं की शिक्षा के प्रबन्ध में सहायता देना।

(20) अपराध और दण्ड-नीति में सुधार के लिए प्रचार कार्य करना।

(21) सामाजिक उत्थान और समाज-कल्याण सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करना और उनके उद्देश्यों की पूर्ति की व्यवस्था और उसमें सहयोग।

(22) वेश्या-वृत्ति का निरोध और वेश्याओं का पुनर्वासन।

(23) विद्यार्थियों में नैतिक उत्थान और अनुशासन-प्रवृत्ति की व्यवस्था।

(24) मद्य-निषेध कार्य।

(25) भिक्षा-वृत्ति का निरोध एवं उन सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का प्रयास करना जिनसे अपराध उत्पन्न होने की सम्भावना हो।

(26) प्रदेश में व्याप्त विभिन्न प्रकार के अपराधों की उत्पत्ति, वृद्धि एवं उनके अवरोध के कारणों का अध्ययन तथा अनुसन्धान करना, उनको समूल नष्ट करने के लिए समुचित उपायों को कार्यान्वित करना, एतदर्थ प्रत्येक जिले में जिला अपराध समीक्षा प्रकाशित करने की चेष्टा करना जिसमें जिलों में अपराधों के आंकड़े की, किन-किन अवस्था के लोगों में और पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों में, समाज के विभिन्न वर्गों में किस प्रकार के अपराध पाये जाते हैं और उनको उत्पत्ति तथा वृद्धि के क्या कारण हैं और वे किन उपायों द्वारा दूर होंगे इत्यादि बातें वर्णित होंगी।

(27) राष्ट्रीय भावात्मक ऐक्य स्थापित करने हेतु कार्य करना।

(28) नागरिकों के वैधानिक तथा मूल अधिकारियों के रक्षार्थ कार्य करना।

(29) उपर्युक्त कार्य में प्रोत्साहन देने के लिए सार्वजनिक सभा-सम्मेलन करना और जुलूस निकालना और यदि इसी प्रकार के आयोजन सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा आयोजित हों तो उनमें भाग लेना तथा सहयोग देना एवं आवश्यक साहित्य का प्रकाशन इत्यादि।

(30) उपर्युक्त कार्य में जनता, सरकार, गैर-सरकारी संस्थाओं एवं स्वायत्त शासन संस्थाओं आदि का प्रकाशन कराना एवं उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करना।

(31) उपर्युक्त कार्यों की पूर्ति के लिए धन-संग्रह करना तथा इस प्रकार के कार्यों को आगे बढ़ाना।

तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में जिस प्रकार के गैर-सरकारी उत्तर-रक्षा सेवा-संगठनों का आयोजन किया गया है उन्हीं को आदर्श मानकर आंध्र-प्रदेश में 1951 में तथा केरल में 1954 में डिसचार्ज्ड प्रिजनर्स ऐड सोसायटीज की स्थापना की गई है। इन सोसायटीज का कार्य कारागार से मुक्त व्यक्तियों के लिए रोजगार ढूंढ़ना, रहने की व्यवस्था करना, औद्योगिक प्रशिक्षण तथा शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता पहुँचाना, छोटे मोटे व्यवसाय करने के लिए पैसा देना, रेल का भाड़ा देना, नौकरी दिलवाना, कर्ज दिलवाना, पुलिस के अत्याचार से बचाना, परिवार के सदस्यों की मदद करना और उन्हें कानूनी सहायता पहुँचाना है।

मुक्त-बंदी सहायता-समितियों की समस्याएँ

जिन प्रमुख समस्याओं से मुक्त-बंदी सहायता-संस्थाएँ ग्रस्त हैं वे निम्नांकित हैं :—

(1) इन संस्थाओं के पास पैसे, भौतिक साधनों तथा कर्तव्यपरायण समाज सेवी कार्यकर्ताओं का अभाव है।

(2) इन संस्थाओं को राज्य सरकारों द्वारा प्राप्त होने वाली आनुदानिक सहायता अपर्याप्त है।

(3) देश में बहुत से ऐसे राज्य हैं जहाँ इस प्रकार की संस्थाएँ आज तक स्थापित नहीं की गई हैं।

(4) बहुधा यह देखने में आया है कि कारागार विभाग एवं समाज-कल्याण निदेशालयों द्वारा इन संस्थाओं के साथ समन्वय एवं सहयोग का अभाव रहता है।

(5) इन संस्थाओं के कार्य में पुलिस तथा समुदाय का उदासीनतापूर्ण दृष्टिकोण बाधा पहुँचाता है। समुदाय में सदैव अपराधी व्यक्ति के बारे में संदेह बना रहता है और पुलिस उस व्यक्ति को शंका की दृष्टि से देखती है। इस प्रकार का शंकायुक्त वातावरण मुक्त बंदियों के पुनर्वासन में कठिनाइयाँ उपस्थित करता है।

(6) इन संस्थाओं के द्वारा बहुत थोड़ी संख्या में मुक्त बंदी लाभान्वित हो पाते हैं क्योंकि न तो इन संस्थाओं के पास सहायता के प्रचुर साधन हैं और न सभी मुक्त बंदी इन संस्थाओं की कार्यपद्धति से अवगत होते हैं।

(7) इस प्रकार की संस्थाएँ मुक्त बंदियों के लिए कोई रोजगार नहीं ढूंढ पाती हैं क्योंकि सरकारी विभागों तथा गैर-सरकारी संस्थाओं में कारागार से मुक्त बंदियों को रोजगार देने एवं उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने की कोई इच्छा नहीं प्रकट की जाती है।

(8) इन समस्याओं की सबसे बड़ी कमी यह है कि इनके सदस्य केवल इन संस्थाओं में नाममात्र के लिए सदस्यता स्वीकार करते हैं और वार्षिक चंदा देकर संतुष्ट हो जाते हैं। कर्मठ कार्यकर्ता केवल एक या दो होते हैं, बाकी सभी सदस्य केवल मीटिंगों में आते हैं या कोई प्रशासकीय पद प्राप्त करने में लगे रहते हैं। फल यह होता है कि मेहनत या लगन से कार्य करने वालों की संख्या उन व्यक्तियों से कहीं कम होती है जो केवल दिखाने के लिए इन संस्थाओं की कार्यकारिणी में बने हैं।

(9) बहुधा यह भी पाया गया है कि बाल तथा वयस्क दोनों ही प्रकार के अपराधी सेवार्थी इन संस्थाओं द्वारा ढूँढ़ी गई उन नौकरियों को स्वीकार करने में आनाकानी करते हैं जिनमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता पड़ती है।

(10) चूँकि अधिकांश बाल तथा वयस्क अपराधी किसी भी प्रकार की औद्योगिक क्षमता तथा कुशलता नहीं रखते हैं अतः उनके लिए कोई व्यावसायिक नौकरी ढूंढ़ पाना इन संस्थाओं की शक्ति से बाहर है।

(11) इन संस्थाओं के द्वारा जनता को अपराधियों के बारे में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त कराई जाती। जनता अपने मन में अपराधी-सुधार के बारे में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ बनाये रखती है और कारागार तथा सुधार-संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों को स्वीकार करने में हिचकती है।

(12) बहुधा यह भी देखने में आता है कि मुक्त बन्दियों के माता-पिता, अभिभावक तथा परिवार के सदस्य इन संस्थाओं के कार्य में सहयोग नहीं प्रदान करते।

(13) इन संस्थाओं के पास कोई ऐसा भवन नहीं होता है जिसमें वे अपने द्वारा सहायता प्रदान किये गये व्यक्तियों को उस अवधि तक रख सकें जब तक कि उनको कोई नौकरी या व्यवसाय न प्राप्त हो जाये।

भारत में अपराधी-सुधार संस्थाओं द्वारा चलाई जानेवाली उत्तर-रक्षा सेवाओं की वर्तमान स्थिति

डॉ० एम० एस० गोरे द्वारा प्रस्तुत भारतीय उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों के मूल्यांकन सम्बन्धी एक रिपोर्ट में अपराधी-सुधार संस्थाओं के उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों की निम्नलिखित कमियों का उल्लेख किया गया :—

(1) देश की अधिकांश बाल-सुधार संस्थाओं द्वारा बालकों की मुक्ति के समय किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता का प्रबन्ध नहीं किया जाता। मुक्ति के दिन केवल उन्हें रेल का भाड़ा ही प्रदान किया जाता है।

(2) अधिकांश बाल सुधार संस्थाएँ मुक्त बाल अपराधियों के बारे में कोई विशेष लेखा नहीं रखतीं। मुक्ति के दिन के उपरान्त से ही उनका सम्बन्ध अपराधी बालक के साथ टूट जाता है और उनके पास ऐसी कोई सूचना नहीं रह जाती जिससे यह पता लगाया जा सके कि बालक का समाज में क्या हाल हुआ।

(3) कुछ बाल सुधार संस्थाएँ केवल महीने या दो महीने में एक पत्र लिखकर संस्था से मुक्त बाल अपराधियों से सम्पर्क बनाये रखती हैं पर यह सम्बन्ध भी एक या दो वर्ष बाद टूट जाता है।

(4) इन संस्थाओं के कर्मचारियों को यह ज्ञान नहीं होता कि इनसे मुक्त बालक समाज में किन मुश्किलों का सामना करते हैं।

(5) इन संस्थाओं में जो कार्यक्रम बाल अपराधियों के सुधार तथा उनके आर्थिक पुनर्वासन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये हैं उनके देखने से ऐसा लगता है कि बालक अपनी मुक्ति के बाद उनका प्रयोग करके ठीक से अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता।

(6) इन संस्थाओं में ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं चलाया जाता जो बालकों की उत्तर-रक्षा की आवश्यकताओं के आधार पर निर्मित किया गया हो।

(7) इन संस्थाओं का समुदाय की गैर-सरकारी उत्तर-रक्षा संस्थाओं एवं समितियों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता, अतः दोनों ही प्रकार की संस्थाएँ एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अलग अलग तरीके के कार्य करती हैं। स्वस्थ समन्वय तथा वांछित सहयोग के अभाव में उत्तर-रक्षा का कार्यक्रम अधूरा रह जाता है।

(8) इन संस्थाओं में कोई ऐसा अधिकारी या कार्यकर्ता नहीं नियुक्त किया जाता जो इन संस्थाओं के द्वारा मुक्त किये गये संवासियों के पुनर्वासात्मक हितों की रक्षा कर सके।

(9) इन संस्थाओं द्वारा औद्योगिक रूप से प्रशिक्षित बालकों को उनकी मुक्ति के बाद कोई उचित नौकरी या व्यवसाय ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं किया जाता, फल यह होता है कि मुक्त संवासी असहाय रूप से नौकरी की तलाश में इधर उधर घूमा करते हैं।

(10) वयस्क सुधार-संस्थाओं तथा कारागारों में भी उत्तर-रक्षा सम्बन्धी वे ही कमियाँ पाई जाती हैं जिनका वर्णन बाल-सुधार-संस्थाओं के सम्बन्ध में ऊपर किया जा चुका है।

एक आदर्श उत्तर-रक्षा सेवा की मूलभूत आवश्यकताएँ

डा० मोरे की भारत में उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों पर प्रकाशित रिपोर्ट एक ऐसी दर्दनाक कहानी सुनाती है जिसे सुन कर ऐसा लगता है कि भारत की

उत्तर-रक्षा सेवाएँ एक ऐसा मखौल कर रही हैं जिसे और अधिक समय तक बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। भारत में उत्तर-रक्षा सेवाएँ वास्तव में अभी ठीक से प्रारंभ ही नहीं हो पाई हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अभी तक सरकार का ध्यान केवल अपराधी-सुधार के संस्थागत कार्यक्रमों को आयोजित करने में लगा हुआ है और अपराधी-सुधार के असंस्थागत कार्यक्रम उपेक्षित हो गये हैं। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक भारत में उत्तर-रक्षा सेवाओं का निश्चित क्षेत्र भी निर्धारित नहीं हो सका है। इस विषय पर कोई विशिष्ट महत्वपूर्ण साहित्य भी उपलब्ध नहीं है। अतः उत्तर-रक्षा सेवाओं के आयोजन के सभी प्रयत्न अँधेरे में रोशनी ढूंढ़ रहे हैं। डा० गोरे की रिपोर्ट ही एक ऐसा दस्तावेज है जिसे हर मौके पर प्रयोग में लाया जाता है। आश्चर्य की बात यह भी है कि आज तक डा० गोरे की रिपोर्ट की सिफारिशों पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया है और वे सभी आवश्यक सिफारिशें सरकार के दफ्तरों की आलमारियों में धूल खा रही हैं जिन्हें आज से बीस वर्ष पहले लागू हो जाना चाहिए था। डा० गोरे द्वारा की गई प्रमुख सिफारिशें निम्नांकित हैं :—

(1) उत्तर-रक्षा हॉस्टलों, मुक्त-बन्दी सहायता संगठनों तथा अपराध-निरोधक समितियों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए। प्रत्येक जिले में कम से कम एक उत्तर-रक्षा संगठन की आवश्यकता है।

(2) उत्तर-रक्षा सेवा का प्रारम्भ उसी दिन से होना चाहिए जिस दिन से अपराधी व्यक्ति किसी कारागार या सुधार-संस्था में प्रवेश लेता है। ऐसा तभी हो सकता है जब उत्तर-रक्षा सेवा को संस्था के कार्यक्रम का अभिन्न अंग बना लिया जाए।

(3) बाल तथा वयस्क अपराधी-सुधार संस्थाओं में संवासियों के हेतु ऐसे औद्योगिक प्रशिक्षणों का प्रबन्ध किया जाए जिसके आधार पर संवासी व्यक्ति अपनी मुक्ति के उपरान्त कोई व्यवसाय या नौकरी प्राप्त करने के योग्य बन जाये।

(4) अपराधी-सुधार संस्थाओं द्वारा औद्योगिक रूप से प्रशिक्षित संवासियों को उनकी मुक्ति पर एक ऐसा सर्टिफिकेट प्रदान किया जाए जिसमें यह लिखा हो कि संवासी किसी विशिष्ट कार्य या उद्योग को सम्पादित करने में प्रवीण है।

(5) अपराधी-सुधार संस्थाओं को रोजगार कार्यालयों से सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए जिससे वे अपने संवासियों के लिए उचित प्रकार के औद्योगिक

कार्यक्रम चला सकें और उसके उपरान्त उन्हें रोजगार कार्यालय के सहयोग से कोई नौकरी या व्यावसाय दिला सकें।

(6) गैर-सरकारी औद्योगिक संस्थाओं में अपराधी-सुधार संस्थाओं से मुक्त व्यक्तियों को तब तक नौकरी नहीं मिल सकती जब तक सरकारी विभागों में इस प्रकार के व्यक्ति नौकरी नहीं पाएँगे। अतः आवश्यकता है कि सरकार मुक्त बन्दियों को आर्थिक सहायता प्रदान करे तथा उन्हें सरकारी नौकरियों में रखें। जब तक ऐसा नहीं होगा, कोई भी उद्योग-पति मुक्त बाल एवं वयस्क बन्दियों को नौकरी नहीं देगा।

(7) बैंक या अन्य ऋण प्रदान करनेवाली संस्थाओं के द्वारा उन मुक्त बन्दियों को कम ब्याज तथा लम्बी किश्तों पर ऋण दिये जाने की व्यवस्था करनी चाहिए जिनके पास कोई जमानतदार है या जिनके पास जमानत के लिए मकान, जमीन या अन्य कोई जायदाद है। ऐसा ऋण उन्हीं मुक्त बन्दियों को दिया जाना चाहिए जो कोई उद्योग-धन्धा चलाना चाहते हैं।

(8) मुक्त बन्दियों को आर्थिक सहायता के अतिरिक्त प्रत्येक नगर में एक ऐसी संस्था होनी चाहिए जिसका कार्य इस प्रकार के व्यक्तियों का सामाजिक पुनर्वासन करना हो तथा समय-समय पर उनकी गैर-आर्थिक समस्याओं का निवारण हो।

(9) प्रत्येक उस अपराधी व्यक्ति को आवश्यक रूप से एक या दो वर्ष तक अन्तर-रक्षात्मक देख-रेख में रखे जाने का प्राविधान होना चाहिए जो सुधार-संस्थाओं तथा कारागार से मुक्त हुआ है।

(10) केन्द्रीय समाज-कल्याण द्वारा प्रत्येक राज्य में राज्य तथा जिला स्तर पर उत्तर-रक्षा परामर्शदात्री समितियों की स्थापना की जानी चाहिए।

(11) उत्तर-रक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाली समस्त सरकारी संस्थाओं का केन्द्रीय स्तर पर एक संघ होना चाहिए जिसके द्वारा इन संस्थाओं की कार्यक्रम सम्बन्धी नीति का निर्धारण हो सके, कार्यक्रमों का मूल्यांकन किया जा सके तथा कार्यपद्धतियों में सुधार लाया जा सके।

(12) उत्तर-रक्षा संस्थाओं तथा संगठनों आवश्यकता तथा कार्यक्षमता को ध्यान में रख कर उनकी सहायता के लिए सरकार के कारागार विभाग तथा समाज-कल्याण विभाग द्वारा उदार आर्थिक तथा तकनीकी सहायता की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(13) कारागार विभाग, समाज-कल्याण विभाग तथा उत्तर-रक्षा संगठनों के कर्मचारियों के मध्य सहयोग एवं समन्वय बढ़ाया जाना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब तीनों प्रकार के सुधार-कार्यकर्ता अथवा प्रशासक महीने या दो महीने के बीच एक जगह एकत्रित होकर अपनी समस्याओं पर विचार कर सकें और समन्वय एवं सहयोग के रास्ते ढूंढ़ सकें।



अध्याय 14

सुधारात्मक समाज-कार्य

प्रस्तावना

आधुनिक दण्डशास्त्र अपनी प्रतीकारात्मक, प्रतिशोधात्मक, भयात्मक तथा पश्चात्तापात्मक परम्पराओं, प्रकारों, साधनों एवं विधियों के दर्शन को छोड़ कर उस सुधारात्मक दर्शन पर आधारित है जिसमें दण्ड का आधार या लक्ष्य अपराधी को दण्ड देना न होकर अपराधी की अपराधिक मनोवृत्ति को परिवर्तित करना है। उसे उसकी दण्ड-भोग की अवधि के अन्तर्गत इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है जिससे दण्ड-भोग के उपरांत उसमें समाज के सामाजिक एवं वैधानिक नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करने की मनोवृत्ति तथा एक उत्तरदायी नागरिक की भाँति समाज में समायोजन करके रहने की क्षमता एवं प्रवृत्ति का विकास सम्भव हो सके। वर्तमान मानववादी विचारधारा तथा समाज-विज्ञान में निहित सुधारवादी सिद्धांतों ने आधुनिक दण्डशास्त्र को वह रूप प्रदान किया है जिसके अन्तर्गत अपराधी की अपराधिक मनोवृत्ति तथा कृत्य को उसके सामाजिक एवं वैधानिक पर्यावरण सम्बन्धी असमंजन, विस्थापन, विचलन, अपरिपालन का चिह्न माना गया है। नवीन दण्डशास्त्र इस बात पर बल देता है कि अधिकांशतः अपराध वर्तमान समाज की दोषपूर्ण सामाजिक–आर्थिक संरचना के कारण होते हैं अतः अपराधी को इस बीसवीं शताब्दी में पीड़ा पहुँचाना तथा त्रसित करना अमानवीय तथा अनैतिक समझा जाता है। अपराधी जन्मजात नहीं होते अतः आधुनिक दण्डशास्त्र इस बात पर बल देता है कि अपराधी की दण्ड की अवधि में उसे हर सम्भव प्रयत्नों द्वारा सहायता पहुँचाकर उसमें उन आत्म-निहित क्षमताओं तथा गुणों का विकास किया जा सके जो उसके व्यक्तित्व में विद्यमान हैं। उसका मार्गदर्शन एक ऐसी वैज्ञानिक विधि से किया जाये कि वह दण्ड-मुक्ति के उपरांत एक आत्मसम्मानी, आत्मनिर्भर आत्मविश्वासी एवं उत्तरदायी नागरिक की भाँति अपना भविष्य नियोजित कर सके।

समाज-कार्य अपने व्यावसायिक रूप में उन अवधारणाओं, मूल्यों तथा विश्वासों को आत्मसात् कर चुका है जिनके माध्यम एवं कुशल प्रयोग से व्यक्ति, समूह एवं समुदाय के असमायोजन तथा विस्थापन की समस्याओं का निराकरण वह वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा इस प्रकार से करता है जिससे उसमें उन क्षमताओं का विकास हो सके जो सेवार्थी को अपनी समस्याओं का निस्तार-मार्ग ढूंढ़ लेने योग्य बनाती हैं। समाज-कार्य के लक्ष्य, नैतिक मूल्य तथा मान्यताएँ सभी एक मानववादी दर्शन पर आधारित हैं। समाज-कार्यकर्ता यह मान कर चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक निहित आत्मसम्मान की भावना एवं सुधार की क्षमताएँ हैं तथा स्वयं सहायता की आकांक्षा एवं बल है। समाज-कार्य एक सहायता का कार्य होने के नाते आधुनिक दण्डशास्त्र की ही भाँति उन सभी बातों का विरोध करता है जो क्रूर तथा अमानवीय हैं और वैज्ञानिक मूल्यों की उपेक्षा करती हैं। वस्तुतः आधुनिक दण्डशास्त्र एवं समाज-कार्य के अत्यंत समीपी संबंधों का आभास हमें इस बात से मिलता है कि दोनों के अनेकानेक प्रमुख मूल विश्वास एक जैसे ही हैं। दोनों ही इस बात को स्वयंसिद्ध मानकर चलते हैं कि व्यक्ति जन्मजात दोष की प्रवृत्ति लेकर नहीं उत्पन्न होता; सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत बड़ी सीमा तक उसके दोषपूर्ण समायोजन के लिए उत्तरदायी हैं। हर व्यक्ति परिवर्तित हो सकता है तथा हर व्यक्ति का सुधार हो सकता है। वर्तमान दण्डशास्त्र इन्हीं धारणाओं को सत्य मानकर अपराधी-सुधार की दिशा में कदम उठाता है। समाज-कार्य भी इन्हीं विश्वासों को निर्विवाद रूप से स्वीकार करके अपना सहायता-कार्य प्रारम्भ करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक दण्डशास्त्र अपने उद्देश्यों, धारणाओं एवं नैतिक विश्वासों के आधार पर समाज-कार्य के समान ही चलता है।

आधुनिक दण्डशास्त्र एवं समाज-कार्य का सम्बन्ध यहीं समाप्त नहीं हो जाता, आगे भी चलता है। अधिकांश वर्तमान दण्डशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि आधुनिक दण्डशास्त्र का यह स्वरूप समाज-कार्य के एक सफल व्यवसाय सिद्ध हो जाने तथा इसकी व्यापक सामाजिक स्वीकृति एवं प्रगति के कारण आया है। आधुनिक दण्डशास्त्र ने समाज-कार्य के अनेक सिद्धान्तों तथा कार्य-पद्धतियों को अपने कार्य-संचालन का आधार बनाया है। दण्डशास्त्र में इस नवीन परिवर्तन को जन्म देने वाले विद्वान् बहुत बड़ी सीमा तक समाज-कार्य के दर्शन से प्रभावित थे और उनका विश्वास था कि समाज-कार्य की व्यावसायिक पद्धतियों का प्रयोग करके अपराधी-सुधार की दिशा को एक सराहनीय मोड़ दिया जा सकता है। नवीन संरचना वाले कारागारों, सुधारगृहों तथा

अपराध-निरोध एवं अपराधी-सुधार की अन्य संस्थाओं की नवीन सुधारवादी कार्यपद्धति को चलाने के लिए आज समाजकार्य की पृष्ठभूमि में प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ रही है। भारत ही नहीं वरन् विश्व के अनेक देशों में अपराध-सुधार सेवाओं का विशिष्ट प्रशिक्षण समाज-कार्य विद्यालयों तथा विभागों के तत्वावधान में सम्पन्न हो रहा है। समाज-कार्य में विशेष रूप से एक ऐसे विशेषीकरण का जन्म हुआ है जो समाज-कार्यकर्ताओं को कारागार-प्रशासन तथा सुधारगृहों के प्रशासन सम्बन्धी अनेक आवश्यक पदों के लिए विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित करता है। उनका प्रमुख ज्ञान समाज-कार्य का ज्ञान होता है और उनके कार्य करने के ढंग केवल प्रशासनिक न होकर समाज-कार्य की मान्य कार्यशैली के अनुरूप होते हैं।

सुधारात्मक समाज-कार्य में "सुधार" शब्द का अर्थ एवं इसका कार्यक्षेत्र

सुधारात्मक समाज-कार्य की शब्दावली में "सुधार" शब्द का अर्थ है अपराधी व्यक्ति को कानून का पालन करने वाले नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना।[1] इलियट स्टड ने "सुधार" के प्रत्यय की परिभाषा करते हुए लिखा कि सुधार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा आधुनिक समाज कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों की अपराधिक मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने तथा उनकी जीवनशैली को सामाजिक नियमों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।[2] जेम्स वी० बेनेट के अनुसार सुधार का उद्देश्य अपराधी को उसकी दण्ड-अवधि में एक नई दिशा प्रदान करता है।[3] कोनार्ड के मत में सुधार का मुख्य उद्देश्य अपराधी के व्यक्तित्व में एक परिवर्तन लाना है जिससे उसके मन में कारागार अथवा सुधार-संस्था से मुक्ति के बाद अच्छा एवं उपयोगी जीवन बिताने की इच्छा उत्पन्न हो सके।[4]

सुधारात्मक समाज-कार्य के अन्तर्गत समस्त कार्यक्रम दो उद्देश्यों पर

---

1. जे०जे० पनाकल, "करेक्शन ऐडल्ट," इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल वर्क (नई दिल्ली : 1968), पृ० 181।
2. इलियट स्टड, एजूकेशन फार सोशल वर्कर्स इन दि करेक्शनल फील्ड (न्यूयार्क 1964) पृ० 6–7।
3. जेम्स वी० बेनेट, "करेक्शनल सोशल वर्क", सोशल वर्क इयरबुक (न्यूयार्क : 1954), पृ० 198।
4. जान पी० कोनार्ड, क्राइम ऐण्ड इट्स करेक्शन (लन्दन : 1965), पृ० 12।

आधारित रहता है :—(अ) व्यक्ति के विचलित व्यवहार एवं दृष्टिकोण में ऐसी सहायता-प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन करना जो उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक समायोजन में अधिकतम सहायक सिद्ध हो, तथा (ब) उसके पर्यावरण तथा परिस्थितियों में परिवर्तन तथा संशोधन द्वारा अनेक प्रकार के निरोधात्मक एवं सुधारात्मक साधनों की उपलब्धि कराके परिवर्तन करना जो उसमें अपराधिता को जन्म देती हैं।[1] समाज-कार्य के दृष्टिकोण से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वयस्कों एवं बालकों को कानून न भंग करने की सहायता दी जाए, चाहे वे किसी न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करके अपराधी ठहराये गये हों या नहीं। सुधारात्मक समाज-कार्य इस प्रकार कानून, परम्परा तथा विधि-निर्धारित सामाजिक आचार का पालन करने में उन व्यक्तियों की सहायता करता है जो विचलन के मार्ग पर चल रहे हैं।

सुधारात्मक समाज-कार्य अपने उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यों को मूर्त स्वरूप प्रदान करने में व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित अन्य सुधार-कार्यकर्ताओं, मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों की सेवाएँ प्राप्त करता है। विभिन्न अपराधी-सुधार संस्थाओं में समाज-कार्यकर्ता संस्था के अन्य सदस्यों की टोली का एक महत्वपूर्ण सदस्य होता है और उसका कार्य अन्य कार्यकर्ताओं के अन्तर-सम्बन्धों तथा उसके विशिष्ट ज्ञान पर निर्धारित भूमिका पर निर्भर करता है।[2] सुधार-कार्यकर्ताओं की इस टोली में समाज-कार्यकर्ता की निम्नलिखित भूमिकाएँ हो सकती हैं :—

(1) अपराधी के बारे में जाँच पड़ताल करके उसकी सामाजिक अवस्था तथा अपराधी की दशाओं के बारे में ऐसी रिपोर्ट प्रस्तुत करना जिससे अपराधी-सुधार संस्थाओं के अधिकारी किसी निश्चित सुधारवादी निर्णय पर पहुँच सकें।

(2) सेवार्थी (अपराधी) का उस प्रकार से पर्यवेक्षण करना जिससे वह आत्म-नियन्त्रित होकर अवैधानिक व्यवहार न करे।

(3) सेवार्थी (अपराधी) की सामाजिक तथा वैधानिक मजबूरियों को दूर करने में मदद करना तथा उसके व्यवहार को सामाजिक आदर्शों के अनुकूल बनाना।

---

1. ओसवाल्ड जी० रसेल, "करेक्शनल ट्रीटमेन्ट," सोशल वर्क इयरबुक (न्यूयार्क : 1961), पृ० 135।
2. जेम्स वी० बेनेट, "करेक्शनल सोशल वर्क," सोशल वर्क इयरबुक (न्यूयार्क : 1954), पृ० 199।

(4) उन सभी अधिकारियों के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करना जो सेवार्थी (अपराधी) के वर्तमान सामाजिक-वैधानिक स्तर से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं।

(5) वैयक्तिक सेवाकार्य तथा सामूहिक सेवाकार्य की विधियों का इस प्रकार से प्रयोग करना जिससे सेवार्थी (अपराधी) कानूनी तथा प्रशासनिक नियमों का पालन अपने हित को ध्यान में रखकर कर सके।

(6) अपराधी-सुधार संस्था के अन्य कर्मचारियों के साथ सहयोग एवं समन्वय-पूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना और संस्था के समस्त सुधार सम्बन्धी निर्णयों में अपने मत को रखना।

(7) अपराधी-सुधार संस्था के सुधारात्मक कार्यक्रम को सुदृढ़ बनाना।

(8) सुधारात्मक समाज-कार्य के ज्ञान में वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करना।

सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ताओं को अपराध-निरोध एवं अपराधी-सुधार के सम्पूर्ण क्षेत्र में संस्थागत तथा असंस्थागत संस्थानों एवं कार्यक्रमों में उपर्युक्त कार्य को सम्पादित करने के लिए नियुक्त किया जाता है। अपने पद तथा संस्था के स्वभाव को देखते हुए सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता बाल तथा वयस्क अपराधियों के हेतु निर्मित संस्थागत कार्यक्रमों में प्रमुखतः समाज-कार्य की दो विधियों का प्रयोग करता है—वैयक्तिक सेवाकार्य तथा सामूहिक सेवाकार्य। सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता इन दोनों विधियों की कुशलताओं का प्रयोग संस्था के सदस्यों के सुधार, उनके संस्थागत समायोजन तथा पुनर्शिक्षण के लिए अर्थ-पूर्ण व्यावसायिक सम्बन्धों के माध्यम से करता है।

अपराधी-सुधार के क्षेत्र में वैयक्तिक सेवाकार्य का प्रयोग

सुधार-संस्थाओं में अपराधियों की अपराधिक मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में वैयक्तिक सेवाकार्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए फ्रीड-लैण्डर ने लिखा कि "पुनर्स्थापन के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सुधार-संस्थाओं में वैयक्तिक सेवाकार्य आवश्यक है। हमने इस बात को माना है कि अनेक सुधार-संस्थाओं में पुनर्स्थापन के उद्देश्य की प्राप्ति पूरे रूप से सम्भव नहीं हो पायी है परन्तु फिर भी कारागार तथा बाल सुधार संस्थाओं के संवासियों के लिए वैयक्तिक सेवाकार्य की आवश्यकता को सैद्धांतिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है। कारागारों तथा अन्य प्रकार की वयस्क एवं बाल सुधार संस्थाओं में संवा-

सियों को मनोसामाजिक सहायता की आवश्यकता अपने दैनिक जीवन में पड़ती ही रहती है।[1]

कारागारों तथा बाल सुधार संस्थाओं में नियुक्त सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता निम्नलिखित प्रकार से वैयक्तिक सेवाकार्य की विधियों का प्रयोग करता है :—

(1) संवासियों को संस्था के नियमों से भली भाँति अवगत कराना तथा उन्हें संस्था के समस्त कार्यक्रमों में नियमपूर्वक भाग लेने के लिए प्रेरित करना।[2]

(2) उन संवासियों को परामर्श प्रदान करना तथा उनका मार्ग-निर्देशन करना जो अपराधी-सुधार संस्थाओं में पहली बार आये हैं और जो अपने को इस प्रकार की संस्थाओं के विचित्र माहोल में अकेला पाते हैं।[3]

(3) इस प्रकार के संवासियों की मानसिक कुंठाओं, आहत भावनाओं तथा विक्षिप्त मनोदशाओं को दूर करने में सहायता पहुँचाना तथा उन्हें संस्था के अन्य संवासियों, अधिकारियों तथा कार्य-पद्धतियों के समरूप व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करना।

सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता इस प्रकार संस्था के संवासियों को प्रोत्साहन, परामर्श, सहायता तथा मार्गदर्शन प्रदान करके उन्हें संस्था में समायोजित होने का अवसर उपलब्ध कराता है। संस्था को वास्तविकता से अवगत कराने के उपरांत सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता असंगत व्यवहार प्रदर्शन करने वाले संवासियों को स्पष्ट रूप से यह बताता है कि सीमाबद्ध जीवन में अधिकार तथा कर्तव्य का क्षेत्र क्या है और इस क्षेत्र में उनसे किस प्रकार के अनुशासन तथा व्यवहार की अपेक्षा की जाती है।

संवासियों के संस्थागत समायोजन के साथ ही साथ सुधारात्मक समाज-

1. वाल्टर ए० फ्रीडलैण्डर, इन्ट्रोडक्शन टु सोशल वेलफेयर (नई दिल्ली : 1967), पृ० 444-445।
2. हैरी इलमर बार्न्स ऐन्ड नेगली के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स इन क्रिमिनालोजी (न्यू जर्सी : 1949), पृ० 473।
3. "दि प्रिजनर स्पीक्स," इन दि प्रिजन्स आफ टुमारो, दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकादमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइंस, वाल्यूम 157, सितम्बर, 1931, पृ० 138।

कार्यकर्ता उनके नियमसंगत व्यवहार को अस्थायी रूप से परिवर्तित करने की चेष्टा करता है जिससे कानून के पालन एवं उत्तरदायित्व की भावना क्षणिक न होकर स्थायी हो जाए। इस प्रकार के प्रयत्न में सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता सेवार्थी संवासियों के अहं को दृढ़ करना चाहता है और अपराधिक मनोवृत्ति के स्थान पर संवासियों के व्यक्तित्व में सामाजिक-वैधानिक आदर्शों के परिपालन की मनोवृत्ति उत्पन्न करना चाहता है। अपराधी सुधार संस्थाओं में सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता का दायित्व वास्तव में संवासियों में संतोषजनक समायोजन उत्पन्न करने के साथ-साथ उन्हें पुनर्वासन के हेतु तैयार करना है।[1] जिन समस्याओं को अपराधी-सुधार संस्थाओं में नियुक्त सामाजिक कार्यकर्ता दूर करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें प्रमुख रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[2] :—

(1) संवासियों की संस्थागत समायोजन संबन्धी समस्त समस्याएँ।
(2) संवासियों के परिवार के सदस्यों, उनके रिश्तेदारों तथा मित्रों सम्बन्धी समस्त समस्याएँ जिनसे संवासी चिंतित रहता है।
(3) संवासियों की मुक्ति, उत्तर-रक्षा तथा पुनर्वासन सम्बन्धी समस्याएँ।

माडेल प्रिजन मैनुअल में अपराधी-सुधार संस्थाओं में नियुक्त किये गये समाज-कार्यकर्ताओं की निम्नलिखित भूमिकाओं का वर्णन किया गया है :—

(1) संवासी का साक्षात्कार करना तथा उसके परिवार एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उसके चरित्र, व्यवहार, अपराध की दशाओं तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन की पृष्ठभूमि के बारे में सम्पूर्ण सूचना उपलब्ध करना।
(2) संवासी की समस्त संस्थागत समस्याओं का स्पष्टीकरण करना तथा उनके समाधान की योजना निर्मित करना।
(3) संवासियों के वर्गीकरण कार्यक्रम में संस्था के अधिकारियों को संवासी के व्यक्तित्व एवं व्यवहार की विशेषताओं को बताकर संवासी को उन कार्यक्रमों में लगाने का प्रयत्न करना जिनसे उस संवासी को लाभ पहुँच सकता है।

---

1. रसेल ई० स्मिथ ऐन्ड डोरोथी बीट्ज, अमेरिकन सोशल वेलफेयर इन्स्टिट्यूशन्स (न्यूयार्क : 1954), पृ० 297।
2. हीरासिंह, "वेलफेयर इन प्रिजन्स" पेपर प्रेजेन्टेड ऐट दि आल इण्डिया सेमीनार आन प्रोबेशन ऐन्ड अलाइड मेजर्स, समाज-कल्याण विभाग, राजस्थान, जयपुर, दिसम्बर, 29–31, 1973, पृ० 3।

(4) संवासी तथा प्रशासन-कार्यकर्ताओं के मध्य उपर्युक्त प्रकार के सहयोग-पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने में मदद पहुँचाना।

(5) संवासी को अपने परिवार के सदस्यों के साथ सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने में मदद पहुँचाना तथा परिवार के सदस्यों को समय-समय पर वांछित सहायता प्रदान करना।

(6) संवासी को अपनी मुक्ति के लिए तैयार कराना तथा उसको उन समस्याओं से अवगत कराना जो मुक्ति के बाद उत्पन्न हो सकती हैं परन्तु जिनका समाधान ढूंढ़ा जा सकता है।

सेण्ट्रल ब्यूरो आफ करेक्शनल सर्विसेज, नई दिल्ली ने अपने द्वारा प्रकाशित एक पत्रिका प्रिजन्स इन इण्डिया (1969) में कारागारों में नियुक्त कल्याण अधिकारियों (जो नियमानुसार केवल वे वही व्यक्ति होने चाहिए जिन्हें व्यावसायिक समाज-कार्य में डिग्री प्राप्त है) के कार्यों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया : "कल्याण अधिकारी को कारागार में एक ऐसे महत्वपूर्ण कार्यकर्ता के रूप में देखा जाता है जिसका कार्य अपराधियों के उपचार एवं सुधार के क्षेत्र में एक उपयोगी भूमिका का वहन करना है। जैसे ही अपराधी संस्था में प्रविष्ट होता है, कल्याण अधिकारी उसके व्यक्तित्व के प्रकार का अध्ययन करता है, उसे कारागार के कार्यक्रम अवगत कराता है, उसे अपने जीवन की नवीन दशा तथा संस्था में ठीक से रहने के मार्ग बताता है। कल्याण अधिकारी अपराधी व्यक्ति की संस्थागत समस्याओं को दूर करने के मार्ग ढूंढ़ता है और संवासी को संस्था के अन्दर ही अपनी समस्याओं के निराकरण के मार्ग ढूंढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। कल्याण अधिकारी कारागार प्रशासकों के साथ बैठ कर नए बन्दी के उपचार के कार्यक्रम उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाने पर बल देता है। कल्याण अधिकारी बन्दी को अपने परिवार के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में हर सम्भव मदद पहुँचाता है तथा परिवार के सदस्यों को भी सहायता पहुँचाने का प्रयत्न करता है। कल्याण अधिकारी बन्दी को एक आत्मनिर्भर, कानून पालन करने वाला तथा सामाजिक रूप से उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार कल्याण अधिकारी कारागार प्रशासन और बन्दी के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है और वैयक्तिक सेवा कार्य-कर्ता की भाँति बंदियों के सुधार एवं व्यवस्थापन का कार्य संपादित करता है।"[1]

1. प्रिजन्स इन इण्डिया, 1969, पृ० 19।

अपराधी-सुधार संस्थाओं में सामाजिक समूह कार्य का प्रयोग

उन अपराधी-सुधार संस्थाओं में सामाजिक समूह कार्य के महत्व को स्वीकार किया गया है जिनमें अपराधियों को लम्बी अवधि तक के लिये संरोधित करके रखा जाता है।[1] सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता इन संस्थाओं में निर्देशित समूह अंतर्क्रिया तथा समूह-मनोचिकित्सा (गाइडेड ग्रुप इन्टर-ऐक्शन ऐंड ग्रुप साइकोथिरैपी) का प्रयोग संवासियों के साथ उनके आपसी संबंधों को बढ़ाने तथा उनमें सामूहिक सुधार की भावना उत्पन्न करने के लिये करता है।[2]

निर्देशित समूह-अन्तःक्रिया के माध्यम से सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता अपराधी-सुधार संस्थाओं में रहने वाले संवासियों के आंतर-सामूहिक सम्बन्धों को उनके चारित्रिक परिवर्तन तथा व्यक्तित्व-नियंत्रण की एक प्रमुख विधि मानता है। इसे एक ऐसी विधि के रूप में देखा जाता है जिसका उद्देश्य संस्था के साधनों का प्रयोग अभ्यासिक अपराधियों को अच्छे नागरिक बनाने के लिए करना है।[3] अपराधी-सुधार की यह विधि इस विश्वास पर आधारित है कि अपराधी-व्यवहार एक सीखा हुआ व्यवहार है जिसे व्यक्ति ने अपराधी व्यक्तियों के सम्पर्क एवं साहचर्य में सीखा है। इस मान्यता अथवा विश्वास को स्वीकार करने के उपरान्त सुधारात्मक सामाजिक समूह-कार्यकर्ता संस्था के अन्तर्गत ऐसे समूहों को स्थापित करने की चेष्टा करता है जिनमें सदस्यता स्वीकार करके अपराधी मनोवृत्तिवाले अभ्यासिक अपराधी भी अपराधी मनोवृत्ति को अनपराधी समूहों के सम्पर्क में आकर त्याग सकें।[4] इस प्रकार के समूहों के विकास से संस्था के संवासियों को ऐसा अवसर उपलब्ध हो सकेगा जिसमें वे जीवन के कटु

---

1. जिसेला कनोपका, सोशल ग्रुपवर्क : ए हेल्पिंग प्रोसेस (न्यू जर्सी : 1963), पृ० 277।
2. रोजमेरी सी० सारी ऐन्ड राबर्ट डी० विन्टर, "ग्रुप ट्रीटमेंट स्ट्रैटेजीज इन जुवेनाइल प्रोग्राम्स", क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 11, नम्बर 4, अक्टूबर, 1965, पृ० 326—340।
3. एफ० लावेल बिक्सबाई ऐन्ड लायेड मेकार्किल, "गाइडेड ग्रुप इण्टर-ऐक्शन इन करेक्शनल वर्क", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 16, नम्बर 4, अगस्त 1951, पृ० 455-461।
4. राबर्ट ई० नाल, "सोशल ग्रुपवर्क इन जुवेनाइल करेक्शन्स", सोशल सर्विस रिव्यू, वाल्यूम 48, नम्बर 1, मार्च 1974, पृ० 87।

सत्यों को स्वीकार करके अपने को उस प्रकार के अनुभवों की प्राप्ति में संलग्न कर सकेंगे जिनमें मनोवैज्ञानिक सन्तोष के अतिरिक्त सामाजिक रूप से उपयोगी व्यवहार-प्रतिमानों का भी जन्म हो सके। समस्त अपराधी-सुधार संस्थाओं में सामाजिक समूह-कार्यकर्ता निम्नलिखित दो उद्देश्यों को लेकर चलता है[1] :— (1) परम्परागत मूल व्यवस्था के आदर्शों को बनाये रखना तथा इनकी महत्ता को बल प्रदान करना, (2) सामूहिक अन्तःक्रिया के माध्यम से व्यक्ति में आत्म-विश्वास बढ़ाना।

समूह-चिकित्सा (ग्रुप थिरैपी) सामाजिक समूह-कार्य की एक अन्य प्रमुख विधि है जिसे इधर कुछ वर्षों से अपराधी-सुधार संस्थाओं में प्रयोग में लाया जा रहा है। समूह-चिकित्सा "नियंत्रित क्रिया-समूहों" तथा "मनोचिकित्सा-समूहों" के माध्यम से अपराधी-सुधार संस्थाओं के संवासियों को उस प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों में लगाती है जिनमें भाग लेकर उसके मानसिक तनाव दूर होते हैं तथा उन्हें अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों का समुचित ज्ञान प्राप्त होता है।[2] लायेड मेकार्किल ने इस विषय पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि "इधर के कुछ वर्षों में सामूहिक चिकित्सा की विधि को अपराधी-सुधार के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विधि के रूप में कारागार तथा सुधार-संस्था प्रशासकों के द्वारा स्वीकार किया गया है और बहुत सी इस प्रकार की संस्थाओं में समूह-चिकित्सा के कार्यक्रम स्थायी रूप से आयोजित किये गये हैं।"[3] इन कार्यक्रमों के आयोजन से अपराधी-सुधार संस्थाओं के संवासियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगत हुआ है और उनकी अपराधी मनोवृत्ति में सकारात्मक परिवर्तन उत्पन्न होता पाया गया है।[4] फेन्टन ने पाया कि समूह-परामर्श तथा समूह-चिकित्सा के कार्यक्रमों द्वारा बंदियों की

---

1. वही, पृ० 88।
2. माइल्स डब्ल्यू० रोडहेवर, "सोशियोलाइजेशन फन्कशन आफ रिक्रियेशन ग्रुप्स इन मैक्सिमम सेक्योरिटी प्रिजन्स", अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन्स, वाल्यूम 26, जुलाई-अगस्त, 1964, पृ० 20-23।
3. लायड डब्ल्यू० मेकार्किल, "ग्रुप-थिरेपी विद आफेन्डर्स", इन दि सोश्या-लोजी आफ पनिशमेंट ऐण्ड करेक्शन (न्यूयार्क : 1954), पृ० 196।
4. बेन ओ० हेल्लोरान, "ग्रुप साइकोथिरेपी ऐण्ड दि क्रिमिनल : ऐन इन्ट्रो-डक्शन टु रियलिटी", अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन, वाल्यूम 23, मई-जून, 1961।

अपराध-पुनरावृत्ति में कमी की जा सकती है।[1] ऐन्ड्रूज तथा जुंग ने अपराधी-सुधार संस्थाओं में समूह-परामर्श की सेवाओं को संवासियों की समायोजना सम्बन्धी समस्याओं के नियंत्रण तथा कानून-पालन की आदतों के संचालन के क्षेत्र में प्रभावोत्पादक विधि माना।[2] हैन्स इर्लिंग ने कहा कि समूह-चिकित्सा कार्यक्रम संचालित करने वाला समूह-कार्यकर्ता एक मनोरंजन प्रदान करने वाला ही व्यक्ति नहीं होता। इस प्रकार का कार्यकर्ता सुधार संस्थाओं के प्रशासक कर्मचारियों की श्रेणी में आता है जिसका कार्य संवासियों के अंतर-सम्बन्धों को विकसित करके उनके पुनर्वासन का मार्ग प्रशस्त करना है।[3] लायेड मेकार्किल ने कहा कि सुधार-संस्थाओं में संचालित समूह-चिकित्सा के कार्यक्रम संवासियों के व्यक्तित्व को प्रकट करने की एक प्रमुख विधि के रूप में देखे जाने चाहिए।[4] कनोपका ने अपराधो के सुधार-कार्य में सामाजिक समूह-कार्यकर्ता के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया[5] :—

(1) संवासी में समूह के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली सुरक्षा भावना को उत्पन्न करना जिससे वह अपने को संस्था में असहाय न पाये और अन्य संवासियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके अपने को समूह पर निर्भर व्यक्ति की भाँति महसूस कर सके।

(2) संवासी में समूह की गतिविधियों में पूरी तरह से भाग लेने की क्षमताउत्पन्न करना जिससे वह किसी संवासी-विशेष का दास बनकर न रह जाये।

---

1. नार्मन फेन्टन, "ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ग्रुप काउंसेलिंग इन स्टेट करेक्शनल सर्विस", प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन करेक्शनल ऐसोसियेशन, न्यूयार्क, 1958।
2. डी० ए० ऐन्ड्रूज ऐन्ड जे० जी० जुंग, "शार्ट-टर्म स्ट्रक्चर्ड ग्रुप काउन्सेलिंग इन स्टेट करेक्शनल सर्विस", कनेडियन जरनल आफ क्रिमिनालोजी ऐन्ड करेक्शन, वाल्यूम 19, नम्बर 1, जनवरी 1974, पृ० 5।
3. हैन्स वान इर्लिंग, "ग्रुप साइको-थिरैपी ऐन्ड ग्रुपवर्क इन अथारिटेरियन सेटिंग्स", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 48, नवम्बर-दिसम्बर 1957, पृ० 391।
4. लायेड डब्ल्यू० मेकार्किल, "ग्रुप-थिरैपी इन करेक्शनल इंस्टिट्यूशन्स", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 12, 1954, पृ० 34।
5. जिसेला कनोपका, "दि सोशल ग्रुपवर्क मेथड : इट्स यूज इन करेक्शनल फील्ड", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 20, मार्च 1956, पृ० 28।

(3) उन संवासियों का पुनर्समाजीकरण करना जिन्होंने समाज के मूल्यों, नियमों तथा आदर्शों को ठुकराकर अपराधिता को अपने व्यवहार का एक अंग बना रखा है।

(4) समूह के मध्य रहकर संवासियों में उन कार्यों को करके संतोष प्राप्त करने का प्रशिक्षण प्रदान करना जिन्हें संस्था तथा समाज दोनों में आवश्यक माना जाता है।

(5) संवासियों को समूह-कार्यक्रमों से सम्बद्ध करके उन्हें आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना, तथा

(6) समूह के समस्त संरचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लेकर संवासी में सामूहिकता तथा 'हम' की भावना उत्पन्न करना।

ऐलेक्स विलसन ने कहा कि सामाजिक समूह-कार्य के माध्यम से अपराधी-सुधार संस्थाओं के संवासियों में अकेलेपन की भावना दूर की जा सकती है तथा उनमें संस्था के कार्यक्रमों के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत की जा सकती है।[1] । निर्देशित तथा नियोजित मनोरंजन के कार्यक्रम, जो सामाजिक समूह-कार्य की शैली के अभिन्न अंग हैं, अपराधी-सुधार संस्थाओं के संवासियों की संस्थागत समाजीकरण की प्रक्रिया को एक नया मोड़ देने में सफल हो सकते हैं।[2]

अपराधी-सुधार के असंस्थागत कार्यक्रमों में सामुदायिक संगठन की विधि का प्रयोग

जिस प्रकार से वैयक्तिक सेवा-कार्य तथा सामाजिक समूह-कार्य की विधियों का प्रयोग कारागार तथा बाल-सुधार संस्थाओं के संवासियों के संस्थागत समायोजन की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है, ठीक उसी प्रकार से वर्तमान अपराधी-पुनर्वासन के क्षेत्र के असंस्थागत कार्यक्रमों में सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता सामुदायिक संगठन की विधियों का प्रयोग अपराधियों को समुदाय तथा

---

1. ऐलेक्स विलसन, "सेल्फ-हेल्प ग्रुप्स : रिहैबिलिटेशन आर रिक्रियेशन", अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन, वाल्यूम 31, नम्बर 6, नवम्बर-दिसम्बर 1969, पृ० 12–14।
2. माइल्स ई० रोडहेवर, "दि सोशलाइजेशन फन्कन्स आफ रिक्रियेशन ग्रुप्स इन मैक्सिमम सिक्योरिटी प्रिजन्स", अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन, वाल्यूम 26, नम्बर 4, जुलाई-अगस्त 1964, पृ० 19–21।

समाज में पुनर्स्थापित करने के लिए करता है। कारागार तथा अन्य प्रकार की सुधार-संस्थाओं से मुक्त अपराधियों के उत्तर-रक्षा कार्यक्रमों में समाज-कार्य की जिस प्रमुख विधि का प्रयोग किया जाता है वह सामुदायिक संगठन की विधि है। अपराधी-सुधार के समुदाय-स्थित कार्यक्रमों (जिनमें प्रोबेशन, पैरोल तथा उत्तर-रक्षा के कार्यक्रम प्रमुख हैं) में आज समाज-कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की महत्ता को सभी अपराध-सुधार प्रशासक मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।[1] वर्तमान अपराध तथा दण्डशास्त्री इस बात पर अपनी सहमति व्यक्त करते हैं कि अपराधी-सुधार का स्वप्न उस समय तक अधूरा रहेगा जब तक सुधार-कार्यक्रमों का क्षेत्र समुदाय तक विस्तृत न होकर कारागार तथा सुधार-संस्थाओं की परिधि में ही सीमित रहेगा। इस प्रकार के कार्यक्रमों के अभाव में कारागारों तथा सुधार-संस्थाओं से मुक्त बाल तथा वयस्क अपराधी सामुदायिक सहायता के अभाव में अपने को असहाय पाएँगे और पुनः अपराध करेंगे।

समुदाय के स्तर पर कार्य करनेवाले सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता कारागारों तथा बाल सुधार-संस्थाओं से मुक्त अपराधी व्यक्तियों के सामुदायिक समायोजन में सहायता प्रदान करने के लिए आज विश्व के सभी देशों में बड़ी संख्या में नियुक्त किये जा रहे हैं। इस प्रकार के कार्यकर्ता समुदाय के समस्त सामाजिक-आर्थिक साधनों की उपलब्धि मुक्त अपराधियों के पुनर्वासन में करते हैं। इस प्रकार के कार्यकर्ता समुदाय में सजा भोगे हुए अपराधी व्यक्तियों की रक्षा सामाजिक कलंक के दुष्परिणामों से करते हैं और उन्हें अनेक सामाजिक तथा सामुदायिक अभिशापों से बचाते हैं।[2] समुदाय में सजा भोगे अपराधियों के बारे में जो भी भ्रांतियाँ, शंकाएँ तथा अविश्वास की भावनाएँ प्रचलित रहती हैं उनमें कमी करना तथा अपराधियों को सामुदायिक एवं सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने का कार्य सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ताओं का ही है।

---

1. देखें : (1) जोन डब्ल्यू० स्टर्लिंग ऐन्ड राबर्ट डब्ल्यू० हार्ली, "ऐन आल्टरनेट मॉडल आफ कम्युनिटी सर्विस फार एक्स-आफेन्डर्स ऐन्ड देयर फैमिलीज," **फेडरल प्रोबेशन**, वाल्यूम 36, सितम्बर 1972, पृ० 31-34। (2) बर्ट्रेन्ड एस० ग्रिग्स ऐन्ड गैरी मैक्यून, "कम्युनिटी-बेस्ड करेक्शनल प्रोग्राम्स : ए सर्वे ऐन्ड अनैलिसिस," **फेडरल प्रोबेशन**, वाल्यूम 36, जून 1972, पृ० 7-12।
2. बर्जिल एल० विलियम्स, "रिहैबिलिटेशन ऐन्ड इकोनामिक सेल्फ-इन्टरेस्ट," **क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी**, वाल्यूम 17, नम्बर 4, अक्टूबर 1971, पृ० 411।

परिवीक्षा एवं पैरोल का कार्य प्रमुख रूप से एक ऐसा कार्य है जिसे समाज-कार्य के व्यवसाय में प्रशिक्षित कर्मचारी ही ठीक से सम्पन्न कर सकते हैं। परिवीक्षा तथा पैरोल में होनेवाला व्यक्तिगत निरीक्षण वैयक्तिक सेवा-कार्य होने के साथ ही साथ सामुदायिक समायोजन का कार्य है। इस सम्बन्ध में वान वाटर्स ने लिखा है कि सबसे अच्छे परिवीक्षा तथा पैरोल अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जो आधुनिक समाज-कार्य में प्रशिक्षित हैं तथा जो चरित्रवान् एवं वैयक्तिक सेवा-कार्य में दक्ष होने के साथ साथ सामाजिक साधनों की उपलब्धि एवं उनके प्रयोग की विधियों को भली भाँति जानते हैं और उन्हीं के अनुरूप अपराधी का पर्यवेक्षण करते हैं।[1]

सामुदायिक संगठन की विधि का प्रयोग करके सुधारात्मक समाज-कार्य-कर्ता समुदाय के उस विरोधी दृष्टिकोण को दूर कर सकते हैं जिनके कारण कारावास की मुक्ति के उपरान्त बाल तथा वयस्क अपराधी अपना सामाजिक समायोजन स्थापित कर पाने में असफल रहते हैं। अपराधियों के उत्तर-रक्षा के कार्यक्रम तभी सफल हो सकते हैं तथा अपराधियों की सामाजिक स्थापना तभी सम्भव हो सकती है जब समुदाय उनके प्रति सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करे और उन्हें जीवनयापन के लिए अवसर प्रदान करे। टपन के अनुसार इस प्रकार के कार्य का संपादन केवल व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित कार्यकर्ता ही कर सकते हैं।[2] समुदाय में सजा भोगे हुए अपराधियों की सहायता तथा पैरोकारी करने के लिए प्रशिक्षित समाज-कार्यकर्ता ही आज के युग में उपयुक्त समझे जाते हैं।[3]

अपराधी-सुधार के क्षेत्र में समाज-कार्यकर्ताओं की समस्याएँ

अपराधी-सुधार के क्षेत्र में समाज-कार्य-विधियों का प्रयोग बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों से ही आरम्भ हुआ है अतः अभी समाज-कार्य के विशिष्ट योगदान की न तो पूर्ण रूप से स्वीकृति ही हो पाई है और न ही इसकी प्रमुख विधियों की महत्ता का ठीक से मूल्यांकन हो पाया है। वस्तुस्थिति यह है कि आज समाज-कार्य अपराधी-सुधार एवं पुनर्वासन के क्षेत्र में केवल प्रयोगात्मक

---

1. वान वाटर्स, "ऐडल्ट आफेन्डर," सोशल वर्क इयरबुक, 1951, पृ० 39-40।
2. पाल डब्ल्यू० टपन, कन्टेम्पोररी करेक्शन (न्यूयार्क : 1951), पृ० 15।
3. मेरी जे० मेकार्मिक, "सोशल ऐडवोकेसी : ए न्यू डाइमेन्शन इन सोशल वर्क," सोशल केस वर्क, वाल्यूम 51, नम्बर 1, जनवरी 1970, पृ० 3-11।

रूप से स्वीकार किया जा रहा है। जो प्रमुख समस्याएँ समाज-कार्य के सफल योगदान में बाधा उत्पन्न कर रही हैं वे निम्नलिखित हैं[1] :—

(1) सुधारात्मक समाज-कार्य समाज-कल्याण के अन्य क्षेत्रों में होनेवाले समाज-कार्य की अपेक्षा अभी नया है अतः इसे निम्न स्तर का विषय माना जा रहा है।

(2) अपराधी-सुधार संस्थाओं के प्रशासक सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ता के योगदान के विषय में अभी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं और इस प्रकार के समाज-कार्यकर्ताओं की नियुक्ति में हिचकते हैं।

(3) समाज-कार्य का प्रशिक्षण प्रदान करनेवाले स्कूलों द्वारा आज तक स्पष्ट रूप से यह नहीं तय हो पाया है कि अपराधी-सुधार के क्षेत्र में समाज-कार्यकर्ताओं की क्या-क्या भूमिकाएँ हो सकती हैं और उन भूमिकाओं का निर्वाह व्यावसायिक समाज-कार्यकर्ताओं की किन कुशलताओं के प्रयोग से हो सकता है।

(4) जिन अपराधी-सुधार संस्थाओं में (चाहे वे कारागार हों या बाल सुधार संस्थाएँ) समाज-कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की गई है उनको वहाँ पर निम्न स्तर का कार्यकर्ता ही समझा गया है और उनसे ऐसे कार्य कराये जाते हैं जिन्हें कोई थोड़ा पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी कर सकता है।

(5) अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करनेवाले व्यावसायिक समाज-कार्यकर्ता पूर्ण एवं उचित स्वीकृति के अभाव में कुण्ठित हो जाते हैं और अपने कार्य को उस कुशलता से नहीं करते जिसकी उनसे अपेक्षा की जाती है।

(6) अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करनेवाले समाज-कार्यकर्ताओं का वेतन-स्तर इतना कम है कि अधिकांश कुशल कार्यकर्ता इस क्षेत्र में नौकरी करने की इच्छा नहीं प्रकट करते। जो भी समाज-कार्यकर्ता अपराधी-सुधार के संस्थागत तथा असंस्थागत कार्यक्रमों में नियुक्त हैं उनमें से अधिकांश इस प्रकार के व्यक्ति हैं जिन्हें कोई अच्छी नौकरी नहीं मिल पायी है। अच्छे एवं कुशल कार्यकर्ता (जो इन सेवाओं में संलग्न हैं) बहुधा कोई दूसरी अच्छी नौकरी ढूंढते हुए पाये जाते हैं।

---

1. एडमन्ड ओ॰ बरबैंक, सम प्राब्लेम्स ऐन्ड इशूज कन्फ्रॉन्टिंग सोशल वर्क एजुकेशन इन करेक्शन्स, सोशल वर्क एजुकेशन, वाल्यूम 10, नम्बर 4, अगस्त-सितम्बर 1962, पृ॰ 2-3।

(7) अधिकांश समाज-कार्य स्कूलों में सुधारात्मक समाज-कार्य का उचित प्रशिक्षण देने के लिए न तो शिक्षक हैं और न आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

(8) सुधारात्मक समाज-कार्य सम्बन्धी साहित्य का अभाव अच्छे एवं कुशल कार्यकर्ता तैयार करने में एक बड़ी बाधा उत्पन्न करता है।

सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ताओं की व्यावसायिक कुशलताएँ

इलियट स्टड ने सुधारात्मक समाज-कार्यकर्ताओं में निम्नलिखित व्यावसायिक कुशलताओं का होना आवश्यक बताया है :—

(1) अपराधी-सुधार के क्षेत्र एवं इससे सम्बन्ध समस्त विषयों, नीतियों तथा कार्यों का पूर्ण ज्ञान।

(2) अपराधियों के व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव तथा अपराध के कारणों एवं उपचार की आधुनिक विधियों का पूर्ण ज्ञान।

(3) अपराधी-सुधार तथा अपराधी-पुनर्वासन सम्बन्धी आवश्यक कुशलताओं को सम्पादित करने की क्षमता।

(4) अपराधियों के प्रति सहृष्णुता का दृष्टिकोण तथा उनके सुधार एवं पुनर्वासन के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने का दृढ़ निश्चय।

(5) अपराधी-सुधार के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अन्य कार्यकर्ताओं के साथ सहयोग एवं समन्वयपूर्वक कार्य करने की कुशलता आदि।

भारत में सुधारात्मक समाज-कार्य की प्रगति एवं समस्याएँ

भारत में सुधारात्मक समाज-कार्य अभी केवल नहीं के बराबर विकसित हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समाज-कार्य ही अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में है। जब तक समाज-कार्य को एक व्यवसाय के रूप में स्वीकृति नहीं प्राप्त होगी तब तक अपराधी-सुधार के क्षेत्र में समाज-कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की आवश्यकता को महत्व नहीं प्राप्त हो सकता। संतोष का विषय इतना अवश्य है कि भारत के अपराधी-सुधार के क्षेत्रों में समाज-कार्यकर्ताओं की नियुक्ति पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से सरकार द्वारा बाल तथा वयस्क अपराधियों के सुधार एवं पुनर्वासन के विषय पर जो भी विशेषज्ञ समितियाँ नियुक्त की गई हैं, उन सभी ने अपने प्रतिवेदनों में यह सिफारिश स्पष्ट रूप से की है कि अपराधी-सुधार एवं पुनर्वासन के क्षेत्र में कार्यान्वित किये

गए समस्त संस्थागत तथा असंस्थागत कार्यक्रमों में कुशल एवं प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता सबसे अधिक महत्व का विषय है। इन समस्त कार्यक्रमों में जिस प्रकार के प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति की सिफारिश इन विशेषज्ञ समितियों द्वारा की गई है उनमें समाज-कार्य में व्यावसायिक प्रशिक्षण-प्राप्त व्यक्तियों को वरीयता प्रदान करने की बात कही जा रही है। देश के अधिकांश राज्यों में बड़ी संख्या में अब परिवीक्षा अधिकारी, सुधार अधिकारी तथा बाल-गृहों, प्रतिप्रेषण एवं पर्यवेक्षण गृहों के अधीक्षकों की नियुक्ति समाज-कार्य को डिग्री लिए हुए व्यक्तियों को जा रही है। आशा की जाती है कि आगे आनेवाले वर्षों में व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियों को अपराधी-सुधार एवं पुनर्वासन के क्षेत्र में और अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकेगा।



ग्रन्थ-सूची

(BIBLIOGRAPHY)

पुस्तकें

अब्राहमसन, डेविड, क्राइम ऐन्ड दि ह्यूमन माइन्ड (न्यूयार्क : 1954)।

ओसबरी, हरबर्ट, दि गैंग्स आफ न्यूयार्क (न्यूयार्क : 1928)।

आसफेनबर्ग, जी०, क्राइम ऐन्ड इट्स रिप्रेशन (स्प्रिंगफील्ड : 1927)।

अलेकजैन्डर, माइल ई०, जेल ऐडमिनिस्ट्रेशन (स्प्रिंगफील्ड : 1927)।

आदम, एच० एल०, दि इण्डियन क्रिमिनल (लन्दन : 1909)।

अलेकजैन्डर, फ्रैन्ज ऐन्ड हीली, विलियम, रूट्स आफ क्राइम : साइको-अनैलिटिक स्टडीज (न्यूयार्क : 1935)।

अलेकजैन्डर, फ्रैन्ज, ऐन्ड स्टास ह्यूगो, दि क्रिमिनल, दि जज ऐन्ड दि पब्लिक (ग्लेनको : 1956)।

ओपेनहाइमर, एच०, दि रैशनेल आफ पनिशमेन्ट (लंदन : 1913)।

ओहलिन लायेड ई०, सोश्यालोजी ऐन्ड दि फील्ड आफ करेक्शन्स (न्यूयार्क : 1956)।

आसबर्न, टामस एम०, सोसायटी ऐन्ड प्रिजन्स (येल : 1956)।

आसबर्न, टामस एम०, विदिन प्रिजन वाल्स (न्यूयार्क : 1928)।

इलियट मेबेल ए०, क्राइम ऐन्ड माडर्न सोसायटी (न्यूयार्क : 1952)।

इलियट मेबेल ए०, कोअर्शन इन पेनल ट्रीटमेन्ट (इथाका : 1947)।

इव्स जार्ज, ए हिस्ट्री आफ पेनल मेथड्स (लंदन : 1914)।

इसनर, विक्टर, दि डेलिन्क्वेन्सी लेबेल (न्यूयार्क : 1956)।

इलिंगटन, जान आर०, प्रोटेक्टिंग अवर चिल्ड्रेन फ्राम क्रिमिनल कैरियर्स (न्यूयार्क : 1948)।

इविंग, अलफ्रेड सी०, मोरैलिटी आफ पनिशमेन्ट (लन्दन : 1929)।

इसेनेक, एच० जे०, क्राइम ऐन्ड पर्सनैलिटी (बोस्टन : 1964)।

इजारोस्की, गरट्रूड, फिलासोफिकल पर्स्पेक्टिव्स आन पनिशमेन्ट (अलबैनी : 1972)।

इसलर, के० आर० (एड०) सर्चलाइट्स आन डेलिन्क्वेन्सी : न्यू साइको-अनैलिटिक स्टडीज (न्यूयार्क : 1949)।

एलिस, हैवलक, दि क्रिमिनल (न्यूयार्क : 1890)।

ऐक्शन, एच० बी०, दि फिलासफी आफ पनिशमेन्ट (लन्दन : 1969)।

ऐन्सेल, मार्क, सोशल डिफेन्स : ए माडर्न ऐप्रोच टु क्रिमिनल प्राब्लेम्स (न्यूयार्क : 1965)।

काल्डवेल, राबर्ट जी०, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1956)।

केवन, जार्डन टी०, डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम : क्रास कल्चरल पर्स्पेक्टिव (फिलाडेल्फिया : 1968)।

केवन रूथ, एस०, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (फिलाडेल्फिया : 1969)।

केवन रूथ, एस०, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1955)।

कार्न, रिचर्ड आर० ऐन्ड लायड डब्ल्यू० मेकार्किल, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1956)।

बिलनार्ड, मार्शल बी०, दि ब्लैक मार्केट (न्यूयार्क : 1952)।

बिलनार्ड, मार्शल बी०, सोश्यालोजी आफ डीवियेन्ट बिहैवियर (न्यूयार्क : 1964)।

क्रेसी, डोनाल्ड आर०, अदर पीपुल्स मनी (ग्लेनको : 1953)।

क्रेसी, डोनाल्ड आर० ऐन्ड वार्ड, डेविड ए०, डेलिन्क्वेन्सी क्राइम ऐन्ड सोशल प्रोसेस (न्यूयार्क : 1969)।

कोहेन, अलबर्ट के०, डेलिन्क्वेन्ट ब्वायेज : दि कल्चर आफ दि गैंग (ग्लेनको : 1955)।

कार्पमैन, बान, केस स्टडीज इन दि साइको-पैथालोजी आफ क्राइम (वाशिंगटन : 1933)।

केफर, ईस्ट, क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1951)।

केबेसियस, डब्ल्यू० सी०, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड दि स्कूल (यांकर्स : 1945)।

कैलबर्ट, ई० आर०, कैपिटल पनिशमेन्ट इन दि ट्वेनटियथ सेन्चुरी (लन्दन : 1927)।

कैवेरेसियस, डब्ल्यू० सी०, जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड दि कोर्ट्स (यांकर्स : 1945)।

कैन्टर, एन० एफ०, क्राइम ऐन्ड सोसायटी (न्यूयार्क : 1916)।

कैनटाइल, एच० ऐन्ड रेनर डी०, प्रिजन एटिकेट (न्यूयार्क : 1950)।

क्लार्क, रैमसे, क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1971)।

क्लेमर, डोनाल्ड, दि प्रिजन कम्युनिटी (न्यूयार्क : 1956)।

कोनार्ड, जान० पी०, क्राइम ऐन्ड इट्स करेक्शन (लन्दन : 1965)।

क्रेसी, डोनाल्ड आर०, दि प्रिजन स्टडीज इन इन्स्टिट्यूशनल आर्गेनाइजेशन ऐन्ड चेन्ज (न्यूयार्क : 1961)।

क्रेसी, डोनाल्ड आर०, दि थेफ्ट आफ दि नेशन : दि स्ट्रक्चर आफ आर्गेनाज्ड क्राइम इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1969)।

कटारे, एस०, पैटर्न्स आफ डकैती इन इण्डिया (नई दिल्ली : 1972)।

क्लेयर, ई० जे०, अनाटमी आफ ए प्रिजन (बाल्टीमोर : 1962)।

कार्टर, राबर्ट एम० ऐन्ड लेस्ली, टी० विलकिन्स, प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल : सेलेक्टेड रीडिंग्स (न्यूयार्क : 1970)।

क्लावर्ड, रिचर्ड ए०, ऐण्ड लायड ई० ओहलिन, डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड अपारचूनिटी : ए थ्योरी आफ डेलिन्क्वेन्ट गैंग्स (न्यूयार्क : 1960)।

कैसेबाम, जीन, प्रिजन ट्रीटमेन्ट ऐन्ड पैरोल सरवाइवल : ऐन इम्पेरिकल असेसमेन्ट (न्यूयार्क : 1971)।

क्रोबिन, सालोमन, दि डिटेरेन्ट इफेक्टिवनेस आफ क्रिमिनल जस्टिस सैन्कशन स्ट्रैटेजीज (कैलिफोर्निया : 1972)।

कुइने, रिचर्ड, क्राइम ऐन्ड जस्टिस इन सोसायटी (बोस्टन : 1969)।

कुइने, रिचर्ड, दि प्राब्लेम आफ क्राइम (न्यूयार्क : 1970)।

कुइने, रिचर्ड, दि सोशल रियलिटी आफ क्राइम (बोस्टन : 1970)।

कुइने, रिचर्ड ऐन्ड क्लिनार्ड, मार्शल बी०, क्रिमिनल बिहेवियर सिस्टम : ए टाइपालोजी (न्यूयार्क : 1967)।

काक्स, एडमन्ड सी०, पुलिस ऐन्ड क्राइम इन इण्डिया (लंदन : 1936)।

कार्पमैन, बेनजेमिन, दि सेक्जुवल आफेन्डर ऐन्ड हिज क्राइम्स (न्यूयार्क : 1963)।

केरावाला, पेरीन सी०, ए स्टडी इन इण्डियन क्राइम (बम्बई : 1959)।

क्लीन, मालकम, जुवेनाइल गैंग्स इन अवर कान्टेक्स्ट : थ्योरी, रिसर्च ऐन्ड ऐक्शन (इंगिलवुड क्लिफ्स : 1967)।

कनोपका, जिसेला, दि ऐडोलिसेन्ट गर्ल इन कानफिलक्ट (इंगिलवुड क्लिफ्स : 1966)।

कार्न, रिचर्ड आर०, ऐन्ड मेकार्किल लायड डब्ल्यू०, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1959)।

क्रेशमर, अरनेस्ट, फिजीक ऐन्ड कैरेक्टर (लंदन : 1925)।

गिलिन, जे० एल०, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1945)।

गारफेलो, आर० क्रिमिनालोजी (बोस्टन : 1914)।

गोरिंग, चार्ल्स, दि इंगलिश कनविक्ट (लंदन : 1913)।

ग्रुनहट, मैक्स, जुवेनाइल आफेन्डर्स बिफोर दि कोर्ट्स (आक्सफोर्ड : 1956)।

ग्लुक, शेल्डन, ऐन्ड इलीनर, टी०, अनरैवेलिंग जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1950)।

ग्रुनहट, मैक्स, पेनल रिफार्म (आक्सफोर्ड : 1948)।

ग्लोवर, एलिजाबेथ आर०, प्रोबेशन ऐन्ड रिएजूकेशन (लंदन : 1949)।

गिलामबार्डो, रोज, सोसायटी आफ विमेन : ए स्टडी आफ ए विमेन्स प्रिजन (न्यूयार्क : 1966)।

गवर्नमेण्ट आफ यूनाइटेड स्टेट, दि चैलेन्ज आफ क्राइम इन ए फ्री सोसाइटी (वाशिंगटन : 1967)।

गवर्नमेण्ट आफ यूनाइटेड स्टेट, दि क्रिमिनल आफेन्डर : ह्वाट शुड वी डन ? (वाशिंगटन : 1967)।

गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, माडेल प्रिजन मैनुवल (नई दिल्ली : 1959)।

गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, प्रिजन्स इन इण्डिया (नई दिल्ली : 1969)।

गर्बर, रुडोल्फ जे० ऐन्ड पैट्रिक, डी० मेकऐनी, कन्टेम्पोररी पनिशमेंट : व्यूज, एक्सप्लेनेशन्स, ऐन्ड जस्टिफिकेशन (इण्डियाना : 1972)।

गिबन्स, डान सी०, चेन्जिंग दि ला-ब्रेकर (न्यूजर्सी : 1965)।

गिबन्स, डान सी०, सोसायटी, क्राइम ऐन्ड क्रिमिनल कैरियर्स (इंगलवुड क्लिफ्स : 1968)।

ग्लासर डेनियल, दि इफेक्टिवनेस आफ ए प्रिजन ऐन्ड पैरोल सिस्टम (इण्डियाना : 1964)।

ग्रीन, एडवर्ड, जुडीशियल ऐटीट्यूड्स इन सेन्टेन्सिंग (न्यूयार्क : 1961)।

ग्रुप, स्टैनली ई०, थ्योरीज आफ पनिशमेंट (इण्डियाना : 1971)।

गुप्ता, रामप्रसाद दास, क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट इन एनशियेन्ट इण्डिया (वाराणसी : 1973)।

गियारडिनी, जी० आई०, दि पैरोल (स्प्रिंगफील्ड : 1959)।

ग्लुक, शेल्डन ऐन्ड ग्लुक, इलीनर, डेलिक्वेन्ट्स इन दि मेकिंग (न्यूयार्क : 1952)।

ग्लुक, शेल्डन ऐन्ड ग्लुक इलीनर, फैमिली इनवायरनमेंट ऐन्ड डेलिक्वेन्सी (बोस्टन : 1962)।

ग्लुक, शेल्डन ऐन्ड ग्लुक, इलीनर, फाइव हण्ड्रेड डेलिक्वेन्ट विमेन (न्यूयार्क : 1930)।

ग्लुक, शेल्डन ऐन्ड ग्लुक, इलीनर, प्रेडिक्टिंग डेलिक्वेन्सी ऐन्ड क्राइम (कैम्ब्रिज : 1959)।

ग्लुक, शेल्डन ऐन्ड इलीनर, टी०, फिजीक ऐन्ड डेलिक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1956)।

जेफरी, सी० आर०, क्राइम प्रिवेन्शन थ्रू एनवायरनमेन्ट्स डिजाइन (कैलिफोर्निया : 1971)।

जान्स्टन, नारमन, दि सोष्यालोजी आफ पनिशमेंट ऐन्ड करेक्शन (न्यूयार्क : 1962)।

जान्स्टन, इलमर एच०, क्राइम, करेक्शन, ऐन्ड सोसायटी (इलीन्वाय : 1964)।

जिमरिंग, फ्रैंकलिन ई० ऐन्ड गारडन, हाकिन्स, डिटरेन्स : दि लीगल थ्रेट इन क्राइम कन्ट्रोल (शिकागो : 1973)।

जोन्स, हावर्ड, क्राइम इन ए चेन्जिंग सोसायटी (बाल्टीमोर : 1967)।

टाफ्ट, डोनाल्ड आर०, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1956)।

टेनेनबाम, फ्रैंक, क्राइम ऐन्ड दि कम्युनिटी (सिनसिनाटी : 1938)।

टार्ड, जी०, पेनल फिलासफी (बोस्टन : 1912)।

टुलचिन, साईमन एस०, इनटेलिजेन्स ऐन्ड क्राइम (शिकागो : 1939)।

तपन, पाल डब्ल्यू०, कन्टेपोररी करेक्शन (न्यूयार्क : 1951)।

तपन, पाल डब्ल्यू०, जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1949)।

तपन, पाल० डब्ल्यू०, क्राइम, जस्टिस ऐन्ड करेक्शन (न्यूयार्क : 1960)।

थर्सटन, हेनरी डब्ल्यू०, कनसर्निंग जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1952)।

टीटर्स, नेगली के०, दे वेयर इन प्रिजन (फिलाडेल्फिया : 1937)।

टीटर्स, नेगली के०, दि क्रैडिल आफ दि पेनीटेनशियरी (फिलाडेल्फिया : 1955)।

टीटर्स, नेगली के०, दि चैलेन्ज आफ डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1950) ।

टर्क, आस्टिन टी०, क्रिमिनैलिटी ऐन्ड लीगल आर्डर (शिकागो : 1969) ।

ड्रेसलर, डेविड, प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल (न्यूयार्क : 1951) ।

ड्रेसलर, डेविड, रीडिंग्स इन क्रिमिनालोजी ऐन्ड पेनालोजी (न्यूयार्क : 1964) ।

डेविड, माइकेल, लीव्स फ्राम ए प्रिजन डायरी (लंदन : 1885) ।

दोस्तोव्स्की, एफ०, दि हाउस आफ दि डेड (लंदन : 1962) ।

डेनिज, साइमन ऐन्ड वाल्टर सी० रैकलेस, क्रिटिकल इशूज इन दि स्टडी आफ क्राइम (बोस्टन : 1968) ।

डेनिज, साइमन, डाइन्स, रसेल आर० ऐन्ड क्लार्क अलफ्रेड, डीवियेन्स (न्यूयार्क : 1969) ।

नाइस रिचर्ड, क्राइम ऐन्ड इनसैनिटी (न्यूयार्क : 1913) ।

नेल्सन, विक्टर, प्रिजन डेज ऐन्ड नाइट्स (बोस्टन : 1932) ।

न्यूडेन, रिचर्ड डी०, क्रिमिनालोजिकल कन्ट्रोवर्सीज (न्यूयार्क : 1968) ।

न्यूटन, जार्ज डी०, फायर आर्म्स ऐन्ड वायलेन्स इन अमेरिकन लाइफ (वाशिंगटन : 1968) ।

नीबर्ग, एच० एल०, पोलिटिकल वायलेन्स ऐन्ड बिहेवियरल प्रोसेस (न्यूयार्क : 1969) ।

पाउण्ड, रोसको, क्रिमिनल जस्टिस इन अमेरिका (न्यूयार्क : 1930) ।

पोलक, ओटो, दि क्रिमिनैलिटी आफ वुमन (फिलाडेल्फिया : 1950) ।

पिजन, हेलेन डी० प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल इन थ्योरी ऐन्ड प्रैक्टिस (न्यूयार्क : 19+2) ।

पैटर्सन, ए०, पैटर्सन आन प्रिजन्स (लंदन 1951) ।

पावेल, जे० सी०, दि अमेरिकन साइबेरिया (शिकागो : 1891) ।

प्लेफेयर, गाइल्स ऐन्ड डेरिक सिबटन, दि आफेन्डर : दि केस अगेन्स्ट लीगल वेंजियेन्स (न्यूयार्क : 1957) ।

पिनकाफस, एडमन्ड एल०, दि रैशनेल आफ लीगल पनिशमेंट (न्यूयार्क : 1966) ।

पोर्टफील्ड, ए० एल०, यूथ इन ट्रबुल (टेक्सास : 1946) ।

फेरी, ई०, क्रिमिनल सोश्यालोजी (बोस्टन : 1917) ।

फ्रीडलैण्डर, केट, दि साइको-अनैलिटिक ऐप्रोच टु जुवेनाइल डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1944)।

फिशमैन, जोसेफ एफ०, सेक्स इन प्रिजन (न्यूयार्क : 1934)।

फाक्स एल०, दि इंगलिश प्रिजन ऐन्ड बोर्स्टल सिस्टम (लंदन : 1952)।

फ्लेशर, बेल्टन एम०, इकोनामिक्स आफ डेलिक्वेन्सी (शिकागो : 1966)।

फ्रैन्केल, मारविन ई० क्रिमिनल सेन्टेंसेज (न्यूयार्क : 1972)।

फुलर, लान एल०, दि मोरैलिटी आफ ला (येल : 1964)।

फरडीनैण्ड थेरडोर एन०, टाइपालोजीज आफ डेलिन्क्वेन्सी : ए क्रिटिकल अनैलिसिस (न्यूयार्क : 1966)।

बार्न्स, हैरी इलमर, ऐन्ड नेगली के० टीटर्स, न्यू होराइजन्स, इन क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1959)।

बर्नाल्डो, डि क्यूरोस, माडर्न थ्योरीज आफ क्रिमिनैलिटी (बोस्टन : 1911)।

बांगर, डब्ल्यू० ए०, क्रिमिनैलिटी ऐन्ड इकोनामिक कन्डिशंस (बोस्टन : 1916)।

बर्ट, सिरिल, दि यंग डेलिक्वेन्ट (लंदन : 1944)।

ब्लेक, मेरी ई०, यूथ ग्रुप्स इन कानफ्लिक्ट (वाशिंगटन : 1958)।

ब्लूमर, हरबर्ट ऐन्ड फिलिप एम० हासर, मूवीज, डेलिन्क्वेन्सी ऐन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1933)।

वाई०, आर० टी०, कैपिटल पनिशमेंट इन दि यूनाइटेड स्टेट्स (फिलाडेलफिया : 1919)।

बियर्ड, बेल बून, जुवेनाइल प्रोबेशन (न्यूयार्क : 1936)।

बेट्स, सैनफोर्ड, प्रिजन्स ऐन्ड बियांड (न्यूयार्क : 1936)।

बर्कमन, अलेक्जैन्डर, प्रिजन मेम्वायर्स आफ ऐन अनार्किस्ट (लंदन : 1926)।

ब्लाच, हरबर्ट ए० ऐन्ड पिलन, एफ० टी०, डेलिन्क्वेन्सी : दि जुवेनाइल आफेन्डर इन अमरीका टुडे (न्यूयार्क : 1956)।

ब्लाच, हरबर्ट ए० ऐन्ड नीडरहाफर, आर्थर, दि गैंग : ए स्टडी इन अडोलिसेन्ट बिहेवियर (न्यूयार्क : 1958)।

ब्लाच, हरबर्ट ए० ऐन्ड प्रिन्स मेलविन, सोशल क्राइसिस ऐन्ड डीवियेन्स (न्यूयार्क : 1967)।

ब्लाच, हरबर्ट ए० ऐन्ड फिलन, एफ० टी०, डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1956)।

बोइस, हेनरी एम०, दि साइन्स आफ पेनालोजी (न्यूयार्क : 1901)।

ब्रोकवे, जेड० आर०, फिफ्टी इयर्स आफ प्रिजन सर्विस (न्यूयार्क : 1912)।

बर्न्स, राबर्ट ई० आई० एम० ए०, फ्यूजिटिव फ्राम ए जार्जिया चेन गैंग (न्यूयार्क : 1932)।

बान्डूरा, अलबर्ट, दि प्रिन्सिपल्स आफ बिहेवियर माडिफिकेशन (न्यूयार्क : 1969)।

बेकारिया, सिजारे, आन क्राइम्स ऐन्ड पनिशमेंट्स (इण्डियाना : 1963)।

बेदायू, ह्यूगो ए०, दि डेथ पेनाल्टी इन अमेरिका : ऐन अन्थालोजी (न्यूयार्क : 1967)।

बेन्थम, जरेमी, दि वर्क्स आफ जरेमी बेन्थम (न्यूयार्क : 1962)।

बैरन, मिल्टन एल०, दि जुवेनाइल इन डेलिक्वेन्ट सोसायटी (न्यूयार्क : 1959)।

बेल, जोजफीन, क्राइम इन अवर टाइम (लंदन : 1952)।

बरसानी, कार्ल ए०, क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (लंदन : 1970)।

मार्शल, विलियम एल०, दि लीगल डेफिनिशन आफ क्राइम ऐन्ड क्रिमिनल्स (शिकागो : 1952)।

माइकेल जे० ऐन्ड एम० जे० एडलर, क्राइम ला ऐन्ड सोशल साइंस (न्यूयार्क : 1933)।

मारिस, अलबर्ट, क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1934)।

मानहाइम, हरमन, पायनियर्स इन क्रिमिनालोजी (शिकागो : 1960)।

मानहाइम, हरमन, ग्रुप प्राब्लेम्स इन क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट (लंदन : 1955)।

मैककार्ड विलियम, ऐन्ड जान मैककार्ड, साइकोपैथी ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1956)।

मारिस, टेरेन्स, दि क्रिमिनल एरिया (लंदन : 1958)।

मैकडोनाल्ड, जे० आर० सी०, क्राइम इज ए बिजिनेस (स्टैनफोर्ड : 1940)।

मानहाइम, हरमन, क्रिमिनल जस्टिस ऐन्ड सोशल रिकान्स्ट्रक्शन (न्यूयार्क : 1946)।

मूले, रेमन्ड, अवर क्रिमिनल कोर्ट्स (न्यूयार्क : 1930)।

मुलर, जरहार्ड ओ० डब्ल्यू०, एसेज इन क्रिमिनल साइन्स (न्यू जर्सी : 1961)।

मार्टिन, जान बी०, ब्रेक डाउन दि वाल्स (न्यूयार्क : 1954)।

मेककार्मिक, ए० एच०, एजुकेशन आफ ऐडल्ट प्रिजनर्स (न्यूयार्क : 1931)।

मारिस, नारवल, दि हैबिचुवल क्रिमिनल (कैम्ब्रिज : 1951)।

मेकार्ड, विलियम, दि साइकोपैथ : ऐन एसे आन क्रिमिनल माइन्ड (न्यूयार्क : 1964)।

मेकोनोची, ए०, मार्क सिस्टम आफ प्रिजन डिसिप्लिन (लंदन : 1857)।

मेकेल्वी, ब्लेक, अमेरिकन प्रिजन्स (शिकागो : 1936)।

मेज, जान बी०, क्राइम ऐन्ड दि सोशल स्ट्रक्चर (लंदन : 1967)।

मारिस, टेरेन्स, ऐन्ड पालिन मारिस, पेन्टोनवाल : ए सोशियोलाजिकल स्टडी आफ ऐन इंगलिश प्रिजन (लंदन : 1963)।

मेडेन, एडवर्ड एच०, फिलसाफिकल पर्स्पेक्टिव्स आन पनिशमेंट (स्प्रिंगफील्ड : 1968)।

मेन्जिर, कार्ल, दि क्राइम आफ पनिशमेंट (न्यूयार्क : 1966)।

मिटफोर्ड, जेसिका, काइन्ड ऐन्ड अनयूसफुल पनिशमेंट (न्यूयार्क : 1973)।

मावरली, वाल्टर, दि एथिक्स आफ पनिशमेंट (लंदन : 1968)।

मर्फी जेफरी, जी०, पनिशमेंट ऐन्ड रिहैबिलिटेशन (कैलिफोर्निया : 1973)।

यंग, पालिन बी०, सोशल ट्रीटमेंट इन प्रोबेशन ऐन्ड डेलिंक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1952)।

यूनाइटेड नेशन्स, कैपिटल पनिशमेंट (न्यूयार्क : 1968)।

रैकलेस, वाल्टर सी०, दि क्राइम प्राब्लेम (न्यूयार्क : 1955)।

रेकलेस, वाल्टर सी०, दि इटियालोजी आफ डेलिक्वेन्ट ऐन्ड क्रिमिनल बिहेवियर (न्यूयार्क : 1943)।

रोड्स, एच० टी० एफ०, दि क्रिमिनल्स वी डिजर्व (लंदन : 1937)।

रूस, जार्ज ऐन्ड ओटो किरचीमर, पनिशमेंट ऐन्ड सोशल स्ट्रक्चर (कोलम्बिया : 1939)।

रीबाल्ड, पाल, सोसाइटी ऐन्ड इट्स क्रिमिनल्स (न्यूयार्क : 1950)।

रोबिन्सन, एल० एन०, पेनालोजी इन दि यूनाइटेड स्टेट्स (फिलाडेल्फिया : 1921)।

रोबिन्सन एल० एन०, शुड प्रिजनर्स वर्क (फिलाडेल्फिया : 1931)।

राव, बीनू गोपाल एस०, फेसेट्स आफ क्राइम इन इण्डिया (नई दिल्ली : 1967)।
रेडजिनोविच, एल०, क्राइम्स आफ वायलेन्स (लंदन : 1963)।
रेडजिनोविच, एल०, क्राइम ऐन्ड जस्टिस (न्यूयार्क : 1971)।
रोटेनबर्ग, साइमन, दि इकोनामिक्स आफ क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट (वाशिंगटन : 1973)।
रूसेक, जोसेफ एस०, सोश्यालोजी आफ क्राइम (न्यूयार्क : 1961)।
रसिंग, विलियम ए०, डीवियेन्ट बिहेवियर ऐन्ड सोशल प्रोसेस (शिकागो : 1969)।
लाम्ब्रोसो, सी०, क्राइम, इट्स काजेज ऐन्ड रेमिडीज (बोस्टन : 1911)।
लीविस, ओ० एफ०, दि डेवलपमेंट आफ अमेरिकन प्रिजन्स ऐन्ड प्रिजन कस्टम (अलबेनी : 1922)।
लिन्डर, राबर्ट एम०, स्टोनवाल्स ऐन्ड मेन (न्यूयार्क : 1946)।
लेफिन, जे० ऐन्ड एबिलार्ड शूमन, अनाटमी आफ कैप्टिविटी (लंदन : 1968)।
लेमर्ट, एडविन एम०, ह्यूमन डीवियेन्स, सोशल प्राब्लेम्स ऐन्ड सोशल कन्ट्रोल (न्यू जर्सी : 1967)।
लुन्डेन, वाल्टर ए०, फैक्ट्स आन क्राइम ऐन्ड क्रिमिनल्स (आयोवा : 1961)।
लारेन्स, जान, ए हिस्ट्री आफ कैपिटल पनिशमेंट (न्यूयार्क : 1960)।
वाइनिंग, जेम्स एम०, बिहाइण्ड दीज वाल्स (न्यूयार्क : 1933)।
वूटन, बारबरा, क्राइम ऐन्ड दि क्रिमिनल ला (लंदन : 1963)।
विलकिन्स, लेस्ली टी०, इवैलुएशन आफ पेनल मेजर्स (न्यूयार्क : 1969)।
वीहोफेन, हेनरी, दि अर्ज टु पनिश (न्यूयार्क : 1959)।
वाकर, निगेल, सेनटेन्सिग इन ए रैशनल सोसायटी (न्यूयार्क : 1969)।
वाकर, निगेल, क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट इन ब्रिटेन (एडिनबर्ग : 1968)।
वेडर, क्लाइड ऐन्ड के, बारबरा ए०, पेनालोजी (स्प्रिंगफील्ड : 1964)।
वूल्फगैंग, मारविन ई०, स्टडीज इन होमीसाइड (न्यूयार्क : 1967)।
वूल्फगैंग, मारविन ई०, ऐन्ड जान्स्टन, नार्मन, दि सोश्यालोजी आफ क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी (न्यूयार्क : 1970)।
वोल्ड, जार्ज बी०, थ्योरेटिकल क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1958)।
वुड, आर्थर ई० ऐन्ड जान बी० वेट, क्राइम ऐन्ड इट्स ट्रीटमेण्ट (न्यूयार्क : 1941)।

वर्थम, फेडरिक, दि शो आफ वायलेन्स (न्यूयार्क : 1949)।
ह्वाइट, विलियम एफ०, स्ट्रीट कारनर सोसायटी (शिकागो : 1943)।
वाइन्स, एफ० एच०, पनिशमेण्ट ऐन्ड रिफारमेशन (न्यूयार्क : 1895)।
विलसन, जोसेफ जी०, दि क्राइम आफ पनिशमेण्ट (न्यूयार्क : 1921)।
विलसन, ओ० डब्ल्यू०, पुलिस ऐडमिनिस्ट्रेशन (न्यूयार्क : 1950)।
विन्सलो राबर्ट डब्ल्यू०, जुवेनाइल इन ए फ्री सोसायटी (कैलिफोर्निया : 1968)।
विलयम, जोसेफ जी०, आर प्रिजन्स नेसेसरी ? (फिलाडेलफिया : 1920)।
ब्लेक, वाल्टर एम०, ग्लेन एम० किन्डाल ऐन्ड हावर्ड एल० ब्रिग्स, एजुकेशन विदिन प्रिजन वाल्स (न्यूयार्क : 1939)।
वेट, जान० पी०, दि प्रिवेन्शन आफ रिपीटेड क्राइम (ऐन आरबर : 1943)।
विटमर, हेलन एल० ऐन्ड एडिथ टफ्ट्स, दि इफेक्टिवनेस आफ डेलिन्क्वेन्सी प्रोग्राम्स (वाशिंगटन : 1954)।
सेलिन, थार्सटेन, कल्चर कानफिलक्ट ऐन्ड क्राइम (न्यूयार्क : 1938)।
सेलिन, थार्सटन, ह्वाइट कालर क्राइम (न्यूयार्क : 1949)।
सदरलैण्ड, ई० एच०, क्रिमिनैलिटी आफ डेलिन्क्वेन्ट यूथ (न्यूयार्क : 1949)।
स्लासन, जान, दि डेलिन्क्वेन्ट ब्वायेज (बोस्टन : 1926)।
सेलीलीस, आर०, दि इनडिवीजुवलाइजेशन आफ पनिशमेण्ट (बोस्टन : 1911)।
सेन, प्रशान्तो के०, फ्राम पनिशमेण्ट टु कोवर्शन (लन्दन : 1932)।
सुसमैन, फ्रेडरिक बी०, लाज आफ जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1950)।
सूडर, केनथन जे०, प्रिजनर्स आर पीपुल (न्यूयार्क : 1952)।
सियर्स, लारेन्स, रेस्पान्सिबिलिटी : इट्स डेवलपमेण्ट थ्रू रिवार्ड ऐन्ड पनिशमेन्ट (न्यूयार्क : 1932)।
सर्ज, विक्टर, मैन इन प्रिजन (लंदन : 1970)।
शा, बर्नार्ड, दि क्राइम आफ इम्प्रिजनमेन्ट (न्यूयार्क : 1946)।
साइक्स, ग्रेशम एम०, दि सोसाइटी आफ कैप्टिव्स (प्रिन्स्टन : 1958)।
साइक्स, ग्रेशम एम०, क्राइम ऐन्ड सोसाइटी (न्यूयार्क : 1967)।
सिंगटन, डोरिक ऐन्ड गाइल्स प्लेफेयर, क्राइम : पनिशमेण्ट ऐन्ड क्योर (लंदन : 1965)।
शुर, एडविन एम०, लेबेलिंग डेलिक्वेन्ट बिहेवियर : इट्स सोश्यालोजिकल इम्प्लिकेशन्स (न्यूयार्क : 1971)।

शुर, एडविन एम०, क्राइम विदाउट विक्टिम्स : डीवियेण्ट बिहेवियर ऐन्ड पब्लिक पालिसी (न्यू जर्सी : 1965)।

सेविट्स, लियोनार्ड, डाइलेमाज इन क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1967)।

सेफर, स्टिफेन, दि विक्टिम ऐन्ड हिज क्रिमिनल्स (न्यूयार्क : 1978)।

श्लैप, एम० जी०, दि न्यू क्रिमिनालोजी (न्यूयार्क : 1928)।

सेट्टर, एडविन, अवर क्रिमिनल सोसायटी (इंगिलवुड क्लिफ्स : 1969)।

शार्ट, जेम्स एम०, गैंग डेलिक्वेन्सी ऐन्ड डेलिक्वेन्सी सब-कल्चर्स (न्यूयार्क : 1968)।

स्टार, ऐन्थनी, सेक्सुवल डीवियेशन (बाल्टीमोर : 1964)।

स्ट्रेटन, जान आर० ऐन्ड टेरी, राबर्ट एम०, प्रिवेन्शन आफ डेलिक्वेन्सी (न्यूयार्क : 1968)।

हीली, विलियम ऐन्ड आगस्ता एफ० ब्रोनर, न्यू लाइट्स आन डेलिक्वेन्सी ऐन्ड इट्स ट्रीटमेन्ट (येल : 1936)।

हीली, विलियम, दि इनडिवीजुवल डेलिक्वेन्ट (बोस्टन : 1912)।

हाल, जरोमे, थैफ्ट, ला ऐन्ड सोसायटी (इन्डियानापोलिस : 1952)।

हेन्टिग, हैन्स वान, पनिशमेण्ट, इट्स ओरिजिन, परपज ऐन्ड साइकालोजी (लंदन : 1937)।

हेन्टिग, हैन्स वान, क्राइम : काजेज ऐन्ड कन्डिशन्स (न्यूयार्क : 1931)।

हैकरवाल, बी० एस०, सोशल ऐस्पेक्ट्स आफ क्राइम इन इन्डिया (लंदन : 1940)।

हैसलर, अलफ्रेड, डायरी आफ ए सेल्फ-मेड कनविक्ट (शिकागो : 1954)।

हेनीस, एफ० ई०, दि अमेरिकन प्रिजन सिस्टम (न्यूयार्क : 1939)।

हुड, राजर ऐन्ड रिचर्ड स्पार्क्स, की इश्यूज इन क्रिमिनालोजी (लंदन : 1970)।

हूटन, ई०, क्राइम ऐन्ड दि मैन (लंदन : 1939)।

हूटन, अरनेस्ट ए०, दि अमेरिकन क्रिमिनल : ऐन ऐन्थ्रापालोजिकल स्टडी (कैम्ब्रिज : 1939)।

हैरिस, रिचर्ड, दि फियर आफ क्राइम (न्यूयार्क : 1969)।

हैरिस, लुइस, दि स्टोरी आफ क्राइम (बोस्टन : 1929)।

हार्ट, एच० एल० ए०, पनिशमेण्ट ऐन्ड रेस्पान्सिबिलिटी (आक्सफोर्ड : 1968)।

हिल्स, स्टुअर्ट एल०, क्राइम, पावर ऐन्ड मोरैलिटी (स्ट्रैटन : 1971)।

होबेल, ई० एडमसन, दि ला आफ प्रिमिटिव मैन (कैम्ब्रिज : 1954)।

हान्डेरिक, टेड, पनिशमेण्ट : दि सपोज्ड जस्टिफिकेशन (लंदन : 1969)।

लेख

अलेकजैन्डर, जे० पी० — "दि फिलासफी आफ पनिशमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 13, जुलाई-अगस्त, 1922, पृ० 234–250।

अलेकजैण्डर, माईल ई० — "फेडरल जेल इन्सपेक्शन", प्रिजन जरनल, वाल्यूम 31, अक्टूबर, 1956, पृ० 7–9।

अलफ्रेड, सी० शूनर — "दि न्यू पेनालोजी : फैक्ट आर फिक्शन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 49, नवम्बर-दिसम्बर 1958, पृ० 331–334।

अन्डेनीस, जोहान्स — "जेनरल प्रिवेन्शन : इलूजन आर रियलिटी", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 43, जुलाई-अगस्त 1952, पृ० 406–413।

— — — "जेनरल प्रिवेन्टिव इफेक्ट्स आफ पनिशमेंट", युनिवर्सिटी आफ पेन्सिलवानिया ला रिव्यू, वाल्यूम 114, मई 1966, पृ० 949–983।

— — — "इज पनिशमेंट डिटर्स क्राइम", क्रिमिनल ला क्वार्टर्ली, वाल्यूम 11, नवम्बर, 1968, पृ० 76–93।

अलेन, राबर्ट एम० — "ए रिव्यू आफ पैरोल प्रिडिक्शन लिटरेचर", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 32, जनवरी-फरवरी 1942, पृ० 548–554।

अन्टूस, जार्ज ऐन्ड ए० ली हन्ट — "दि इम्पैक्ट आफ सरटेनटी ऐन्ड सिवियर्टी आफ पनिशमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 64, दिसम्बर 1973, पृ० 486-493।

आपेल, जेम्स बी० ऐन्ड नलि जे० पीटरसन — ह्वाट इज रांग पनिषमेंट, जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 64, दिसम्बर 1973, पृ० 486–493।

आपेल, जेम्स बी० ऐन्ड नील जे० पीटरसन — "ह्वाट इज रांग विद पनिशमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 56, दिसम्बर 1965, पृ० 450–453।

आबर्ट, बेल्हेम	"व्हाइट कालर क्राइम ऐन्ड सोशल स्ट्रक्चर, अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 58, नवम्बर 1952, पृ० 263–271।
ओडेल, चार्ल्स ई०	"जाब ऐडजस्टमेन्ट फार प्रोबेशनर्स ऐन्ड पैरोलीज' फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 15, जून 1951, पृ० 12–15।
ओहलिन, लायेड ई० ऐन्ड ओटिस डडले डन्कन	"दि एफिशियेन्सी आफ प्रिडिक्शन इन क्रिमिनालोजी", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 54, मार्च 1949, पृ० 441–452।
ओहलिन; लायड ई० ऐन्ड रिचर्ड ए० लारेन्स	"ए कम्पैरिजन आफ आल्टरनेटिव मेथड्स आफ पैरोल प्रिडिक्शन", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 17, जून 1952, पृ० 268–274।
ओहलिन, ल्वायेड ई० ऐन्ड हरमन पिवेन	"मेजर डायलेमाज आफ सोशल वर्कर इन प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल", नेशनल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल ऐसोसिएशन जरनल, वाल्यूम 2, जुलाई, 1956, पृ० 211–215।
इलियट, टी० डी०	"केसवर्क फन्क्शन्स ऐन्ड जुडीशियल फन्क्शन्स", नैशनल प्रोबेशन ऐसोसिएशन इयरबुक, 1937, पृ० 252–266।
केन्टर, नेथानियल	"दि सर्च फार काजेज आफ क्राइम", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 22, मार्च-अप्रैल 1932, पृ० 854–862।
क्लिनार्ड, मार्शल बी०	"रिसर्च फ्रन्टियर्स इन क्रिमिनालोजी", ब्रिटिश जरनल आफ डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 7, अक्टूबर, 1956, पृ० 110–122।
क्लार्क, इरिक के०	"ग्रुप थिरैपी इन रिहैबिलिटेशन", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 16, दिसम्बर, 1952, पृ० 28–32।
कार्टर, राबर्ट एम० ऐन्ड लेस्ली टी० विलकिन्स	"सम फैक्टर्स इन सनटेनसिंग पालिसी", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 58, दिसम्बर 1967, पृ० 503–514।
कूपर, एच० एच० ए०	"क्राइम कन्ट्रोल ऐन्ड डिफरेन्ट पर्सपेक्टिव," क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 11, अगस्त 1973, पृ० 161-182।

कोहेन, इरविंग ई०	"ट्वाइलाइट जोन्स इन प्रोबेशन," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 37, नवम्बर-दिसम्बर 1946, पृ० 291-296 ।
क्रेसी, डोनाल्ड आर०	"दि डिफरेन्शियल ऐसोसिएशन थ्योरी ऐन्ड कम्पलसिव क्राइम," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 45, मई-जून 1954, पृ० 29-40 ।
क्लेयर, ह्यू जे०	"रिफ्लेक्शन्स आन प्रिजन्स," दि हावर्ड जरनल, वाल्यूम 11, अप्रैल 1963, पृ० 113-118 ।
किर्चवे, जी० डब्ल्यू०	"क्राइम ऐन्ड पनिशमेंट," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 1, जनवरी-फरवरी 1911, पृ० 718-734 ।
किलिन्जर, जार्ज सी०	"पैरोल ऐन्ड अदर रिलीज प्रोसीजर्स," कन्टेम्पोररी करेक्शन, 1951, पृ० 361-379 ।
ग्रिग्स, हावर्ड बी० ऐन्ड गेरी आर० मैकून	"कम्युनिटी-बेस्ड करेक्शनल प्रोग्राम्स : ए सर्वे ऐन्ड अनैलिसिस," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 36, जून 1972, पृ० 7-13 ।
ग्रियर, आर्नल्ड डब्ल्यू०	"दि कानसेप्ट आफ रेस्पान्सिबिलिटी," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 33, जनवरी-फरवरी, 1943 पृ० 392–394 ।
गाल्टुंग, जोहान	"दि सोशल फन्क्शन्स आफ ए प्रिजन", सोशल प्राब्लेम्स, वाल्यूम 6, फाल 1958, पृ० 127–140 ।
गरावेदियन, पीटर जी०	"चैलेन्ज फार कान्टेमपोररी करेक्शन्स", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 33, मार्च 1969 पृ० 3–10 ।
गिब्स जैक पी०	"क्राइम, पनिशमेंट ऐन्ड डिटरेन्स", सोशल साइन्स क्वार्टर्ली, वाल्यूम 48, मार्च 1968, पृ० 515–530 ।
ग्लासर, डेनियल	"ए रिकन्सीडरेशन आफ सम पैरोल प्रिडिक्शन फैक्टर्स", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 19, जून 1954, पृ० 335–341 ।
गुडमैन, लिओ ए०	"जेनेरलाइजिंग दि प्राब्लेम्स आफ प्रिडिक्शन", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 17, अक्टूबर 1952, पृ० 609–612 ।

ग्रिनेल, फ्रैन्क डब्ल्यू०	"दि कामन ला हिस्ट्री आफ प्रोबेशन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 32, मई-जून, 1941, पृ० 15–34।
चैम्बलिस, विलियम जे०	"डिटरेन्ट इन्फलुयेन्स आफ पनिशमेंट", क्राइम ऐन्ड डेलिंक्वेन्सी, वाल्यूम 12, जनवरी 1966, पृ० 70–75।
चैपेल, रिचर्ड	"फेडरल प्रोबेशन सर्विस : इट्स ग्रोथ ऐन्ड प्रोग्रेस", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 11, दिसम्बर 1947, पृ० 29–34।
जेफरी, क्लारेन्स आर०	"पायनियर्स इन क्रिमिनालोजी : दि हिस्टारिकल डेवलपमेन्ट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी वाल्यूम 50, जून 1959, पृ० 3–19।
— — —	"क्रिमिनल बिहैवियर ऐन्ड लर्निंग थ्योरी," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 56, सितम्बर 1965, पृ० 294–300।
जेनकिन्स, आर० एल०	"दि कान्स्ट्रकटिव यूस आफ पनिशमेंट", मेन्टल हाइजीन, वाल्यूम 29, अक्टूबर 1945, पृ० 561–574।
तपन, पाल डब्ल्यू०	"हू इज दि क्रिमिनल", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 12, फरवरी 1947 पृ० 96–102।
टिमाशेफ, एन० एस०	"दि रिट्रीब्यूटिव स्ट्रक्चर आफ पनिशमेंट" जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 28, अक्टूबर 1937 पृ० 396–405।
टावी जैकसन	"इज पनिशमेन्ट नेसेसरी," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 55, सितम्बर 1964, पृ० 332–337।
टर्नब्ला, एफ०	"करेन्ट स्टेट आफ प्रोबेशन," कन्टेमपोररी करेक्शन 1951, पृ० 394–397।
टामस, पाल ए०	"मर्डर ऐन्ड दि डेथ पेनाल्टी," अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन, वाल्यूम 19, जुलाई 1957, पृ० 16–17।

डायना लीविस	"दि राइट्स आफ जुवेनाइल डेलिक्वेन्ट : ऐन अप्रेजल आफ जुवेनाइल कोर्ट प्रोसीजर्स," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 47, जनवरी-फरवरी 1957, पृ० 561–569 ।
डनहम, एच० वैरन	"दि जुवेनाइल कोर्ट : कन्ट्राडिक्टरी ओरियन्टेशन्स इन प्रोसेसिंग आफेन्डर्स," ला ऐन्ड कन्टेमपोररी प्राब्लेम्स, वाल्यूम 23, ग्रीष्म 1958, पृ० 508–527 ।
डयूशर, इरविन	"दि पेटी आफेन्डर," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 19, जून 1965, पृ० 12–18 ।
थ्रेशर, फ्रेडरिक एम०	"दि ब्वायेज क्लब ऐन्ड जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी," अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 42, जुलाई 1936, पृ० 66–80 ।
नार्थप डी०	"फेसिंग फैक्ट्स अबाउट रिसीडिविज्म," प्रोबेशन, वाल्यूम 20, सितम्बर 1942, पृ० 109–111 ।
नट, एलिस स्काट	"जुवेनाइल ऐन्ड डोमेस्टिक रिलेशन्स कोर्ट्स," सोशल वर्क इयर बुक, 1947, पृ० 270–276 ।
— — —	"दि रेस्पान्सिबिलिटी आफ दि जुवेनाइल कोर्ट ऐन्ड दि पब्लिक वेलफेयर एजेन्सी," नेशनल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल ऐसोसिएशन इयर बुक, 1947, पृ० 206-233 ।
पावर्स, सेन्फार	"दि सोशल सर्विसेज इन करेक्शनल इन्स्टिट्यूशन," अमेरिकन जरनल आफ करेक्शन्स, वाल्यूम 19, मार्च-अप्रैल 1957, पृ० 1–3 ।
पीपर, क्लाड	"प्रिजनर्स इन टरम्वायल," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 36, मार्च 1972, पृ० 3–9 ।
पीटरसन, वर्जिल डब्ल्यू०	"फैक्ट्स ऐन्ड फैन्टेसीज इन क्राइम प्रिवेन्शन," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 28, जनवरी-फरवरी 1948, 465–474 ।
पावर्स, एडविन	"ऐन एक्सपेरीमेन्ट इन प्रिवेन्सन आफ डेलिक्वेन्सी," ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकेडेमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, वाल्यूम 261, जनवरी 1949, पृ० 77–78 ।

फ्लाष, मारिस	"आर प्रिजन्स आउटडेटेट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 47, नवम्बर-दिसम्बर 1956, पृ० 440–450 ।
फ्रीमैन, एम० जे०	"चेन्जिंग कान्सेप्ट्स आफ क्राइम", जरनल आफ क्रिमिनल साइकोपैथालोजी, वाल्यूम 4, अक्टूबर 1942, पृ० 290–305 ।
फोरिस, ई०	"दि ओरिजिन आफ पनिशमेंट", इन्टरनैशनल जरनल आफ एथिक्स, वाल्यूम 25, अक्टूबर 1914, पृ० 54–67 ।
बर्जेस, ई० डब्ल्यू	"दि स्टडी आफ दि डेलिक्वेन्ट ऐज ए परसन" अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 28, मई 1923, पृ० 657–680 ।
बेट्स, सैनफोर्ड	"दि प्रिजन : असेट आर लाइबिलिटी", दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकेडेमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, वाल्यूम 29, 1975, पृ० 1 ।
बेनेट, जेम्स वी०	"करेक्शनल सोशल वर्क", सोशल वर्क इयरबुक, न्यूयार्क 1954, पृ० 198–200 ।
बोल्ड, जार्ज वी०	"इज दि प्रिजन रिफार्म", दि ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकेडेमी आफ पालिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, वाल्यूम 28।, नवम्बर 1952, पृ० 42–46।
ब्राउन, बैरी एस०	"दि केसवर्क रोल इन ए प्रिजन सेटिंग", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 58, जून 1967, पृ० 191–96 ।
हीली, विलियम सी० ऐन्ड रोनाल्ड डब्ल्यू० स्मिथ	"पनिशमेन्ट्स इट्स सिवियरिटी ऐन्ड सरटेन्टी," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 43, दिसम्बर 1972, पृ० 530–539 ।
—— —— ——	"क्राइम ऐन्ड डिटरेन्स : ए कोरिलेशनल अनैलिसिस," जरनल आफ रिसर्च इन क्राइम ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी, वाल्यूम 11, जुलाई 1974, पृ० 124–143 ।

बाल, जान० सी०	"दि डिटरेन्स कानसेप्ट इन क्रिमिनालोजी ऐन्ड ला," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 46, सितम्बर-अक्टूबर 1955, पृ० 347–354 ।
बेडायू, ह्यूगो ए०	"डिटरेन्स ऐन्ड दि डेथ पेनाल्टी", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 61, दिसम्बर 1970, पृ० 539–548 ।
बिटनर, ईगन ऐन्ड ऐन्थनी एम० प्लाट	"दि मीनिंग आफ पनिशमेंट", इशूज इन क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 2, स्प्रिंग 1966, पृ० 79–99 ।
बूकर, फ्रैन्क	"दि डिटरेन्ट इफेक्ट आफ पनिशमेंट", क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 9, फरवरी 1972, पृ० 469–490 ।
ब्लेक, मोरिलिन	"प्रोबेशन इज नाट केसवर्क", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 12, जून 1948, पृ० 54–57 ।
मारिस, अलबर्ट	"क्राइम काजेशन", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 7, जुलाई 1943, पृ० 17–20 ।
मारिस, नार्वल ऐन्ड गार्डन, हाकिन्स	"रिहैबिलिटेशन : रेटारिक आर रियलिटी", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 34, दिसम्बर 1970, पृ० 12–13 ।
मीड, जी० एच०	"दि साइकालोजी आफ प्यूनिटिव जस्टिस", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 23, मार्च 1968, पृ० 577–602 ।
मैककार्मिक, आस्टिन	"दि प्रिजन्स रोल इन क्राइम प्रिवेन्शन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 51, मार्च 1951, पृ० 43–44 ।
मैक्स, मे	"दि पब्लिक ऐन्ड प्रिजन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 32, जनवरी 1941, पृ० 35–41 ।
मारगोलिन, ए० डी०	"दि एलिमेन्ट आफ वेनजियेन्स इन पनिशमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 24, नवम्बर-दिसम्बर 1933, पृ० 755–767 ।

मारगोलिन, रूबेन जे०	"पोस्ट-इन्स्टिट्यूशन रिहैबिलिटेशन आफ दि पेनल आफेन्डर : ए कम्युनिटी एफर्ट", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 31, मार्च 1967, पृ० 46–49 ।
मैकडानल्ड, आर्थर	"डेथ पेनाल्टी ऐन्ड होमीसाइड", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 16, जुलाई 1910, पृ० 88–116 ।
मेलेचेरिक, जान	"एम्प्लायमेंट प्राब्लेम्स आफ फारमर आफेन्डर्स," नेशनल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल ऐसोसिएशन जरनल, वाल्यूम 2, जनवरी 1956, पृ० 43–50 ।
मेयर, चार्ल्स एच० जेड०	"ए हाफ सेन्चुरी आफ फेडरल प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 42, मार्च-अप्रैल 1952, पृ० 707–728 ।
मोरान, एफ० ए०	"दि ओरिजिन आफ पैरोल," नैशनल प्रोबेशन ऐसोसिएशन इयर बुक, 1945, पृ० 71-98 ।
मीकर, बेन	"प्रोबेशन इज केसवर्क," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 12, जून 1948, पृ० 54–57 ।
रीमर, सैन्ड	"थ्योरी ऐन्ड क्वान्टिटेटिव अनैलिसिस इन क्रिमिनालाजिकल रिसर्च," अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 28, सितम्बर 1942, पृ० 188–201 ।
रीनहार्ट, जेम्स एम०	"क्राइम इन ए डिसकारडेन्ट कल्चर," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 41, मई-जून 1950, पृ० 32–35 ।
रीस, अलबर्ट जे०	"डेलिक्वेन्सी ऐज दि फेल्योर आफ परसनल ऐन्ड सोशल कन्ट्रोल्स," अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 16, अप्रैल 1951, पृ० 196–207 ।
रसेल, ओसवाल्ड	"करेक्शनल ट्रीटमेन्ट," सोशल वर्क इयर बुक, न्यूयार्क : 1961, पृ० 34–39 ।
राबिन्सन, लुइस एन०	"दि पेरीनियल जेल प्राब्लेम्स," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 35, मार्च 1945, पृ० 369–374 ।

रीसमुसीन, डोनाल्ड	"प्रिजनर्स ओपीनियन्स अबाउट पैरोल," अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 5, अगस्त 1940, पृ० 592–594।
रोज, आर्नल्ड ऐन्ड आर्थर ई० प्रेल	"डज दि पनिशमेन्ट फिट दि क्राइम : ए स्टडी इन सोशल वैलुएशन," अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 61, नवम्बर 1955, पृ० 247–259।
रूबीन, सोल	"दि इनडिटरमिनेट सेन्टेन्स सकसेस आर फेल्योर", फोकस, वाल्यूम 28, मार्च 1949, पृ० 47–52।
— — —	"दि लीगल कैरेक्टर आफ जुवेनाइल डेलिक्वेन्सी," ऐनल्स आफ दि अमेरिकन अकेडेमी आफ पोलिटिकल ऐन्ड सोशल साइन्स, वाल्यूम 261, जनवरी 1949, पृ० 1–8।
— — —	"प्रोटेक्टिंग दि चाइल्ड इन जुवेनाइल कोर्ट," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 40, नवम्बर-दिसम्बर 1952, पृ० 425–440।
रूबीन, सैमुएल	"क्रिमिनल जस्टिस ऐन्ड दि पुअर", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 22, जनवरी, 1932 पृ० 705–715।
लेन, राबर्ट ई०	"ह्वाई बिजिनेसमेन वायलेट ला", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइंस, वाल्यूम 44, जुलाई-अगस्त 1953, पृ० 151-165।
लिन्डस्मिथ, ए० आर० ऐन्ड एच० डब्ल्यू० डनहम	"सम प्रिन्सिपल्स आफ क्रिमिनल टाइपालोजी", सोशल फोर्सेज, वाल्यूम 19, मार्च 1941, पृ० 307–314।
लिन्डस्मिथ, ए० आर० ऐन्ड येल लीविन	"दि लाम्ब्रोसियन मिथ इन क्रिमिनालोजी", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 42, मार्च 1937, पृ० 653–671।
लेफर, रेबी विलियम जे०	"आन बीइंग ह्यूमन इन दि प्रिजन कम्युनिटी", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 32, जून 1968, पृ० 30–33।

लूकास, ई० जे०	"क्राइम प्रिवेन्शन : टु प्रिवेन्ट्स व्हाट", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 12, जून 1948, पृ० 19–23।
—— —— ——	"क्राइम प्रिवेन्शन : ए कनफ्यूजन इन गोल" कन्टेम-पोररी करेक्शन, 1951, पृ० 397–409।
लिन्डसे, ई०	"ए हिस्टारिकल स्केच आफ दि इनडिटरमिनेट सेन्टेन्स ऐन्ड पैरोल", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 160, मई-जून 1925, पृ० 534–542।
वान्डेन हैग, अरनेस्ट	"आन डिटरेन्स ऐन्ड दि डेथ पेनाल्टी", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 60, जून 1969, पृ० 141-147।
वार्ड, पाल	"कैरियर्स इन क्राइम", जरनल आफ रिसर्च इन क्राइम ऐन्ड डेलिक्वेन्सी, वाल्यूम 7, जुलाई 1970, पृ० 207–218।
वालर्सटीन, जे० एस० ऐन्ड वाइल, सी० जे०	"अवर ला-अबाईडिंग ला-ब्रेकर्स", प्रोबेशन, वाल्यूम 25, मार्च-अप्रैल 1947, पृ० 107–112।
विलबर; जी० एल०	"दि साइन्टिफिक ऐडिक्वेसी आफ क्रिमिनालोजिकल कान्सेप्ट्स", सोशल फोर्सेज, वाल्यूम 28, दिसम्बर 1949, पृ० 165–174।
विल्सन, जान० एम० ऐन्ड जान डी० स्नोग्रेस	"दि प्रिजनर कोड इन ए थिरैप्यूटिक कम्युनिटी", जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 60, दिसम्बर 1969, पृ० 473–481।
विलकिन्स, लेस्ली टी०	"दि मेजरमेन्ट आफ क्राइम", ब्रिटिश जरनल आफ क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 3, अप्रैल 1963, पृ० 321–341।
विर्थ, लुइस	"कल्चर कानफ्लिक्ट्स ऐन्ड डेलिन्क्वेन्सी", सोशल फोर्सेज, वाल्यूम 9, जून 1931, पृ० 484–492।
वीक्स, एच० ए०	"मेल ऐन्ड फीमेल ब्रोकेन होम्स ऐन्ड टाइप्स आफ डेलिन्क्वेन्सी", अमेरिकन सोशियालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 5, अगस्त 1940, पृ० 601–609।

वोल्ड, जार्ज बी०	"दि एमाउण्ट ऐन्ड नेचर आफ क्राइम ड्यूरिंग डिप्रेशन", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 40, मई 1935, पृ० 796–823 ।
वुड, लेजर	"रेस्पान्सिबिलिटी ऐन्ड पनिशमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 28, जनवरी 1938, पृ० 630–640 ।
ह्वाइट, आर० क्लाइड	"सेनटेर्नसिंग ऐन्ड दि ट्रीटमेन्ट आफ दि क्रिमिनल", सोशल सर्विस रिव्यू, वाल्यूम 11, जून 1937, पृ० 234–246 ।
शैलू, जे० पी०	ट्रेन्ड्स इन क्रिमिनालोजिकल रिसर्च", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 6, अक्टूबर 1942, पृ० 21–34 ।
शुलमन, हेरी एम०	"ह्वाट इज रांग विद अमेरिकन प्रिजन्स ऐन्ड जेल्स," जरनल आफ क्रिमिनल ला, क्रिमिनालोजी ऐन्ड पुलिस साइन्स, वाल्यूम 45, अप्रैल 1955, पृ० 662-668 ।
शाह, सलीम ए०	"चेन्जिंग एट्टीट्यूड ऐन्ड विहेवियर आफ दि आफेन्डर," फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 27, मार्च 1963, पृ० 20–26 ।
शूलर, अल्फ्रेड सी०	"प्रिजन कन्डक्ट ऐन्ड रिसीडिविज्म," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 40, मई-जून 1949, पृ० 36–42 ।
— — —	"प्रेडिक्शन इन प्रोबेशन ऐन्ड पैरोल," प्रोसीडिंग्स आफ दि अमेरिकन प्रिजन ऐसोसियेशन, 1958, पृ० 271–279 ।
शुशलर, कार्ल एम०	"पैरोल प्रेडिक्शन : इट्स हिस्ट्री ऐन्ड स्टेट," जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 45, नवम्बर-दिसम्बर 1954, पृ० 425–431 ।
सदरलैण्ड, एडविन एच०	"इज ह्वाइट कालर क्राइम ए क्राइम," अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 10, अप्रैल 1945, पृ० 132–139 ।

सेलिन, थार्सटेन — "क्राइम," अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 47, मई 1942, पृ० 498–906।

स्टर्न, लिवोन टी० — "जेल : येस्टरडे ऐन्ड टुडे", प्रिजन जरनल, वाल्यूम 25, जुलाई 1945, पृ० 88–89।

हकीम, माइकेल — "प्रेडिक्शन आफ क्रिमिनैलिटी", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 9, जुलाई 1945, पृ० 87–97।

हरमन, स्टेफीन एम० — "स्कोप ऐन्ड परपजेज आफ जुवेनाइल कोर्ट जुरिसडिक्शन", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 48, मार्च-अप्रैल 1958, पृ० 590–607।

हार्टुंग, फ्रैन्क ई० — "ह्वाइट कालर आफेन्सेज इन दि होलसेल मीट इन्डस्ट्री इन डिट्रोयट", अमेरिकन जरनल आफ सोश्यालोजी, वाल्यूम 56, जुलाई 1960, पृ० 25–34।

हाकिन्स, ई० आर० ऐन्ड डब्ल्यू० वालर — "दि कास्ट आफ क्राइम", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 26, जनवरी-फरवरी 1936, पृ० 679–094।

हार्टुन्ग, फ्रैन्क ई० — "ह्वाइट कालर क्राइम : इट्स सिगनिफिकैन्स फार थ्योरी ऐन्ड प्रैक्टिस", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 17, जून 1953, पृ० 31–36।

— — — "मेथडालाजिकल अजम्प्शन इन ए सोशल साइकोलाजिकल थ्योरी आफ क्रिमिनैलिटी", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 45, अप्रैल 1925, पृ० 652–661।

— — — "क्रिटीक आफ दि सोश्यालोजिकल ऐप्रोच टु क्राइम ऐन्ड करेक्शन", ला ऐन्ड कन्टेमपोररी प्राब्लेम्स, वाल्यूम 23, आटम 1958, पृ० 703–734।

हेन्टिग, हैन्स वान — "दि लिमिट्स आफ पेनल ट्रीटमेंट", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 33, 1941 पृ० 401–402।

हैमर, नारमन एस० ऐन्ड इलिश ऐश	"दि प्रिजनर कम्युनिटी ऐज ए सोशल ग्रुप", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 4, जून 1939, पृ० 362–369।
— — —	"दि प्रिजन ऐज ए कम्युनिटी", अमेरिकन सोश्यालोजिकल रिव्यू, वाल्यूम 6, अगस्त 1940, पृ० 577–583।
होवे, एच० बी०	"बिहेवियर कैरेक्टरिसटिक्स आफ ऐन्टी-सोशल रिसीडिविस्ट्स", जरनल आफ क्रिमिनल ला ऐन्ड क्रिमिनालोजी, वाल्यूम 32, मार्च-अप्रैल 1942, पृ० 636–642।
हीली, विलियम	"थाट्स अबाउट जुवेनाइल कोर्ट्स", फेडरल प्रोबेशन, वाल्यूम 13, सितम्बर 1949, पृ० 16–19।

